गोस्वामि-श्रीपुरुषोत्तम-ग्रन्थमालायां चतुर्थं प्रसूनं

अवतारवादावली

(द्वितीयो भागः)

(वादाः : ४-९)

प्रकाशक : श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेश्वरप्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट.
वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी
पुना-बेंगलोर रोड़, कोल्हापुर.
महाराष्ट्र.४१६ ००८.

सम्पादक : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथमसंस्करण : वि.सं.१९७६=ई.स.१९२०.

द्वितीयसंस्करण : वि.सं.२०६०=ई.स.२००४.

प्रति : ५००

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक : शैलेश प्रिन्टर्स्,
१४,चुनावाला इन्डस्ट्रिअल् एस्टेट्,
कोंडीविटा, अंधेरी(पूर्व),
मुंबई ४०० ०५९.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

सम्पादकीय

[१]श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुके वंशमें [२]श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण [३]श्रीबालकृष्णजी [४]श्रीपीताम्बरजी [५]श्रीयदुपतिजी [६]श्रीपीताम्बरजी और [७]श्रीपुरुषोत्तमजी, प्रस्तुत *अवतारवादावली* ग्रन्थके कर्ताका जन्म वि.सं.१७१४ या श्रीवल्लभ-वंशवृक्ष(३/२गृह : सूरत.पृ.१५) के अनुसार वि.सं.१७२४ भाद्रपदशुक्ला एकादशीके दिन हुवा. जन्मके समय परिवार मथुराके निकट गोकुलग्राममें निवास करता था किन्तु बादमें [५]श्रीयदुपतिजीके ज्येष्ठभ्राता [५]श्रीश्यामलजीके पुत्र [६]श्रीव्रजरायजीने इन्हें अपना धर्मपुत्र बना कर दस वर्षकी आयुमें सुरत बुला लिया. विक्रम संवत् १७८१ में ६७ वर्षकी वयमें, अपने दो पुत्र तथा एक पुत्री के अपनी विद्यमानतामें न रह जानेके कारण, अपने समाननामा चचेरे भाईको अपना उत्तराधिकारी बना कर ये पुनः अपने जन्मस्थल गोकुल लौट आये.

प्रस्तुत *'अवतारवादावली'* ग्रन्थमें 'अवतार' विशेषण प्रस्तुत वादावलीके विचार्य-विषयके निर्देशार्थ न हो कर भागवतोक्त भगवदवतारोंकी २४ संख्याके अनुरूप इन वादोंकी भी संख्या २४ होनेका द्योतक है.

श्रीप्रभाचन्द्रका न्यायकुमुदचन्द्रोदय, श्रीचित्सुखमुनिकी तत्त्वप्रदीपिका, श्रीअप्पयदीक्षितकी वादनक्षत्रमाला, श्रीगदाधर भट्टाचार्यकी वादवारिधि, श्रीजयतीर्थमुनिकी वादावली या श्रीवेदान्तदेशिककी शतदूषणी आदि अनेक प्रकारकी वादावलियां विविधनाम्ना भारतीय दर्शनके विभिन्न सम्प्रदायोंमें उपलब्ध होती ही हैं. इसी तरह महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यप्रवर्तित शुद्धाद्वैतवादमूलक पुष्टिभक्तिसम्प्रदायमें भी आचार्यचरणात्मज गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणद्वारा

प्रणीत *विद्वन्मण्डन* के बाद प्रस्तुत *अवतारवादावली* भी एक अतीव महत्त्वपूर्ण कृति है.

गौतमसूत्र "प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः...पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहो वादः" (गौत.न्या.सू.२।१) के अनुसार वादका स्वरूप ही प्रतिपक्षनिराकरणपूर्वक स्वपक्षस्थापन निश्चित होता है. फिरभी किन्हीं-किन्हीं वादग्रन्थोंमें प्रतिपक्षनिराकरणको प्रमुख प्रयोजन बना लिया जाता है. इसी तरह स्वपक्षस्थापनको ही प्रमुख प्रयोजन बना कर लिखे गये वादग्रन्थ भी उपलव्ध होते ही हैं. प्रस्तुत अवतारवादावलीमें तो स्वपक्षस्थापनापर ही अधिक भार प्रतीत होता है. पूर्वपक्षनिरसन भी आनुषंगिकतया साग्रह किया गया है, वह दूसरी कथा है. विवादास्पद विचार्य-विषयोंका संकलन ग्रन्थकारने प्रमुखतया स्वमतके दुर्गको सुदृढ़ बनानेके हेतु ही किया है. साथ ही साथ प्रतिपक्षिओंके आक्षेपोंकी सम्भावित दिशाओंमेंसे होनेवाले आक्रमणके प्रतिकारके हेतु उस सिद्धान्तदुर्गके चारों ओर २४ बुर्जोंके जैसे २४ वादोंका निर्माण किया है. अतएव किसी भी एक मतवादको अपना प्रमुख प्रतिपक्षी बनाना यहां ग्रन्थकारका उद्देश्य नहीं है. अतः इन चौबीस विवादास्पद विषयोंके संकलनमें ग्रन्थकार श्रीपुरुषोत्तमचरणकी सिद्धान्तदुर्गको सुदृढ बनानेकी ही दृष्टि काम करती सी लगती है. क्योंकि जहां-कहीं भी महाप्रभुके ग्रन्थोंमें कण्ठोक्त या अर्थापत्तिलव्ध कोई भी विषय पूर्वोत्तरपक्षविधिसे विचारणीय लगा कि ग्रन्थकारने अतीव सावधानीपूर्वक उस विषयके बारेमें संशय पूर्वपक्षके साधक-बाधक तर्क-प्रमाणोंकी आलोचना करते हुवे स्वपक्षको मण्डित करनेका एक विलक्षण अनुष्ठान यहां अपनी इस कृतिमें सम्पन्न करना चाहा है.

प्रस्तुत सम्पादक-लेखकके पूर्वज चोपासनी-जोधपुरके वास्तव्य गोस्वामी श्रीविट्ठलरायजी, जो ग्रन्थकारके प्रिय अन्तेवासी थे, उनकी जिज्ञासुता तथा अध्ययनशीलता पर प्रसन्न हो कर इन वादोंमेंसे प्रथम वादपर

तो ग्रन्थकारने स्वोपज्ञ व्याख्या भी लिखी है. जैसा कि ग्रन्थकार उसके उपसंहारमें कहते हैं "अध्ययनबोधशीलनसन्तुष्टः प्रश्नयन्त्रितः कृतवान् एतां प्रहस्तटीकां विट्ठलरायप्रमोदाय" अवशिष्ट किन्तु तेवीस वादोंपर व्याख्यालेखन हो नहीं पाया. कुछ तो अखण्डित रूपमें भी अब मिलते नहीं हैं. ऐसे ही एक-दो वादोंको मैंने यथामति पूर्ण करनेका प्रयास किया है. जो आगामी प्रकाशनोंमें संकलित किये जायेंगे. इस खण्डमें तो केवल चतुर्थ वादसे लेकर नवम वाद पर्यन्तका ही प्रकाशन हो रहा है. आरम्भके तीन तथा अन्य अवशिष्ट वादोंका भी प्रकाशन प्रभुकृपा होनेपर भविष्यमें हो ही जायेगा!

इस खण्डमें प्रकाशित होने जा रहे वादग्रन्थोंके विचार्य-विषयोंका संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना भी यहां उपकारक होनेसे तत्तद् वादान्तर्गत विषय-संशय तथा पूर्वोत्तरपक्षों की संग्रहकारिकाओंका सारानुवाद प्रस्तुत कर देना यहां अप्रासंगिक नहीं होगा.

तदनुसार —

४. *भेदाभेदस्वरूपनिर्णयवाद* :

अवतारवादावलीके अन्तर्गत चतुर्थ *भेदाभेदाभेदस्वरूपनिर्णयवाद*में प्रमुखतया इस विषयकी चर्चा उठाई गई है कि सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके सदंशका नामरूपकर्मात्मक विस्तार यह सारा आधिभौतिक बाह्य प्रपञ्च है. अतः ब्रह्म और जगत् के बीच उपादानोपादेयभावात्मक तादात्म्य रहता है. इस भेदसहिष्णु-अभेदरूप तादात्म्यके स्वरूपघटक भेदको न तो आत्यन्तिक भेदरूप और न अभेदको आत्यन्तिक अभेदरूप ही माना जा सकता है.

इसी तरह देश-काल-स्वरूपतो अपरिच्छिन्न ब्रह्मकी चिदंशरूप होनेसे सारी अणुपरिमाण जीवात्माओंका भी अपने अंशीके साथ ऐसा ही तादात्म्य है, न आत्यन्तिक भेद और न आत्यन्तिक अभेद ही.

बन्धनपूर्वकालिक, बन्धनकालिक; तथा, बन्धननिवृत्त्युत्तर मुक्तिकालिक यों तीनों ही कालोंमें जीवात्माका यह ब्रह्मतादात्म्य अबाधित रहता है. अतएव ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मसायुज्य दोनोंमें ही जीवात्माकी अंशता अक्षुण्ण भी रह सकती है. संक्षेपमें ब्रह्मांश कभी अब्रह्मात्मक हो नहीं सकता. अंशीके द्वारा नियत अधिकारानुरूप उसे अपनी नियतकर्मोंकी कर्तृताके वश मिलती अपने कर्मोंद्वारा अभीष्ट कर्ममार्गीय फलानुभूतिमें अथवा ज्ञानमार्गीय ब्रह्मैक्यानुभूतिमें अथवा भजनीयस्वरूपके भजनानन्दकी भक्तिमार्गीय तादात्म्यानुभूतिमें भी अंशिनियम्यता अबाधित ही रहती है. अतः ब्रह्मात्मैक्य रहनेपर भी शुद्धाद्वैतावलम्बिनी प्रक्रियामें अभेद भेदसहिष्णु ही होता है. इस ऐक्यको सदसदनिर्वचनीय भेदके बाधाधिष्ठानरूप ऐक्यसे विलक्षण प्रकारका समझना चाहिये. क्योंकि ब्रह्मको श्रुतिमें ''एकमेव अद्वितीयं सत्'' कहा गया है; अतः, कोई भी सद्वस्तु अपने सच्चिदानन्दरूप अंशी ब्रह्मसे बहिर्भूत या उससे पृथक् वेदान्तमें मान्य नहीं हो सकती. अतएव जड़-जीवका जो ब्रह्मके साथ तादात्म्य है, उसके घटक भेदको स्वाभाविक या आत्यन्तिक माना नहीं जा सकता है. अतः जड़ और ब्रह्म के बीच रहे कार्यकारणभावकी अविकृतपरिणामवादाश्रित प्रक्रिया स्वीकारी गयी है. इसी तरह जीवात्मा और परमात्मा के बीच, अंश्यन्तर्भूत अंशोंकी अंश्यात्मकता, अंशीकी विरुद्धधर्माश्रयताके आधारपर स्वीकारी गयी है.

निष्कर्षतः श्रुति स्मृति सूत्र या पुराणोंमें जहां भी भेदकी निन्दा या उसकी अवास्तविकता निरूपित हुई है, उसे स्वाभाविक या आत्यन्तिक भेदकी निन्दाके तात्पर्यवश की गई निन्दाके रूपमें ही स्वीकारना चाहिये. जड़रूपगत नाम-रूप-कर्मोंके जन्यजनकभावघटित भेद तथा जीवात्माओंके दैवासुरसम्पदादिरूपगत भेद भी उस ब्रह्मके सर्वभवनसामर्थ्य तथा अप्रतिहतसंकल्पसामर्थ्यके वश प्रकट हुवे ऐच्छिक भेद हैं, स्वाभाविक या आत्यन्तिक नहीं. संक्षेपमें यही भेदाभेदस्वरूपनिर्णयवादका प्रतिपाद्यविषय है.

५. *सृष्टिभेदवाद* :

इस पांचवें *सृष्टिभेदवाद*में उस एकमेव अद्वितीय ब्रह्मकी बहुभवनेच्छाके अनुरूप उसमें अनेकविध नाम रूप तथा लीला प्रकट होती हैं, यह सिद्ध करना अभीष्ट है. अपनी सच्चिदानन्दतामेंसे किसी भी सदंश चिदंश या आनन्दांश के तिरोधान किये बिना कोई नाम रूप या कर्म प्रकट होता है तो वह नाम, वह रूप; तथा, वह कर्म भी आधिदैविक माना जाता है. इन्हें अपने सत्यसंकल्प होनेके सामर्थ्यवश जब जहां जिसके समक्ष या जिसके भीतर वह प्रकट करना चाहता है तो प्रकट करता है. अन्यथा ये अप्रकट ही रहते हैं. इनमें देशकृत कालकृत या स्वरूपकृत मर्यादा या परिच्छेद नहीं होता. जब आनन्दांशको तिरोहित करके केवल चिदंशात्मना वह प्रकट होता है तब ऐसे अंशोंमें कालकृत परिच्छेद नहीं रहनेपर भी देशकृत परिच्छेद आ जाता है. अतएव इन चिदंशोंका सदंशोंमें गमापगम सम्भव हो जाता है. इस गमापगमको उत्पत्ति-नाश नहीं समझना चाहिये. सभी जीवात्माओंका स्वरूप ऐसा ही माना गया है. जिनमें परन्तु चिदंशका भी तिरोधान हो जाता है, उनमें देश-काल-स्वरूपकृत त्रिविध परिच्छिन्नता प्रकट होती है. इन अंशोंमें षड्विध भावविकार जनन देशकालावच्छिन्न विद्यमानता उपचय वृद्धि अपचय और नाश की जो प्रतीति होती है वह ब्रह्मकी आविर्भाव-तिरोभावशक्तियोंके द्वारा ही सम्पन्न होती है. ब्रह्म कुछ नाम-रूप-कर्म ऐसे भी दिखला सकता है कि जिनमें, अपने सत् चित् या आनन्द, किसी भी अंशसे वह अन्वित न भी हो. ऐसे नाम रूप या कर्म सदधिष्ठानक होनेपर सद्वत् भासित होते हैं. चिदधिष्ठानक होनेपर चिद्वत् भासित होते हैं. और आनन्दाधिष्ठानक होनेपर उनमें आनन्दका आभास प्रकट होता है.

अपने इस नाम-रूप-कर्मात्मना व्याकरणमें न तो सर्वव्यापि ब्रह्मसे बाह्य कोई वस्तु ब्रह्मके भीतर आगन्तुकतया प्रकट होती है और न वह इतना असमर्थ ही है कि किसी उपाधिसे उपहित हो कर

उसे अपने स्वभावसे विपरीत कुछ करनेको उसे बाधित होना पड़ता हो. अतः उत्पद्यमान नाम रूप या कर्मो का ब्रह्ममें न तो प्रागभाव मान्य होता है न त्रैकालिक अत्यन्ताभाव और न तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रति-योगिताक अन्योन्याभाव ही. अतएव परमाणु जैसे किसी कारणीभूत तत्त्वसे सृष्टिकी उत्पत्ति माननेपर, उन परमाणुओंके रूपमें परमात्माको ही स्वीकार लेना यहां उचित माना गया है. क्योंकि असत् तो उत्पन्न हो नहीं सकता और सत्का एकमेवाद्वितीय होना कहा गया है. अतः निरुपाधिकतया अ-सदात्मक तो यहां कुछ भी हो नहीं सकता है, ब्रह्मोपादानक या ब्रह्मांशरूप ही होनेसे. त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी उसी ब्रह्मकी सदंशपरिणामरूपा होती है. अतः प्रकृतिपुरुषके आत्यन्तिक द्वैतपर अवलम्बित होनेवाली प्राकृतसृष्टिकी प्रक्रिया भी ब्रह्मवादमें मान्य नहीं. अतएव नाश्य होनेसे या जड़ होनेसे जगत्को सदसद्विलक्षण मायोपादानक मानना भी यहां सर्वथा अनभिप्रेत है. क्योंकि मायाका अस्तित्व यदि सम्भव है तो वह उसकी स्वरूपान्तर्भूत शक्तिके रूपमें ही. उसके स्वरूपसे बाह्य किसी मिथ्या उपाधिके रूपमें नहीं. अतएव अविद्या या व्यामोहिका माया भी भगवान्की अनेकविध शक्तिओंमें अन्यतम शक्ति होनेसे तदवभासित नामरूपकर्मोके आभासमें भी ब्रह्माधिष्ठानकता तो अपरिहार्य ही होती है.

६. *आविर्भावतिरोभाववाद* :

इस छठे *आविर्भावतिरोभाववाद*में यह प्रतिपादनीय है कि जो भी कुछ उत्पन्न या अनुभूत होता है वह उस अपरिमेय ब्रह्म तत्त्वकी अनन्तशक्तिओंके अन्तर्गत आविर्भावशक्तिके कारण शक्य होता है. इसी तरह जो कुछ सदात्मक होनेपर भी उत्पन्न नहीं हो पाता या नष्ट हो जाता अनुभूत होता है; अथवा, जो अनुभूतिगोचर ही नहीं हो पाता हो, ऐसा सभी कुछ उस ब्रह्मकी तिरोभावशक्तिके कारण शक्य होता है.

इन दोनोंमें किस शक्तिका कब कहां किसके समक्ष या किसके

भीतर प्रयोग करना या न करना, यह सब कुछ ब्रह्मकी इच्छाके आधीन ही होता है. अतः धर्माधर्मकी सिद्धिका प्रश्न हो या अन्य, जो कुछ होता है, वह सभी उसकी इच्छाके आधीन ही. अतएव जो हो ही नहीं, वह तो उत्पन्न भी हो नहीं सकता. क्योंकि उत्पन्न होना यदि कोई धर्मभूत क्रिया या प्रक्रिया हो तो उसका आधारभूत पूर्वसिद्ध धर्मी, उस एकमेवाद्वितीय सत्के अलावा कुछ हो नहीं सकता. अतएव "घड़ा नष्ट हो गया" ऐसे व्यवहारको भी सिद्ध करना हो तो उस नाशक्रिया या नाशकी प्रक्रिया का आधारभूत सनातन सद्धर्मी अपेक्षित होता ही है. यों उत्पत्ति-नाशकी प्रक्रियाका आधारभूत धर्मी उस एकमेवाद्वितीय ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न तो हो नहीं सकता अन्यथा द्वैतापत्ति होगी. अतः जो उत्पन्न हो रहा है या जो नष्ट हो रहा है, वह सभी कुछ ब्रह्मात्मक ही होता है.

यही बात "यह सभी कुछ पुरुष ही है"-"वही तो यह सारा जगत् है"-"यह सभी कुछ यह आत्मा ही है" जैसे सुस्पष्ट श्रुतिवचनोंमें उपलब्ध होती है. अतएव "वही है जो पहले कुछ था. और वही है जो कुछ भविष्यमें होगा" ऐसे श्रुतिवचनोंके आधारपर भी यही सिद्ध होता है. जो कभी हो और कभी न हो, उसे होने या न होनेसे अन्तर पड़ता है. जो, परन्तु, सर्वत्र सर्वदा और सर्वरूप हो, उसे कहीं-कभी-किसी रूपमें होने या न होनेसे कोई अन्तर नहीं पड़ता! अतः जो कुछ कार्यरूप होता है उसके कारणरूपके भीतर कार्यात्मना प्रकट होनेकी शक्ति तो पूर्वसिद्ध रहती ही है. अतः उस शक्तिके वश कुछ बाहर प्रकट हो जाना कोई असम्भव बात नहीं होती. जिसका जब जहां और जैसे आविर्भाव या तिरोभाव होता है, वह सब अपने मूल कारणरूपके ही भीतर रहा होता है.

अतएव व्याकरणके अनुसार भी 'जनन' नामिका क्रियाको प्रादुर्भावके

अर्थमें तथा 'नाश' नामिका क्रियाको अदर्शनके अर्थमें ही स्वीकारा गया है. एतावता सिद्ध होता है कि "देश-कालमें मर्यादित नाम-रूप-कर्मोंका जनन-नाश होता है" ऐसा कहनेमें कोई अपसिद्धान्त या विसंगति नहीं है. जो देशमें परिच्छिन्न हो परन्तु कालके परिच्छेदसे मर्यादित न हो उसका गमापगम होता है उत्पत्ति-नाश नहीं. परन्तु देश-काल-स्वरूपके त्रिविध परिच्छेदसे जो रहित हो, उसका तो कहीं कभी किसीके समक्ष या किसीके भीतर प्राकट्य या अप्राकट्य ही होता है.

यों आविर्भाव-तिरोभावके स्थूल तीन प्रकार होते हैं. सूक्ष्म तो ब्रह्मके अचिन्त्य सामर्थ्यवश असंख्य हो सकते हैं, जिन्हें सोचा-समझा ही नहीं जा सकता.

७. <u>ख्यातिवाद</u> :

इस सातवें *ख्यातिवाद*में प्रतिपाद्य विषय यह है कि जिन नाम रूप या कर्मों के भीतर सच्चिदानन्द ब्रह्मका स्वरूपेण आंशिक अन्वय भी न हो, उन्हें उसकी व्यामोहिका मायाके द्वारा केवल बुद्धिमें उत्पादित; तथा, बाह्यार्थतया भ्रमबुद्ध्येकगोचर बनाया मानना चाहिए. यद्यपि बुद्धिमें तो वे वस्तुतः उत्पन्न हुवे ही होते हैं परन्तु जब बौद्धवस्तुतया भान न हो कर बुद्धिसे बाह्यार्थतया उनका जो भान होता है, उस रूपमें वहां ब्रह्मका न सदंश, न चिदंश और न आनन्दांश ही अन्वित होता है. अर्थात् उनकी असत्ता औपाधिकी तथा सत्ता ब्रह्मशक्तिभास्या मायिकी होती है.

आधिभौतिक लोकव्यवहारमें ऐसी भ्रमात्मिका बुद्धि जिस सद्वस्तुको भ्रमाधिष्ठान बना कर प्रकट होती है, उस सद्वस्तुके साक्षात्कारसे वह भ्रान्ति निवृत्त हो पाती है. आध्यात्मिक या आधिदैविक व्यवहारमें, किन्तु, उस परमतत्त्व जनार्दनरूप ब्रह्मके यथार्थज्ञानसे ही ऐसी भ्रान्तियां निवृत्त हो पाती हैं. उस यथार्थज्ञानके परोक्ष होनेपर परोक्ष भ्रमाभिमति

निवृत्त होती है परन्तु अपरोक्षप्रतीति नहीं. इसी तरह यथार्थज्ञानके अपरोक्ष होनेपर न केवल परोक्ष भ्रमाभिमति प्रत्युत भ्रमापरोक्षप्रतीति भी निवृत्त हो जाती है.

अतएव ऐसी भ्रमात्मिका प्रतीतिओंको बाह्य सद्वस्तुविषयिका 'अन्यथाख्याति' माननेपर तो अन्यथाके बजाय यथार्थख्याति कहना अधिक उपपन्न होगा. इसी तरह बाह्यार्थके परोक्ष होनेपर भी उसकी परोक्षताका अनुसन्धान प्रमुषित हो गया माननेपर तो, अर्थात् भ्रान्तिज्ञानको ग्रहणस्मरणात्मक दो पृथक्-पृथक् ज्ञानोंकी एकराशि माननेपर, भ्रान्तिनिवृत्तिके बाद अधिष्ठानग्रहण तथा आरोप्यस्मरण का अनुव्यवसाय अवश्य होना चाहिए. ज्ञानके दो प्रभेदोंमें एकज्ञान होनेकी बात भी विरुद्ध लगती है. इसी तरह आरोप्य रजतके संस्कारवश रजतभ्रान्ति शक्य होनेपर व्यर्थमें सदसद्विलक्षण रजतकी उत्पत्ति वहां स्वीकारना भी अनावश्यक ही लगता है. यों जब सदसद्विलक्षण आरोप्य हो नहीं सकता तो सर्वथा असद्वस्तुके आरोपकी कथा तो दूरापास्त ही माननी पड़ेगी. किञ्च असत्का आभास यदि स्वीकारते हों तो वह सर्वदा ही होना चाहिए कभी-कभाक नहीं. अतएव जो वस्तुका स्वरूप ही सदसदात्मक मानते हों उनके मतमें भी सर्वत्र सर्वदा भ्रान्ति नियततया होनी चाहिए. अतएव अभिनवान्यथाख्याति, जो असत्ख्यातिका ही प्रकार है उसे भी भ्रान्तिकी समुचित व्याख्याके रूपमें मान्य नहीं किया जा सकता. बुद्धि और आत्मा दोनों ही पृथक्-पृथक पदार्थ हैं अतः जो बुद्धिघटित हो उसे आत्मघटित कैसे माना जा सकता है?

अतः इन्द्रियग्राह्य सद्वस्तुके सामान्यज्ञानके बाद भगवन्मायाद्वारा बुद्धिस्थ संस्कार आदिके सहकारवश गृहीत सद्वस्तुसे भिन्न बुद्धिमें उत्पादित मायिकाकारका बाह्यार्थतया प्रतीत होना ही भ्रान्तिके सच्चे स्वरूपका 'अन्यख्याति' नाम्ना निर्देश किया जाता है.

८. *प्रतिबिम्बवाद* :

इस आठवें *प्रतिबिम्बवाद*में अन्यख्यातिभास्य प्रतिबिम्बके वास्तविक स्वरूपका विमर्श अभिप्रेत है. प्रतिबिम्बके बारेमें प्रमुखतया विचार्य यही है कि उसे दर्पणादि उपाधिमें आविर्भूत न होनेवाले बिम्बका ही भास केवल स्वीकारना या बिम्बसे भिन्न किसी पदार्थकी अन्यख्याति स्वीकारनी? यह पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि अपने मूलरूपमें तो ब्रह्म सर्वत्र सर्वदा सर्वरूपेण रहता ही है. अतः भगवत्प्रतिबिम्ब मिथ्या हो या नहो परन्तु अन्यान्य वस्तुएं तो देश-काल-स्वरूपतः परिच्छिन्नरूप होती हैं जिन रूपोंको ब्रह्म स्वेच्छया धारण करता है. ऐसी उन वस्तुओंके प्रतिबिम्बको यथार्थतया भात माना नहीं जा सकता.

अतः जो चिन्तक प्रतिबिम्बको बिम्बसे भिन्न नहीं मानते उनकी धारणा है कि दर्पणादिकी उपाधिसे परावृत्त हो कर किरणें जब स्वमुखका ग्रहण करती हैं तो वह प्रतिबिम्ब लगने लगता है. परन्तु इस विषयमें अपना सिद्धान्त तो यही है कि प्रतिबिम्ब एक ऐसा मायिक आभास है कि जिसमें केवल बिम्ब ही गृहीत होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता. यह समझमें भी आनेवाली बात है और शास्त्रोंमें भी इसी तरह अर्थात् मायिक आभासके रूपमें ही निरूपित हुई है. अनेक पार्श्ववाले दर्पणका कोई निर्माण करे तो एक ही दर्पणमें अनके प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होने लगेंगे. परावृत्त होनेवाली किरणोंके सम्मुख तो जबकि एक ही बिम्बमुख होता है. अतः अनेक प्रतिबिम्बोंकी प्रतीतिका समाधान ऐसी प्रक्रियामें उपलब्ध नहीं हो पाता.

अतः प्रतिबिम्ब एक बिम्बतेर मायिक वस्तुका अन्यख्यातिरूप आभास है यह निश्चित होता है.

९. *अन्धकारवाद* :

इस नौमें *अन्धकारवाद*में इसी तरह अन्धकारको भी प्रकाशका

केवल अभाव माननेके बजाय भावरूप मायिक आभासके रूपमें प्रतिपादित करना अभीष्ट है. इस मायिक आभासके वश बाह्य सद्वस्तु आवृत होती है जो प्रकाशपातसे ही निवर्त्य होती है अन्यथा नहीं. जो चिन्तक इसे प्रकाशके अभावके रूपमें प्रतिपादित करना चाहते हैं उनके अनुसार प्रकाशाभाव जहां दिखलाथी देता हो उसके विशेषणतया दिखलाई देता मानना पड़ेगा. यहां प्रष्टव्य यही होता है जिसका अभाव जहां प्रतीत होता है वह वस्तु स्वयं यदि दिखलाई न देती हो तो वहां अभावप्रतीति कैसे उपपन्न हो पायेगी? प्रत्येक अभावकी परोक्ष या अपरोक्ष प्रतीतिमें अभावके प्रतियोगीका परोक्षज्ञान तथा अनुयोगीका यथायथ परोक्ष या अपरोक्ष ज्ञान अनिवार्य होता ही है. अन्धकारके अपरोक्ष भासके बारेमें प्रतियोगीकी बात जाने दें परन्तु अनुयोगीका अपरोक्ष भास होता नहीं है, जो होना आवश्यक था. अतः अन्धकारको प्रकाशका अभाव माना नहीं जा सकता है.

अतः द्रव्य गुण कर्म आदि किसी भी पदार्थके रूपमें अन्धकारकी समुचित व्याख्या शक्य न होनेसे अन्धकारको भी एक मायिक भावरूप वस्तु मान लेना चाहिए. यह भी, अतः, अन्यख्यातिका अन्यतम प्रकार है ऐसा सिद्ध होता है.

इस तरह अति संक्षेपमें इन छह वादोंके प्रतिपाद्यविषयके विहंगावलोकनके साथ अब प्रस्तुत प्रकाशनके बारेमें दो-चार बातें बता देना चाहूंगा. इन वादोंके तुलनात्मक पाठोंके संशोधनपूर्वक इन्हें भलीभांति पुनःप्रकाशित करानेकी योजना मेरे हृदयमें वैसे तो सन् ८४ में जोरसे उठ खड़ी हुई थी. और तदनुसार अपनी हरिद्वारयात्रा और वहां एक मासपर्यन्त निवासकी अवधिमें हमारे पितामह गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजी महाराजश्रीके द्वारा प्रकाशित इनमेंके सतरह वाद इदम्प्रथमतया व्यवस्थित अनुच्छेदविभाजन तथा शीर्षकन्यास द्वारा मैंनें सम्पादित किये थे. बादमें इनकी प्रेसकॉपी मेरे मित्र श्रीमदनलाल व्यासजीसे तैयार भी करवाई. तब इन चौबीस

वादोंकी अनिर्णीत क्रमसंख्याकी समस्या मेरे सामने आयी. इनमें आद्य वादद्वयी तो चतुर्थपञ्चमपीठाधीश गोस्वामी श्रीवल्लभलालजी महाराज (कामां) के विद्याविभागद्वारा श्रीवसन्तराम शास्त्रीके कुशल सम्पादनमें भलीभांति प्रकाशित थी ही. तथा अन्य एक श्रीमद्भागवतस्वरूपविषयकशङ्कानिरासवाद भी श्रीजेठानन्द आसनमल न्यासद्वारा श्रीहरिशंकर ॐकारजीके कुशल सम्पादनद्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थदीपनिबन्धके परिशिष्टतया प्रकाशित हो चुका था. यों बीसके अलावा अवशिष्ट अप्रकाशित चार वादोंको खोजे बिना वादोंकी क्रमसंख्याको निर्धारित करना दुष्कर था. जो प्रकाशित हो चुके थे उनमें पाठशुद्धि भी उतनी ही झलकती थी सो पाठभेनिर्धारणार्थ अन्यान्य प्रतियोंको खोजनेका प्रयास चलता रहा. भगवत्कृपया अन्तमें एकाद वादको छोड़ प्रायः सभी वादोंकी अनेक प्रतियां विभिन्न स्रोतोंसे प्राप्त हो पायी, इसे मैं मेरे परम सौभाग्यका विषय मानता हूं. तदनुसार पाठभेदनिर्धारणार्थ अनेक सहयोगिओंके भी उत्साहवश वह कार्य भी यथासामर्थ्य यथामति सम्पन्न हो पाया. इन पाठशोधनकी लम्बी बैठकोंमें सहयोग देनेवाले सर्वश्री गो.श्रीकिशोरचन्द्रजी, गो.श्रीरघुनाथलालजी, चिरञ्जीवी गो.श्रीशरद्, श्रीअसित ज. शाह, श्रीरसिक शाह, श्रीभोगीलाल शाह, श्रीधर्मेन्द्र झाला, श्रीमनीष बराई, श्रीमहेन्द्र पलीचा, श्रीमती-श्री बीना सतीश पलीचा, श्रीमथुरादास भाटिया, श्रीगोविन्दभाई तथा श्रीपुरुषोत्तमभाई आदि सभीके प्रति कृतज्ञताद्योतनके भावका संगोपन करने मैं अपने-आपको अक्षम पाता हूं. इस बीच स्वयं अपने घरमें ही कम्प्युटरमें फीड करवा कर प्रकाशित करवा लेनेके मनोरथके जग जानेसे प्रेसकॉपीको कम्प्युटरमें फीड करनेवाली सुश्री अल्पाके भी हम अतीव आभारी हैं. फिरभी समग्र चौबीसों वादोंको एककायतया प्रकाशित करवा देनेके मोहवश तथा किसी न किसी तरहके व्यवधान, जिनमें दो बार कम्प्युटरकी हार्डडिस्कका नष्ट हो जाना भी, भयंकर विलम्बका कारण बना. ऐसे अनेक व्यवधान बीच-बीचमें आते ही रहे. यों अक्षम्य विलम्ब भी इस कार्यमें होता चला गया. हार कर अब जितनी मेटर तैयार हो उतनी प्रकाशित करते चले जानेको बाधित

हो कर, अब इस खण्डमें चतुर्थसे नवमवाद प्रकाशित करने हम जा रहे हैं. इन सभी वादोंपर या तो मैंने अल्पमतिके अनुसार व्याख्या या विषमस्थलटिप्पणी भी लिखी है.

मेरे दर्शनशास्त्रीय अध्ययनका शुभारम्भ मेरे पितृचरण गोस्वामी श्रीदीक्षितजी महाराजके मुखसे पांक्तालापनविधिद्वारा प्रमेयरत्नार्णवके अध्ययनके बाद करीब एक-डेढ़ वर्ष पर्यन्त इन्हीं सतरह वादों तथा भामती-विवरणसहित अध्यासभाष्य के अध्ययनके साथ हुवा था. वस्तुतः यह मेरेलिये दर्शनशास्त्रमें रुचि तथा शास्त्राभ्यास की मनोवृत्तिको जगानेवाला अद्भुत मंगलाचरण मेरे जीवनमें सिद्ध हुवा! वर्ष-डेढ़वर्षके अध्ययनके बाद व्याकरणमीमांसान्यायरूप पदवाक्यप्रमाणशास्त्रोंके अध्ययनके बिना ऐसा हनुमदुत्प्लवन मुझे बहोत दूर तक नहीं ले जा सकेगा, ऐसी सीख मुझे पुत्राधिकवात्सल्यवश अध्यापन करानेवाले श्रीधर्मदेव जेटलीजीने दी. और तबसे मैंने उनके पास अध्ययनार्थ जाना प्रारम्भ किया. कई ग्रन्थ न्यामुक्तावली सांख्यतत्त्वकौमुदी आपोदेवी वेदान्तपरिभाषा दशश्लोकी सिद्धान्तलेशसंग्रह विवरणप्रमेयसंग्रह चित्सुखी खण्डनखण्डखाद्य आदिका पांक्तालापनविधिद्वारा अध्ययन करनेका सौभाग्य मुझे इनके पास ही प्राप्त हुवा. यद्यपि मेरे विद्याधिगमद्वारा उनको मैं कभी भी सन्तुष्ट तो नहीं कर पाया! फिरभी मेरे पितृचरण, मेरे प्रमुख विद्यागुरु श्रीधर्मदेवजी, साथ ही साथ हमारे घरमें मेरे पितृचरणके बाल्यकालसे आस्थानपण्डितके स्थानको अलंकृत करनेवाले न्यायशास्त्रके उद्भट विद्वान्, जिनसे भलीभांति मैं न्यायशास्त्र भी पढ़ तो नहीं पाया, फिरभी जो सर्वदा स्नेहवश मुझे टोकते रहते थे कि "बावा! न्याय नहीं पढ़ोगे तो अन्याय ही करोगे" ऐसा अकारण शिष्यवात्सल्य रखनेवाले आदरणीय श्रीकृष्णमाधव झा पण्डितजी तथा पूर्वमीमांसाकी भाट्टदीपिकाके मेरे अध्यापक श्रीसुब्रह्मण्य शास्त्रीजी आदि सभी गुरुजनोंको मेरी यह व्याख्या समर्पित करता हूं.

दिनांक : कार्तिकी कृष्णा अष्टमी
विक्रमसंवत् : २०६०.

गोस्वामी श्याम मनोहर
(मुंबई-किशनगढ)

भारतीय दर्शनके विकासमें प्रस्तावित विभिन्न योजनाबद्धताओंकी रूपरेखा

(इन चौखटोंमें वाल्लभ दर्शनका स्थान)

उपक्रम :

विभिन्न विचारधाराओंकी विकासरेखाको मापनेका मानदण्ड केवल कालिक पौर्वापर्य ही नहीं होता. इसी तरह सभी तरहकी विचारधाराओंके द्वारा प्रस्तावित प्रत्ययोंकी विकासरेखाको हेगेलिअन वाद विसंवाद और संवाद की क्रमिकतामें भी माप लेना सर्वदा सम्भव नहीं हो पाता. तत्तद् विचारकोंके आध्यात्मिक धार्मिक आर्थिक सामाजिक या राजनैतिक आदि परिवेशोंके प्रभावों और आवश्यकताओं की अनेकविधता विभिन्न दार्शनिक प्रत्ययोंके विकासकी रेखाको पर्याप्त जटिल बना देती है. पूर्वकालीन प्रत्ययोंके कारणीभूत कार्यीभूत अंगीभूत अंगभूत निरास्यभूत अथवा निरासकीभूत अपरकालीन प्रत्ययोंके विचारार्थ ये प्रभाव और आवश्यकता तत्तद् विचारकोंको उकसाते हुए पाये जाते हैं.

इन दार्शनिक प्रत्ययोंके परस्पर जन्यजनकादिभाव भी सर्वत्र पदार्थशास्त्रीय या ज्ञानशास्त्रीय क्रमिकताका अनुसरण करते ही हों ऐसा अनिवार्य नहीं होता. ज्ञानमीमांसकीय प्रत्ययोंको पदार्थमीमांसकीय प्रत्ययोंके बोधक-हेतुतया स्वीकारना आवश्यक होना चाहिये था. दर्शनेतिहास, परन्तु, इसकी गवाही सार्वदिक तथ्यके रूपमें नहीं देता. उदाहरणतया जगत्कर्ता ईश्वरका प्रत्यय भारतीय दर्शनोंमें पहलेसे विद्यमान या स्वीकृत रहा ही होगा; परन्तु, यह सहज सम्भव लगता है कि ऐसे ईश्वरके शब्दैकगम्य होनेकी अथवा अनुमितिगम्य भी होनेकी धारणा, चार्वाक बौद्ध या जैन सदृश अनीश्वरवादी दर्शनोंके द्वारा की गई आलोचनाओंके प्रत्याख्यानार्थ

ही प्रकट हुई होंगी. अतः सिद्ध होता है कि जगत्कर्ता ईश्वरका पदार्थमीमांसकीय प्रत्यय पूर्वसिद्ध हो सकता है और इस ऐसे प्रत्ययका शब्दैकसिद्ध या अनुमितिसिद्ध होना "मेयार्थैव मानसिद्धिः" हो कर उत्तरकालिक प्रत्यय भी हो सकता है. यों "मानाधीना मेयसिद्धिः"के मानदण्डकी ऐतिहासिक अवहेलनाद्वारा ही यह शक्य हुवा होना चाहिये.

तत्तन्मतोंमें स्वीकृत प्रमाकरणोंके प्रामाण्यका प्रत्यय एक अंगीरूप प्रत्यय होता है; और, प्रमाणोंका प्रामाण्य स्वतः होता है या परतः यह तो प्रामाण्यांगभूत प्रत्यय होता है. पुनः दर्शनेतिहास ही इसकी सच्ची गवाही दे पायेगा कि अंगीभूत तत्तत् प्रमाणोंके प्रामाण्यके प्रत्यय क्या पूर्वकालिक नहीं थे? क्या प्रामाण्यघटक तदंगभूत स्वतस्त्व या परतस्त्व के प्रत्यय उत्तरकालिक विकास नहीं थे? अर्थात् अंगीभूत प्रामाण्यप्रत्यय पहलेसे सिद्धवत्तया स्वीकृत था और तद्घटक अंगभूत प्रत्यय बादमें विचारी गई उपपत्ति थी! स्पष्ट है कि घटक अंगोंके पूर्ववर्ती होनेके नियमकी अवहेलनाद्वारा ही यह सम्भव हो पाया.

अतः मानवीय चिन्तनप्रणालीमें रहे इस लचीलेपनको कि यहां तार्किक क्रमोंका अनुसरण, राजाज्ञा अथवा किन्हीं अकाट्य तर्कोंके नियमोंके बन्धनमें बंध कर नहीं किया जाता है, ऐसा एक बार स्वीकार लेनेपर अनुभवतः तर्कतः या कालतः व्यौत्क्रमिक विकास भी सम्भव हो ही सकता है, यह तथ्य प्रकट हो जाता है. इस सन्दर्भमें सर्वथा अविस्मरणीय तथ्य यही है कि भारतीय दर्शनका विकास चाहे योजनाबद्ध रीतिसे हुवा हो या न हुवा हो परन्तु उसके विकासकी प्रक्रियामें अनेकविध योजनाबद्धता कथञ्चित् प्रकट तो हुयी ही हैं, इस तथ्यको भुलाया नहीं जाना चाहिए. संक्षेपमें बस इतना ही हमारे इस निबन्धका प्रतिपाद्यसार है.

इस संक्षिप्त प्राथमिक स्पष्टीकरणके साथ पूर्वकालमें भी जो भारतप्रभव

विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओंको योजनाबद्ध करनेके प्रयास हुवे, उनपर भी थोड़ा-बहुत ध्यानाकर्षण उचित ही होगा.

प्रथमदृष्टि :

विक्रमके पांचवें शतकके अन्तमें षड्दर्शनसमुच्चयकार श्रीहरिभद्रसूरीकी "दर्शनानि षडेवात्र मूलभेदव्यपेक्षया देवतातत्त्वभेदेन ज्ञातव्यानि मनीषिभिः. बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा जैमिनीयञ्च नामानि दर्शनानाम् अमूनि अहो"(१). जैसी उक्तिके वशाद् एक अनालोचित केवल परिगणनैकमूल अन्यथा निर्मूल धारणा बहुप्रचारित हो गयी कि भारतीय दर्शनोंके छह प्रकार होते हैं! इन मतभेदोंकी परिगणनामें चार्वाक तथा वेदान्त दर्शनोंके जैसी महत्त्वपूर्ण विचारधाराओंका अन्तर्भाव किसमें स्वीकारना यह ज्ञात न हो पानेके कारण न जाने कब एक दूसरी धारणा बहुप्रचारित हो गयी कि इस देशमें छह आस्तिक, अर्थात् वेदप्रामाण्यवादी दर्शन हुवे हैं; और, छह ही नास्तिक, अर्थात् वेदाप्रामाण्यवादी दर्शन हुवे हैं(२). ऐसी धारणा, परन्तु, न तो सुस्पष्ट लगती है और न उपपन्न ही. क्योंकि बौद्धागमीय ब्रह्मजालसुत्तान्तर्गत मिच्छादिट्ठिट्ठानानि प्रकरणमें जिन बासठ तथाकथित मिथ्यादृष्टिओंका निरूपण किया गया है(३), उनका इन बारह तरहकी दार्शनिक विचारधाराओंमें अन्तर्भाव या समावेश कहां-कैसे शक्य हो सकता है इस बारेमें यह वर्गीकरण मौन है. अतः न तो यह योजना सर्वग्राहिणी लगती है और न सुस्पष्ट ही.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

फिरभी इस योजनाकी चौखटमें वाल्लभ दर्शन छह आस्तिक दर्शनान्तर्गत वेदान्तदर्शनकी एक शाखा है. इस अन्तर्भावको जान लेना एक अच्छी ही बात होगी.

द्वितीयदृष्टि :

इसके बजाय तो उक्त ब्रह्मजालसुत्तमें वर्णित धारणाओंमेंसे केवल

मतपरिगणनार्थ प्रयुक्त संख्याओंकी उपेक्षा भी कर दें तो भी कुछ स्थूल वर्गीकृत धारणाओंको इस तरह सोचा जा सकता है :—

१. शाश्वतवाद / अशाश्वतवाद / अंशतः शाश्वतवाद
२. अनन्तवाद / अन्तवाद / अन्तानन्तवाद या अंशतो अनन्तवाद
३. उत्तरानर्हप्रश्न(=अमराविक्षेप)वाद / उत्तरार्हप्रश्नवाद / अंशतो उत्तरानर्हप्रश्नवाद
४. निर्हेतुकोत्पत्ति(=स्वभावोत्पत्ति)वाद / सहेतुकोत्पत्तिवाद/ अंशतो निर्हेतुकोत्पत्तिवाद
५. मरणोत्तरसञ्ज्ञीवाद / मरणोत्तरासञ्ज्ञीवाद / मरणोत्तर नैव-सञ्ज्ञी-नासञ्ज्ञीवाद
६. दैहिकात्मोच्छेदवाद / विदेहमुक्तिवाद / जीवन्मुक्तिवाद.(४)

इस तरह वर्गीकृत धारणाओंके अवलोकन करनेपर यह सुस्पष्ट होता है कि ढाई हजार वर्षपूर्व भी, भगवान् बुद्धके अनुसार उनके कालमें जो मिथ्यादृष्टियां थी, उनकी परिगणनामें भगवान्ने किसी तरहकी योजनाबद्धताको खोजनेका एक नितान्त मननीय प्रयास किया था.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

इस चौखटमें वाल्लभ दर्शनके जिज्ञास्य स्थानतया हम प्रथमत्रयीके अन्तर्गत देख सकते हैं कि (१)ब्रह्मके स्वरूपके विचारसे यह दर्शन शाश्वतवादी होनेपर भी भगवल्लीलाके विचारसे जागतिक नामरूपकर्मोकी अंशतः अशाश्वतता अर्थात् अंशिभूत-सच्चिदानन्द-ब्रह्मदृष्ट्या शाश्वतता तथा सदंशभूतनामरूपकर्मदृष्ट्या अशाश्वतता स्वीकारी गयी है. (२)यही द्वितीयत्रयीके बारेमें भी स्पष्ट है. इसी तरह तृतीयत्रयीके बारेमें भी कहा जा सकता है कि (३)ब्रह्मस्वरूप इदमित्थतया उत्तरानर्ह होनेपर भी सर्वथा उत्तरानर्ह नहीं होता. चतुर्थत्रयीके बारेमें भी प्रायः वही

तथ्य दृष्टिगत होता है कि (४)ब्रह्मकी जडजीवान्तर्यामितया प्रकट होनेकी लीला निर्हेतुक होनेपर भी लीलामें जो कुछ प्रकट होता है वह सहेतुक ही होता है. पञ्चमत्रयीके बारेमें ज्ञातव्य है कि (५)वहां चतुर्थ विकल्पाश्रयणके बजाय वाल्लभ दर्शन तृतीय विकल्पको ही आश्रयणीय मानेगा कि मरणोत्तर जीवात्मा अंशतः संज्ञी और अंशतो असंज्ञी होती है. षष्ठत्रयीमें वाल्लभ दर्शन (६)दैहिकात्मोच्छेदको देहात्मसंघातोच्छेदके रूपमें स्वीकारनेके बावजूद विदेहमुक्तिवादमें भी तथा जीवन्मुक्तिवादमें भी अपनी सहमति दरसाता है ही.

तृतीयदृष्टि :

इसके अलावा स्वयं बौद्धोंके जो दार्शनिक प्रस्थानभेद विभिन्न संगतिओंके कारण भगवान् बुद्धके पांचसौ-छहसौ वर्षमें प्रकट हुवे, यथा —

१.सर्वास्तित्ववाद
२.बाह्यार्थानुमेयवाद
३.बाह्यार्थशून्यवाद अर्थात् विज्ञप्तिमात्रास्तित्ववाद
४.बाह्याभ्यन्तरशून्यवाद

ये अवान्तर प्रभेद भी स्वयं दर्शनशास्त्रीय दृष्टिओंको योजनाबद्धतया एक चिन्तनप्रणालीके रूपमें विकसानेकी रीतिकी एक अनजानी पर गहरी सूझबूझ लगती है. इसमें भी पुनः हीनयानी चिन्तनको विनेयाधिकारक उपदेश और महायानी चिन्तनको विनीताधिकारक उपदेश माननेकी कल्पना भी किसी योजनाबद्धताका ही सुस्पष्ट संकेत करती सी लगती है.

इन्हें यथाव्याख्यात रूपोंमें न ले कर एक सामान्य योजनाके रूपमें निहारनेपर इन प्रभेदोंमें बौद्धेतर वैचारिक दृष्टिओंका भी समावेश या अन्तर्भाव सहज सम्भव बन जाता है. यथा सर्वास्तित्ववादके अन्तर्गत जैन न्याय-वैशेशिक सांख्य-योग जैमिनिदर्शन के अलावा बादरायणीय

प्रस्थानोंके अन्तर्गत भी कई सारे वेदान्तसम्प्रदायों का अन्तर्भाव सोचा जा सकता है. इसी तरह बाह्यार्थशून्यवादके अन्तर्गत प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा शांकर वेदान्त का अन्तर्भाव सहज ही समझमें आ सके ऐसा तथ्य लगता है. शून्यवाद वैसे बौद्धोंका ही अपना चिन्तन माना जाता है परन्तु शून्यवादके निरूपणमें स्वमतनिरूपण तथा परमतनिराकरण में प्रकट होते शैलीभेदपर लक्ष्य करनेपर कुछ और भी चित्र उभरता है. क्योंकि स्वमतनिरूपणमें शून्यवादिओंके **''अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैः अप्रपञ्चितं निर्विकल्पम् अनानार्थम् एतत् तत्त्वस्य लक्षणम्''** - **''न सन्नासन्न सदसन्नचाप्यनुभयात्मकं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः''**[५] उद्गारोंके अनुसार शून्यका जो स्वरूप सामने आता है तदनुरूप ही केवलाद्वैतवादिओंका स्वयंप्रकाश अवाच्य निर्गुण-निर्धर्मक-निर्विशेष द्वैतविवर्जित ब्रह्मको भी सुखेन सोचा जा सकता है. क्योंकि —

अस्ति नास्त्यस्तिनास्तीति नास्ति-नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैर् आवृणोत्येव बालिशः॥
कोट्यस् चतस्र एतास्तु ग्रहैर् यासां सदावृतः।
भगवानाभिर् अस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥

स भगवान् आभिः 'अस्ति'-'नास्ती'त्यादिकोटिभिः चतसृभिरपि अस्पृष्टो 'अस्ती'त्यादिकल्पनाविवर्जितः, इत्येतद् येन मुनिना दृष्टो ज्ञातो वेदान्तेषु औपनिषदः पुरुषः स सर्वदृक् परमार्थपण्डितः इति अर्थः.[६]

इस तरह शून्य तथा निर्विशेष ब्रह्म के बीच बौद्धागमगम्य अथवा वेदैकगम्य होनेके अलावा और कोई स्पष्ट अन्तर सामने नहीं आ पाता. अतः चतुर्थ दृष्टिमें केवलाद्वैतवादका अन्तर्भाव सोचा जा सकता है.

जहां तक परमतके निराकरणका प्रश्न है तो दोनों ही शून्यवादी

तथा केवलाद्वैतवादी व्यावहारिक प्रत्ययोंकी भी अनिर्वचनीयतापर भार तो देते ही हैं. केवलाद्वैतवादी वेदान्तमें खण्डनखण्डखाद्य और तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी ने केवल **"सत्त्वासत्त्वाभ्याम् अनिर्वचनीयता"** के संयमको निभानेके बजाय प्राचीन न्यायाभिमत षोड़श पदार्थोंके बारेमें **"स्वरूपतो लक्षणानिर्वचनीयता"** पर्यन्त जो पार्ष्णिग्राहिता[७] प्रकट की है वह प्रासंगिकोंका ही अनुसरण है. क्योंकि इन और ऐसे अन्य ग्रन्थोंमें भी व्यवहारको अनिरुक्त ही रख कर निभानेका आग्रह **"अस्तीतिं वदतो ब्रूमो नास्ति सर्वं विचारतो, नास्तीति वदतो ब्रूमः सर्वमस्त्यविचारतो, यथा-यथा समारोपाः जायन्ते तत्त्वयोगिनः तथा-तथा समारोपा हन्यन्ते तत्त्वयोगिना"**[८] कहनेवाले माध्यमिकोंका अनुसरण ही लगता है. इस सन्दर्भमें चन्द्रकीर्तिके **"अतो वयमपि आरोपतो व्यवहारसत्ये स्थित्वा व्यवहारार्थं विनेयजनानुरोधेन 'शून्यम्' इत्यपि ब्रूमो 'अशून्यम्' इत्यपि, 'नैव शून्यं नाशून्यम्' इत्यपि ब्रूमः"**[९] उद्गारको भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यके **"न शून्यं नच अशून्यम् अद्वैतकत्वात् कथं सर्ववेदान्तसिद्धिं ब्रवीमि"**[१०] वचनोंसे तुलना करनेपर यह बात उभर कर सामने आ ही जाती है. अतः केवलाद्वैतवेदान्तका अन्तर्भाव शून्यवादमें सोचनेपर कोई आपत्तिजनक बात प्रतीत नहीं होती. निष्कर्षतः केवल बाह्यार्थानुमेयवाद केवल ऐसी धारणा मानी जा सकती है जो केवल बौद्धोंकी अपनी ही सिद्ध हो पाती है. क्योंकि प्रत्यक्षके अन्तर्गत निर्विकल्प और सविकल्प के प्रभेदके बावजूद विकल्पोंको भ्रम या प्रमा रूपी प्रत्यक्षसे गम्य ही अन्योंने स्वीकारा है. एतावता यह सिद्ध होता है कि परवर्ती बौद्ध दर्शनके विभिन्न प्रस्थानोंके विकासको लक्ष्यगत करनेपर बौद्धेतर दर्शनोंके भी विकासकी योजना प्रारूपतया प्रस्तावित हो रही थी.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

वाल्लभ दर्शनका इस योजनामें स्थान कहां पहचानना चाहिये प्रश्न उठता है तो इसके बारेमें ज्ञातव्य है कि इस योजनामें चारमेंसे अन्तिम बाह्याभ्यन्तरशून्यताका अनुभव योगिजनोंको निर्विकल्प समाधिमें

वाल्लभ दर्शन शक्य मानता होनेपर भी केवल उसी शून्यानुभूतिको प्रमा तथा अन्य अयोगिजनोंको होती बाह्याभ्यन्तर वस्त्वनुभूतियोंको अप्रमा मानने कथमपि उद्यत नहीं है. अतएव तृतीय कल्पको भी अखण्डविज्ञानैकरस ब्रह्मकी दृष्टिसे स्वीकार्य माननेपर भी लौकिक ज्ञानदृष्ट्या ज्ञेयार्थकी बाह्य असत्ता वाल्लभ दर्शनको स्वीकार्य नहीं. द्वितीयदृष्टिके अन्तर्गत प्रत्यक्षानुभूतिके निर्विकल्प तथा सविकल्पक प्रभेदको मान्य रखनेके कारण निर्विकल्पकानुभूति सन्मात्रविषयिणी होती यह स्वीकारनेके बावजूद द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-सम्बन्ध-अभाव-संज्ञादिके विकल्प निर्विकल्पानुभूतिगोचर सन्मात्रवस्तुसे सर्वथा भिन्न ही होते हैं यह स्वीकारने वाल्लभ दर्शन उद्यत न होनेसे विकल्पोंको प्रथमानुभूतिमें प्रत्यक्षग्राह्य न माननेपर भी धारावाहिज्ञानोपम द्वितीयानुभूतिमें प्रत्यक्षग्राह्य भी स्वीकारता ही है, यथार्थवादी चिन्तन होनेके कारण. अतः बौद्धोंके द्वारा परिभाषित रूपमें सर्वास्तित्ववादी न होनेपर वाल्लभ दर्शन सर्वास्तित्ववादकी ही एक अपरविधा मानी जा सकती है.

चतुर्थदृष्टि :

स्वयं जैन दार्शनिकोंने नय-प्रमाण-भेदभिन्न अनेकान्तवादको जब सप्तभंगिमाओंके साथ मंडित किया तब शून्यवादनिरसनीय इन चतुष्कोटिओंको अर्थनयरूपा अग्रिम चार : [१]नैगमनय [२]संग्रहनय [३]व्यवहारनय और [४]ऋजुसूत्रनय कोटिओंमें अन्तर्भावित या समायोजित कर लिया. यहां नैयायिक-वैशेषिकोंका अन्तर्भाव प्रथम नैगमनयमें स्वीकारा गया है. वेदान्ताभिमत अद्वैत(शांकर!)वादके सारे प्रकारोंका अन्तर्भाव संग्रहनयके भीतर सोचा गया है. चार्वाकोंको व्यवहारनयानुगामी माना गया है. और बौद्धोंको 'ऋजुसूत्राकूतप्रवृत्तबुद्धि' माना गया है[११]. शब्दनयकी अवशिष्ट तीन : [५]शब्दनय [६]समभिरूढनय और [७]एवंभूतनय कोटियां और इनके साथ जोड़ी दी गयी. स्याद्वादमञ्जरीकार श्रीमल्लिषेणसूरी कहते हैं **"कोई भी चिन्तक अपना अभिप्राय या तो वाच्यभूत अर्थद्वारा या वाचक शब्दद्वारा प्रकट करता है. अतः प्रमाताओंके अभिप्रायवश अर्थनिरूपणमें परायण अर्थनयान्तर्भूत चिन्तक**

होते हैं. शब्दविचारमें प्रवृत्त होनेवाले चिन्तक शब्दादि तीन नयोंमें अन्तर्भूत होते हैं.’’[१२] सुस्पष्ट है कि यह भी भारतीय दर्शनको किसी एक योजनाबद्धतया देखनेकी वैचारिक रीति नहीं थी तो और क्या थी? यहां उल्लेखनीय केवल यही है कि नैयायिकोंका अन्तर्भाव जो नैगमनयके अन्तर्गत और अद्वयवादिओंका अन्तर्भाव जो संग्रहनयके अन्तर्गत किया उसके औचित्यसे सभीका सहमत होना आवश्यक नहीं लगता. इसके अलावा 'शून्य'पदके वाच्यार्थतया किसी तरहकी पञ्चमकोटीका पदार्थ तो स्वयं माध्यमिकोंको ही अभिप्रेत न होनेसे अर्थनयके अन्तर्गत तो नहीं परन्तु शब्दनयके अन्तर्गत पांचवी कोटीमें शून्यताका भी कोई स्थान होना चाहिये था. वह अवशिष्ट तीन कोटिओंमें भी संगृहीत नहीं हो पाया है. तथा स्वयं आर्हतोंके अलावा अवशिष्ट तीन कोटिओंमेसे कमसे कम दो धारणाओंको स्वीकारनेवाले कोई चिन्तक हुवे हों ऐसा खयालमें आता नहीं है. अतः अवशिष्ट तीन धारणाओंमें कमसे कम दो तो रिक्तवर्ग अर्थात् केवल गणनाकीय सम्भावनाओंपर ही आश्रित प्रतीत होती हैं. यथा—

१. स्यादस्ति=अस्तिदर्शन
२. स्यान्नास्ति=नास्तिदर्शन
३. स्यादस्ति च नास्ति=अस्तिनास्तिदर्शन
४. स्यादवक्तव्यं=उभयतोऽनिर्वचनीयदर्शन
५. स्यादस्ति चावक्तव्यं च=ज़ेयवस्तु-अनिर्वचनीयदर्शन
६. स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च=(   )
७. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च=(   )

यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि इन सप्त भंगिमाओंको "अस्ति/नास्ति/अस्ति-नास्ति/नास्ति-ननास्ति"के ही केवल विकल्पोंमें सीमित न रखा जाये और एक वैचारिक मॉडलीटि के रूपमें निहारा जाये और विभिन्न दार्शनिक धारणाओंके बीच प्रचलित अन्यान्य विवादोंमें

इन्हें लागू किया जाये तो सहज ही इस योजनाकी व्यापकताका पक्ष उभर कर सामने आ जाता है. उदाहरणतया : देहातिरिक्त आत्मास्तित्व, रूपादिगुणधर्मानुभूत्यतिरिक्त चेतनास्तित्व, कृतकर्मनाशोत्तर पुण्यपापास्तित्व, गुणसंघातिरिक्त द्रव्यास्तित्व, द्रव्यातिरिक्त सामान्यास्तित्व, उपादानकारणातिरिक्त कार्यास्तित्व, अवयवातिरिक्त अवयव्यस्तित्व, निर्विकल्पज्ञानातिरिक्त विकल्पावगाहिप्रमास्तित्व, वाचकव्यापारातिरिक्त वाच्यवस्त्वस्तित्व आदि अनेकानेक विवादास्पद विषयोंके बारेमें चारों या सातों प्रकारके नयोंके सापेक्ष स्वीकारकी अनेकान्तदृष्टिका अनुमोदन करनेपर इस योजनाकी व्यापकता सहज ही प्रकट हो जाती है. यह इदमित्थतया स्वयं आर्हतोंको मान्य ही हो ऐसे अभिप्रायवश किया गया विधान नहीं है. परन्तु एक सम्भावित योजनाकी रूपरेखाका केवल निदर्शनमात्र है.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

इस योजनाकी प्रयोगान्वितिकी व्यापकताका विचार करते हुवे तथा विस्तारभीतिवश भी केवल दिशानिर्देशके रूपमें इतना सा निरूपण यहां उचित लगता है कि वाल्लभ दर्शन पदार्थमीमांसाके स्तरपर यद्यपि सद्वादी चिन्तन है परन्तु अद्वितीय सद्वस्तुके लीलार्थ प्रकट नाम-रूप-कर्मोके बीच परस्पर द्वैत/अद्वैत/द्वैताद्वैत/अ(वक्तव्य)-द्वैताद्वैतके चातुर्विध्यमें चतुर्थकोटीरूप तादात्म्यका पक्षपाती बन जाता है.

पञ्चमदृष्टि :

इसके बाद सर्वदर्शनसंग्रहकारने जिस तरहसे अपने ग्रन्थमें भारतप्रभव अन्यान्य दार्शनिक मान्यताओंको समायोजित किया है उसमें स्पष्टतया केवलाद्वैत वेदान्तकी दृष्टिसे उन्हें योजनाबद्ध करनेकी एक विलक्षण रूपरेखा खोजी जा सकती है. इसका, सर्वदर्शनसंग्रहकी अपनी भूमिकामें श्रीवासुदेव शास्त्री अभ्यंकरने, सुविशदतया निरूपण किया है. यह प्रतिपादन भी सर्वदर्शनसंग्रह ग्रन्थके प्रत्येक अध्येताके लिये अवश्य अध्येतव्य

लगता है. उसका सारांश देना ही, अतः, इस प्रसंगमें उपकारक हो पायेगा. उन्होंने दो तरहसे इस क्रमका प्रतिपादन करना चाहा है. यथा —

१.भारतीय दार्शनिक विचारधाराओंके सर्वप्रथम नास्तिक आस्तिक दो मूलभेद होते हैं —

नास्तिक :

तदन्तर्गत नास्तिक विचारधाराके आध्यक्षिक और तार्किक ऐसे दो प्रभेद होते हैं. इनमें (१)चार्वाक दर्शन आध्यक्षिक दर्शन है. तार्किक-नास्तिकोंके पुनः दो और प्रकार होते हैं : (२)क्षणिकवादी बौद्ध और (३)स्याद्वादी जैन.

आस्तिक :

आस्तिक विचारधाराके भी मूलमें दो प्रभेद होते हैं यथा : सगुणात्मवादी और निर्गुणात्मवादी. इनमें सगुणात्मवादिओंके पुनः तार्किक और श्रौत यों दो उपभेद होते हैं.

इनमें तार्किकोंके पुनः दो अवान्तर प्रभेद प्रच्छन्नतार्किक और स्पष्टतार्किक होते हैं. प्रच्छन्नतार्किकोंके दो उपभेद प्रच्छन्नद्वैतवादी और स्पष्टद्वैतवादी होते हैं.

इनमें (४)रामानुज दर्शन सगुणात्मवादी ⊃ प्रच्छन्नतार्किक ⊃ प्रच्छन्नद्वैतवादी है. (५)माध्व दर्शन सगुणात्मवादी ⊃ प्रच्छन्नतार्किक⊃ स्पष्टद्वैतवादी है.

स्पष्टतार्किकोंके अवान्तर प्रभेद भोगसाधनादृष्टवादी और उत्पत्तिसाधनादृष्टवादी होते हैं. इन भोगसाधनादृष्टवादिओंके भी दो अवान्तर भेद विदेहमुक्तिवादी और जीवन्मुक्तिवादी रूपी होते हैं. इनमें विदेहमुक्तिवादिओंके पुनः आत्मभेदवादी और आत्मैक्यवादी ऐसे दो उपभेद होते हैं. आत्मभेदवादिओंमें

भी पुनः कर्मानपेक्ष-ईश्वरवादी और कर्मसापेक्ष-ईश्वरवादी ऐसे दो उपभेद होते हैं.

स्पष्टतार्किकोंमें भोगसाधनादृष्टवादी ⊃ विदेहमुक्तिवादी ⊃ आत्मभेदवादी ⊃ कर्मानपेक्ष-ईश्वरवादी (६)नकुलीशपाशुपत होते हैं. जबकि स्पष्टतार्किकोंमें भोगसाधनादृष्टवादी ⊃ विदेहमुक्तिवादी ⊃ आत्मभेदवादी ⊃ कर्मसापेक्षवादी (७)शैव होते हैं. भोगसाधनादृष्टवादी ⊃ विदेहमुक्तिवादी ⊃ आत्मैक्यवादी (८)प्रत्यभिज्ञावादी होते हैं. भोगसाधनादृष्टवादी ⊃ जीवन्मुक्तिवादी ⊃ (९)रसेश्वरवादी होते हैं.

सगुणात्मवादी ⊃ तार्किक ⊃ स्पष्टतार्किक ⊃ उत्पत्तिसाधनादृष्टवादिओंके पुनः दो उपभेद होते हैं : शब्दको प्रमाणान्तरतया अस्वीकार करनेवाले (१०)वैशेषिक तथा उसे प्रमाणान्तरतया स्वीकारनेवाले (११)नैयायिक.

आस्तिक ⊃ सगुणतावादी ⊃ श्रौतोंके दो उपभेद वाक्यार्थवेदी (१२)मीमांसक होते हैं और (१३)पदार्थवेदी वैयाकरण होते हैं.

इसी तरह आस्तिक ⊃ निर्गुणात्मवादिओंमें भी तार्किक और श्रौत ऐसे दो उपभेदोंके अन्तर्गत तार्किकोंमें पुनः निरीश्वरवादी (१४)सांख्य होते हैं. ज़बकि सेश्वरवादी (१५)पातञ्जल होते हैं. आस्तिक ⊃ श्रौत ⊃ निर्गुणात्मवादी (१६)शांकर होते हैं. इस तरह कुल सोलह मतोंकी योजनाबद्धता प्रकट होती है[१३]

२.भारतीय दार्शनिक विचारधाराओंको एक-दूसरे प्रकारसे भी वर्गीकृत किया जा सकता है —

इस विकासरेखाका आरम्भबिन्दु चार्वाक दर्शन है और चरम विकास केवलाद्वैतवाद पर्यन्त सोचा जा सकता है. इस चरमविकासके सोपानपर भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यने क्षेत्रज्ञात्माका

स्वरूप देहसे भिन्न अक्षणिक कूटस्थनित्य निर्विकार विभु प्रत्यक्ष बोधरूप अजड़ शव्दातीत 'ईश्वरा'दिपदवाच्य कर्तृत्व-भोक्तृत्वरहित असंग निर्विशेष स्वीकारा है. अतः देहात्मवादी चार्वाक दर्शनकी तुलनामें बौद्ध दर्शन देहातिरिक्त अनित्य क्षणिक आत्मवादकी स्वीकृतिके वश करीब पड़ता है. आर्हत दर्शन आत्माको परिणामिनित्य माननेके कारण बौद्धोंकी तुलनामें और करीब आता है. रामानुज दर्शन आत्माको कूटस्थ नित्य मानता होनेके कारण और करीब पड़ता है. फिरभी रामानुजोंके मतमें आत्माको शरीरद्वारा विकारी भी माना गया जबकि माध्व वैसा नहीं मानते होनेके कारण कुछ और करीब आते हैं. माध्व मतमें आत्माको अणुपरिमाण माना गया है अतः उनकी तुलनामें माहेश्वर मत, जो उसे विभु मानते हैं निकटतर माने गये हैं. ये माहेश्वरवादी आत्माको दृग्रूप एवं क्रियारूप मानते हैं अतः इनकी तुलनामें केवल दृग्रूपतया आत्माको स्वीकारनेवाले वैशेषिक कुछ और करीब पड़ते हैं. परन्तु वैशेषिक आत्माको अनुमित्येकगम्य मानते हैं अतः इनकी तुलनामें नैयायिक इतरप्रमाणगम्य भी मानते होनेके कारण निकटतर होते हैं. नैयायिक आत्माको स्वरूपेण जड़ मान कर चैतन्यको आत्माके गुणरूपतया स्वीकारना चाहते होनेके कारण आत्माको बोधरूपतया स्वीकारनेवाले मीमांसकोंकी तुलनामें कुछ दूर पड़ते हैं. अंशभेदवशात् किन्तु आत्माको जड़तया स्वीकारनेके कारण इन मीमांसकोंकी तुलनामें पाणिनीयोंका मत आत्माको समग्रतया शव्दात्मक-चैतन्यात्मक स्वीकारता होनेके कारण केवलाद्वैतवादके समीपतर होता है. इनकी भी तुलनामें सांख्योंका मत आत्माको केवल ज्ञानस्वरूपतया स्वीकारनेके कारण और भी अधिक निकट माना जाता है. सांख्य परन्तु ईश्वरको नहीं स्वीकारते अतः सांख्योंकी तुलनामें ईश्वरास्तित्व स्वीकारनेवाले पातञ्जल केवलाद्वैतवादके निकटतर हैं[१४].

इस तरह हम देख सकते हैं कि सर्वदर्शनसंग्रह में जो एक विशिष्ट आनुपूर्वीसे ग्रन्थकारने विभिन्न मतोंको संकलित-योजित किया है उसमें ग्रन्थसम्पादक-भूमिकाकार श्रीवासुदेव शास्त्रीजीने एक योजनाबद्धता देखनी चाही है. उल्लेखनीय इसमें यह अवश्य है कि रामानुज-माध्वोंको श्रौत दर्शन न मान कर प्रच्छन्नतार्किक मतके रूपमें प्रस्तुत करना केवल केवलाद्वैतवादी दृष्टिकोण ही लगता है. क्योंकि श्रुतिवचनोंमें तर्कविरोधवश लाक्षणिक/गौण अर्थोकी कल्पना करनेके कारण यदि प्रच्छन्नतार्किकता आती हो तो "**यश्चोभयोः समो दोषः परिहारश्च ययोः समो न तत्रैकोऽनुयोज्यः स्याद् तादृगर्थविचारणे**" न्याय अनुसन्धेय होता है. इसके अलावा सगुणात्मवादिओंके अन्तर्गत भी श्रौत वर्ग जो "**सगुणात्मवादिनो द्विविधाः तार्किकाः श्रौताः च**" विधानद्वारा स्वयं भूमिकाकारद्वारा उद्भावित है उसमें रामानुज-माध्वोंका अपरिगणन विस्मयजनक लगता है! इसके अलावा स्वयं मूलकारद्वारा ही उपेक्षित होनेके कारण ब्रह्मनन्दी ब्रह्मदत्त भर्तृप्रपञ्च या भास्कराचार्य सदृश अन्यान्य शंकरपूर्व या समकालिक वेदान्तोंका स्थान इनमेंसे किस वर्गमें अन्तर्हित मानना यह पता न चलनेके कारण उपेक्षाका आरोप तो अप्रासंगिक ही होगा.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

जहां तक वाल्लभ दर्शनका इसमें स्थान कहां हो सकता है ऐसी जिज्ञासाका प्रश्न है तो स्वयं योजनाकार श्रीअभ्यंकर शास्त्रीके अनुसार तो जब रामानुज-माध्वोंका अन्तर्भाव प्रच्छन्नतार्किकोंमें हुवा है तो वाल्लभोंको उससे बेहतर स्थानकी अपेक्षा रखनी नहीं चाहिये. परन्तु उल्लिखित सभी मतोंमें वेदान्तान्तर्गत रामानुज अन्यथा काश्मीरप्रत्यभिज्ञा दर्शन भी वाल्लभ चिन्तनको अपने साथ प्रत्यासन्नतर लगते हैं. ब्रह्मनन्दी ब्रह्मदत्त भर्तृप्रपञ्च भास्कराचार्य अथवा श्रीपतिभगवत्पादाचार्य के स्थान यहां कहीं निर्दिष्ट होते तो वाल्लभ दर्शनको अपना स्थान खोज लेनेमें अधिक सुविधा होती.

षष्ठदृष्टि :

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश और वेदान्तकल्पलतिका ग्रन्थोंमें अन्यान्य मतोंको प्रत्याख्यानार्थ ही केवल संकलित करके प्रस्तुत किया है. इन दोनों ग्रन्थोंमें यद्यपि किसी भी प्रकारका वर्गीकरण तो शब्दशः निरूपणार्थ अभिप्रेत नहीं है तथापि क्रमशः शांकरवेदान्ताभिमत ईश्वरास्तित्व और शांकरवेदान्ताभिमत मोक्ष के बारेमें साम्प्रदायिक जो दृष्टिकोण हो सकता है ऐसे मतविभाग या योजना को कुछ इस तरह प्रकट किया गया है :

ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाश में : वेदोपनिषदोंका प्रमाणतया अस्वीकार करनेवाले और स्वीकारनेवाले यों नास्तिक दर्शन और आस्तिक दर्शन के रूपमें दो प्रभेद दिखलाये हैं. इनमें नास्तिक दर्शनोंमें चार्वाकको अनात्मवादी तथा अनीश्वरवादी माना गया है. बौद्ध दर्शनमें क्षणिक सर्वज्ञविज्ञानसन्तानरूप आत्मा या ईश्वर माने ही गये हैं ऐसा दिखलाया गया. दिगम्बरोंके मतमें देहादिव्यतिरिक्त देहमात्रपरिमाण अविनाशी आत्मारूप अर्हत्को ही परमेश्वरतया स्वीकारा जाना निरूपित हुवा है. जबकि आस्तिक दर्शनोके अन्तर्गत तो सभी चिन्तन वेदोंको प्रमाणतया स्वीकारते हैं और देहातिरिक्त आत्माको नित्य-विभु (सभी वैष्णव और कई शैव वेदान्ती जीवात्माको अणुपरिमाण स्वीकारते हैं इस तथ्यकी उपेक्षा विस्मयजनक प्रतीत होती है!) परन्तु, परमेश्वरको कुछ आस्तिक स्वीकारते हैं और कुछ नहीं, ऐसा प्रतिपादन किया गया है. इन आस्तिक दर्शनोंमें पातञ्जलोंको आत्मवादी तथा ईश्वरवादी माना गया है. इसी तरह नैयायिक-वैशेषिकोंको भी. ईश्वरवादिओंमें पाशुपत पाञ्चरात्र एवं हैरण्यगर्भ क्रमशः शिव विष्णु और हिरण्यगर्भ को परमेश्वरतया स्वीकारते हैं, ऐसा निरूपित किया गया है. सांख्योंको आत्मवादी + अनीश्वरवादी स्वीकारा गया है. (पूर्वमीमांसकोंका उल्लेख करना क्यों भूल गये यह पता नहीं चलता!). ब्रह्मवादी

अर्थात् वेदान्तिओंके मतमें उपनिषद्वेद्य सर्वज्ञ सर्वशक्ति अभिन्ननिमित्तोपादनरूप परमेश्वरके साकार / निराकारतया दो भेद दिखला कर इनमें साकारके चार अवान्तरभेद पुरुष ब्रह्मा विष्णु महेश्वर प्रतिपादित किये हैं. शैव तन्त्रके अनुसार ईश्वरके अन्तर्गत ब्रह्मा विष्णु महादेव को साकार और सदाशिवको निराकार स्वीकारा गया है ऐसा प्रतिपादन किया है. विधान्तरतया नृसिंहतापनीयके अनुसार ओत अनुज्ञाता अनुज्ञ और अविकल्प रूपी ईश्वरभेदोंमें, क्रमशः, पञ्चीकृतमहाभूताभिमानी विराट्का अन्तर्यामी परमात्मा 'ओत' या 'अनिरुद्ध' कहलाता है. अपञ्चीकृतमहाभूताभिमानी जीव 'हिरण्यगर्भ' और उसका अन्तर्यामी 'अनुज्ञाता' कहलाता है, इसे ही 'प्रद्युम्न' नाम्ना भी जाना जाता है. इसी तरह सत्त्वादि गुणत्रयीकी मायारूप उपाधिसे उपहित सर्वबीजरूपको 'संकर्षण' कहा जाता है. इसी संकर्षणकी त्रिगुणात्मिका मायाके एक-एक गुणोंसे अवच्छिन्न ब्रह्मा विष्णु और शिव होते हैं. अन्तमें सर्वोपाधिविनिर्मुक्त अविकल्प वासुदेव परमात्मा मोक्षका अवलम्बन होता है और इसीकी जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय यों चार अवस्था होती हैं, ऐसा प्रतिपादन किया है[१५]

वेदान्तकल्पलतिका में : मोक्षके प्रकारभेदोंकी विवेचनामें चार्वाक विज्ञानवादी माध्यमिक आर्हत काणाद नैयायिक प्राभाकर भाट्ट सांख्य पातञ्जल त्रिदण्डी 'केचित्'नामा (भास्कराचार्य तथा भर्तृप्रपञ्च) पाशुपत वैष्णव तथा हैरण्यगर्भ यों इन मतोंका अनौपनिषद मतोंके रूपमें एक वर्ग दिखलाया गया है; और, दूसरेमें स्वयं केवलाद्वैतवादी वेदान्त सम्प्रदायको औपनिषद दर्शनके रूपमें प्रस्तुत किया गया है[१६]

स्पष्ट है कि यह विभाजन अतीव स्थूल और केवल स्वसम्प्रदायोत्कर्ष

प्रतिपादनार्थ ही है. क्योंकि उपनिषत्तात्पर्यविवेचन भगवद्गीतातात्पर्यविवेचन और ब्रह्मसूत्रतात्पर्यविवेचन के बावजूद, स्वसम्प्रदायाभिप्रेतार्थसे विपरीत होनेके कारण ही केवल वैष्णव और शैव वेदान्त अनौपनिषदिक मत हो जाते हों तो, केवलाद्वैत वेदान्त भी शैव-वैष्णव वेदान्तसे विपरीत होनेके कारण अनौपनिषदिक मत बन जायेगा. इनके अलावा भास्करवेदान्त और भैक्षववेदान्त के बारेमें मौनधारण प्रस्तुत योजनाकी असर्वग्राहिताका ही प्रकट प्रमाण है. अस्तु.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

इस योजनामें निम्बार्क-भास्कर-रामानुज-माध्व-श्रीपतिभगत्पादाचार्य आदि अनेक वेदान्तविचारधाराओंकी उपेक्षा की गयी होनेसे वाल्लभ वेदान्तके लिये कोई प्रदानार्ह स्थान योजनाकारके अनुसार होना अभिलषित नहीं लगता. फिरभी साकारेश्वरवादान्तर्गत परमेश्वरको अभिन्ननिमित्तोपादान वाल्लभ वेदान्त स्वीकारता ही है. मुक्तिके बारेमें तो अनौपनिषदिक वर्गमें ही अकारण ही योजनाकारके अनुसार वाल्लभ वेदान्तको सोचना पड़ेगा !

सप्तमदृष्टि :

जयपुरस्थ विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदन शर्माने अपने सदसद्वादो ब्रह्मविज्ञानम् नामक ग्रन्थमें [क]सद्वाद [ख]असद्वाद और [ग]सदसद्वाद मौलिक रूपोंमें कृष्णयजुर्वेद सामवेद तथा शुक्लयजुर्वेद के विभिन्न वचनोंमें ही उपलब्ध हो जाते हैं, ऐसा दिखला कर [१]प्रत्यय [२]प्रकृति [३]तादात्म्य [४]अभिकार्य [५]गुण [६]सामञ्जस्य और [७]अक्षर यों सात मूल वर्ग और इन सातों ही वर्गोंके पुनः उल्लिखित सद्-असद्-सदसद् रूपी त्रिविध अवान्तर विकल्पोंद्वारा कुल इक्कीस प्रभेदोंवाली एक योजना समझायी है[(१७)]

इनके अन्तर्गत अवान्तर प्रभेद इस तरह प्रस्तुत किये गये हैं : [१/क]नित्यविज्ञानाद्वैतवादी ब्राह्मणमत [१/ख]अनित्यविज्ञानाद्वैतवादी श्रमणमत

[१/ग]आनन्दविज्ञानाद्वैतवादी मध्यस्थमत, [२/क]ब्रह्माद्वैतवादी अविनाशिमत [२/ख]कर्माद्वैतवादी वैनाशिकमत [२/ग]द्वैताद्वैतवादी वैनाशिकवदविनाशिमत, [३/क]धर्मिप्राधान्यवादी ब्राह्मणमत [३/ख]धर्मप्राधान्यवादी श्रमणमत [३/ग]धर्मधर्म्यभेदवादी मध्यस्थमत, [४/क]सत्कार्यवादी सांख्यमत [४/ख]असत्कार्यवादी वैशेषिक [४/ग]मिथ्याकार्यवादी केवलाद्वैतवेदान्ती, [५/क]सन्मूलसृष्टिवादी सामवेदीया दृष्टि [५/ख]असन्मूलसृष्टिवादी कृष्णयजुर्वेदीया दृष्टि [५/ग]सदसन्मूलसृष्टिवादी शुक्लयजुर्वेदीया दृष्टि, [६/क]उत्पत्तिनाशशीलप्रकृतिकारणतावादी सांख्य [६/ख]प्रागभावकारणतावादी नैयायिक [६/ग]विद्याविद्याप्रकृतिवादी वेदान्ती, [७/क]गुणत्रयाव्यक्तबीजत्ववादी सांख्यमत [७/ख]बलै(कर्म)काव्यक्तबीजत्ववादी वैनाशिकमत [७/ग]अक्षरैकाव्यक्तबीजत्ववादी बादरायणमत (इन्हें यथानिर्दिष्ट क्रमके अनुसार देनेके बजाय प्रस्तुत लेखकने सरल क्रमिकताके अनुसार यहां उद्धृत किया है).

वैसे योजना यह काफी रोचक प्रतीत होती है परन्तु इनमें प्रथम और द्वितीय [१-२/क-ख-ग]विभागोंमें क्योंकि ज्ञानसन्तती या कर्मसन्तती के प्रवाहमें प्रवाहान्तःपाती कर्म या विज्ञान व्यक्तिओंका श्रमणमतमें तो अद्वैत माना ही नहीं गया है. अतः यह विचारणीय वर्गीकरण बन जाता है. क्योंकि बौद्धोंके सभी सम्प्रदायोंमें व्यक्तिओंमें निष्ठ सामान्य धर्मका अद्वैत तो भ्रान्तिविषय ही माना गया है. इसी तरह प्रवाहकी द्रव्यता अनभिमत होनेसे प्रवाहके स्वरूपका अद्वैत भी वास्तविक सिद्ध नहीं हो पाता. योगाचार तथा माध्यमिक बौद्धोंके मतोंमें अवश्य ही विज्ञानाद्वैत और शून्याद्वैत की चर्चा है किन्तु वह तत्तदतिरिक्त द्वैतके निरसनार्थ ही है नकि विज्ञानैकत्व या शून्यैकत्व के प्रतिपादनार्थ. अतः श्रमणोंको या वैनाशिकोंको अनित्यविज्ञानाद्वैतवादी या कर्माद्वैतवादी मानना कहां तक उपपन्न हो सकता है यह विचारणीय लगता है. रही बात [४/ग]विभागमें केवलाद्वैतवादिओंकी तो, वे तो कार्यको सदसद्विलक्षण मानते हैं अतः ऐसी स्थितिमें उन्हें 'सदसद्वादी' कहना कहां तक उचित माना जा सकता है? इसके अलावा इस योजनामें नास्तिकमतोंमें चार्वाक-जैनोंके मतोंका अनुल्लेख, ईश्वरवादी मतोंमें अन्यान्य शैव वैष्णव

दर्शनोंका अनुल्लेख; तथा, वेदान्तमें केवल केवलाद्वैतवेदान्तका ही परिग्रह इस योजनाकी असर्वग्राहिताको प्रकट करता है. अतः इस योजनाके विस्तृत विमर्शार्थ अग्रसर हुवे बिना इसे यहीं उपसंहृत कर देना उपयुक्त होगा. वैसे इस प्रसंगमें यह स्पष्ट कर देनेके लोभका हम संवरण नहीं कर पाते कि इन श्रीमधुसूदन शर्माजीका वेदान्तचिन्तन वाल्लभ वेदान्तके स्थूलरूपमें साथ अत्यधिक सालक्षण्य प्रकट करता है, अनेक सूक्ष्म प्रक्रियाओंमें दोनों मतोंके बीच रही विभिन्नताके बावजूद.

अष्टमदृष्टि :

भारतीय दर्शनकी विकासरेखामें झलकती योजनाबद्धताको खोजनेके जितने भी प्रयास हुवे उनमें १९२५ सालमें प्रकाशित श्रीलक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्य प्रणीत प्रमेय-प्रमाण-प्रयोजनरूप काण्डत्रयात्मक मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक, मेरी जानकारीमें, इस दिशामें सर्वाधिक महत्त्वशाली प्रतीत होता है. ग्रन्थके प्रमेयकाण्डान्तर्गत प्रथम परिच्छेदके चतुर्थ 'सिद्धान्तविचार' नामक प्रकरणमें ग्रन्थकारने इस विषयपर अपने विचार प्रदर्शित किये हैं. ग्रन्थकार कहते हैं—

> प्रामाणिकतया ज्ञात अर्थको 'सिद्धान्त' कहा जाता है. यदि कोई कहे कि सभी सिद्धान्त परस्पर विरोधी तथा तत्तद्व्यक्तिओंके हठाग्रहके अनुरूप प्रस्तुत या प्रस्तावित होते हैं. अतः प्रामाणिकतया ज्ञात किसी पदार्थका स्वीकार ही शक्य नहीं लगता, तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि स्वयं इस विधानसे सिद्ध की जाती धारणाको प्रमाणिकतया ज्ञात या प्रामाणिकतया अज्ञात मानना? दोनों ही स्थितिमें कुछ धारणाओंका सिद्धान्त होना सिद्ध हो जाता है. ऐसे सिद्धान्तोंके विविध प्रकारोंमें सर्वप्रथम संख्यैकान्तवाद और संख्यानेकान्तवादके भेदवश दो प्रकार सामने आते हैं. इनमें एकसे लेकर छत्तीस या अधिक भी संख्यैकान्तवाद दिखलायी देते हैं.
>
> उदाहरणतया : १.सब कुछ शून्य है ऐसा शून्याद्वैतवाद, सब कुछ विज्ञानमात्र है ऐसा विज्ञानाद्वैतवाद, सब कुछ सत् है ऐसा सदद्वैतवाद, सब कुछ केवल शब्दरूप होता है ऐसा शब्दाद्वैतवाद इत्यादि एकत्वसंख्यैकान्तवादके उदाहरण माने जा सकते हैं. २.इसी तरह द्वित्वसंख्यैकान्तवादके उदाहरण सब कुछ नित्य/अनित्य या जड़/चेतन रूप होता है, ऐसी धारणा बनती हैं. ३.सब कुछ ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयान्यतमात्मना त्रिविध होता है, ऐसे मानना त्रित्वसंख्यैकान्तवाद है. ४.मातृ-मान-मिति-मेयात्मना चतुःसंख्यैकान्तवादी भी हो सकते हैं. ५.बौद्ध पञ्चस्कन्धैकान्तवादी होते हैं. ६.जैन भी षड्द्रव्यैकान्तवादी होते हैं. ७.वैशेषिक-नैयायिक सप्त या षोडश पदार्थैकान्तवादी होते हैं. इत्यादि-इत्यादि.
>
> इसी तरह स्वस्वाभिमत तत्त्वोंकी कोई निश्चित संख्या स्वीकारनेके बावजूद कोई चिन्तक सिद्धान्ततया संख्यानेकान्तवादी भी हो सकता है, जिसे अनुभूतिगोचर जगत्को किसी निश्चित संख्यामें इदमित्थतया बांधना स्वयं अनुभूतिविरुद्ध कथा लगती है.
>
> केवल संख्याको मानदण्डतया स्वीकारनेके बजाय अन्य भी मानदण्डोंके आधारपर दर्शनोंकी समीक्षा करनेपर लौकायतिक जैसे बाह्यार्थमात्रसत्तावादी होते हैं, ऐसे ही योगाचार-बौद्ध आन्तरमात्रसत्तावादी होते हैं. कापिल बाह्याभ्यन्तर उभयसत्तावादी होते हैं.
>
> कुछ चिन्तक शरीरान्तःस्थित पुरुषोंमें अन्यतम पुरुष ईश्वरको शरीरान्तःस्थित पुरुषोंसे पृथक् पदार्थ माननेवाले होते हैं, तो

दूसरे उसे पृथक्तया स्वीकार नहीं करते (अर्थात् कुछ उसे कथञ्चित् पृथक् तो कथञ्चिद् अपृथक् भी स्वीकारते ही हैं)*.

कुछ चिन्तक द्रव्यपदार्थवादी होते हैं तो कुछ चिन्तक महासामान्यरूप सदेकपदार्थतामें मानते हैं.

कुछ वस्तुमात्रको गुणसंघाततया माननेवाले केवल गुणैकपदार्थवादी होते है. तो अन्य कुछ गुण और द्रव्यों के भेदको स्वीकार कर गुण-द्रव्यरूप पदार्थद्वैतवादी होते हैं. तीसरे कुछ द्रव्य-गुण-कर्मरूप पदार्थत्रयवादी भी होते हैं.

इसी तरह कुछ विशेषवादी तो कुछ सामान्यवादी, कुछ इन दोनोंके बीच भेद स्वीकारनेवाले तो कुछ इनके बीच ऐक्य स्वीकारनेवाले होते हैं तो तीसरे इन दोनोंके बीच तादात्म्य अर्थात् भेदाभेद (तो अन्य भेदाभेदवैलक्षण्य! भी)* स्वीकारनेवाले होते हैं.

इसी तरह कुछ चिन्तक अनात्मवादी होते हैं, तो अन्य कुछ आत्मवादी, इनमें भी कुछ द्वैतवादी तो कुछ अद्वैतवादी होते हैं.

कुछ जीवैक्यवादी होते हैं तो कुछ ब्रह्मैक्यवादी होते हैं. कुछ ब्रह्म-जीवके बीच भेदवादी होते हैं तो अन्य कुछ अभेदवादी तो अन्य कुछ तादात्म्यवादी भी होते हैं.

इसी तरह भावाभाव कार्यकारण नित्यानित्य मानमेय द्रव्याद्रव्य के बीच भेद/अभेद/भेदाभेद/उभयवैलक्षण्य के आधारपर अनेक प्रकार दर्शनोंके बनते हैं.

* कोष्ठान्तर्गत अंश प्रस्तुत लेखकीय संसूचन है.

इसी तरह तत्तत् पदार्थोके बारेमें सद् असद् सदसद् सदसद्वैलक्षण्य मेंसे कोई एक स्वरूप उपपन्न होता है या नहीं इस विकल्पके कारण सदेकान्त असदेकान्त सदसदेकान्त और उभयवैलक्षण्य के चतुर्धा विकल्प बनते हैं. इनमें नय-प्रमाणके तारतम्यस्वीकारके साथ सभी विकल्पोंको पक्षपातरहित हो कर एक साथ स्वीकारनेवाले अनेकान्तवादी जैन होते हैं. सभी पक्षोंमें से किसी भी पक्षको न स्वीकारनेवाले गौडपाद जैसे वेदान्तीके अलावा उन सभी विकल्पोंका प्रत्याख्यान करनेवाले माध्यमिक बौद्ध भी होते हैं[१८].

मेरे हिसाबसे मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिककारने उक्तानुक्तदुरुक्तके चिन्तनरूप अपने उत्तरदायित्वका भलीभांति निर्वाह करते हुवे अतीव व्यापक तथा प्रमाणिक अनेकविध योजनाओंकी खोज इस तरह करनेका एक व्यवस्थित प्रयास किया है. यह और बात है कि इतने सारे प्रकारोंको प्रस्तावित करना ''कृतमप्यकृतमिव भवति'' जैसी बात लगती है. इसे परन्तु ''स्थितस्य गतिः चिन्तनीया''की मनोवृत्ति रख कर निहारनेपर उतनी असमञ्जस बात नहीं लगेगी जितनी कि भारतीय दार्शनिक चिन्तनके विकासको सर्वथा अयोजनाबद्ध ही मान बैठना. उदाहरणतया 'अच्'प्रत्यहारमें 'एच्'प्रत्याहारके अन्तर्भूत होनेके बावजूद गुणसन्धि और वृद्धिसन्धि के सूत्र पाणिनिको पृथक्-पृथक् बनाने पड़े! वह बोलनेकी प्रक्रियामें संस्कृतभाषामें प्रकट होती अनेकरूपताके वश करना ही पड़ा, ऐसी ही कुछ बात यहां भी स्वीकार लेनी चाहिये.

वाल्लभ दर्शनका स्थान :

स्पष्ट है कि मानमेयरहस्यवार्तिककारके अनुसार : सब कुछ सत् है ऐसा सदद्वैतवादी वाल्लभ वेदान्त है ही. साथ उस सद्रूप ब्रह्मके अद्वैतमें स्वयं उसके सर्वविध नामरूपकर्मात्मना प्रकट होनेके संकल्प एवं सामर्थ्य के कारण द्वित्व प्रकट तो होता है परन्तु यह द्वित्व

एकान्तिक नहीं होता. अतः द्वित्वसंख्यैकान्तवादके उदाहरण सब कुछ नित्य/अनित्य या जड़/चेतन रूप होता है, ऐसी धारणा बनती हैं. यहां अंशतः स्वीकार ही सिद्धान्ताभिमत है. अतएव इस ऐच्छिक द्वैतके विचारवश भगवल्लीलामें सब कुछ मातृ-मान-मिति-मेयात्मना चतुःसंख्याक होता है परन्तु ब्रह्म ही इन सभी रूपोंमें प्रकट हुवा मान्य होनेसे वाल्लभ दर्शन चतुःसंख्यैकान्तवादी नहीं है. अतएव योजनाकारके इस विधान **"इसी तरह स्वस्वाभिमत तत्त्वोंकी कोई निश्चित संख्या स्वीकारनेके बावजूद कोई चिन्तक सिद्धान्ततया संख्यानेकान्तवादी भी हो सकता है, जिसे अनुभूतिगोचर जगत्को किसी निश्चित संख्यामें इदमित्थतया बांधना स्वयं अनुभूतिविरुद्ध कथा लगती है"** इस सन्दर्भमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके प्रस्तुत उद्गार मननीय लगते हैं **"अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेः मतम्"-"सर्वैरेव यथा निरूप्यते तथा भगवान् भवति इति तत्र उपपत्तिम् आह 'वाच्यवाचकशक्तये' इति. 'वाच्यो' अर्थः 'वाचकः' शब्दः. उभयत्रापि शक्तयो यस्य. यथैव अर्थं वक्तुम् इच्छति तथैव अर्थो भवति तं प्रति"** (सि.मु.४-५, सुबो.१०।१३।४६). अतएव ब्रह्मबाह्य कुछ भी स्वीकार्य न होनेपर भी लौकिक ज्ञानके सन्दर्भमें ज्ञेयार्थ ज्ञानबाह्य हो सकता है. इसी तरह शरीरान्तःस्थित पुरुषस्वरूपके जिज्ञास्य होनेपर वाल्लभ दर्शन प्रत्येक शरीरमें ब्रह्मके अक्षरस्वरूपके चिदंशतया जीवात्माकी उपस्थिति स्वीकारता है वैसे ही ब्रह्माण्डमूर्ति नारायणके आनन्दांशरूप अन्तर्यामीकी उपस्थिति स्वीकारता ही है. इन दोनोंके बीच भेदाभेदविलक्षण तादात्म्य ही वाल्लभ दर्शन स्वीकारता है. इसी तरह अन्य भी विधाओंके अन्तर्गत वाल्लभ दर्शनका स्थान यहां इस योजनामें सरलतया निर्धारित हो पाता है.

नवमदृष्टि :

इन सभी पूर्वप्रयासोंको दृष्टिगत करनेपर तथा पाश्चात्य दर्शनोंके

भी कुछ वैचारिक उपादानोंको लक्ष्यगत रखनेपर भारतीय दर्शनोंके विकासकी रेखाके कुछ तुलनात्मक पहलु जो सामने आते हैं, उनकी पूर्वभूमिका मैं कुछ इस तरह बांधना चाहता हूं :

भारतीय दर्शनमें जिसे 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष', 'सविकल्पक प्रत्यक्ष / विकल्पाध्यवसाय' और परोक्षापरोक्ष वस्तुविषयक 'प्रत्यय / विकल्पना' कहा जाता है, इनके अनुरूप त्रिविध प्रमाणलक्षणोंके मतभेद भी प्रकट हुवे हैं, लक्षणशः, १.**"यथार्थानुभवः प्रमाणं"**, २.**"अविसंवादिफलप्रवृत्तिजनकं ज्ञानं प्रमाणं"**, ३.**"अनधिगताबाधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रमाणं"**. इन्हीं मतभेदोंके समानान्तर पाश्चात्य दर्शनमें भी sensation, perception और conception यों ज्ञानके त्रिविध प्रकार स्वीकारे गये हैं. एतदनुरूप ही sensedata, percept और concept यों ज्ञानके विषयोंके भी तीन प्रकार बनते हैं. साथ ही साथ प्रामाण्यमीमांसामें प्रामाण्यके बारेमें भी त्रिविध लक्षणोंके अनुरूप जो तीन सिद्धान्त या वाद प्रवृत्त हुवे हैं. वे नामशः यों हैं : 1.Theory of Correspondence, 2.Theory of Utility और 3.Theory of Coherence. स्पष्ट है कि ये भी क्रमशः भारतीय त्रिविध प्रमाणलक्षणोंके अनुरूप या समानान्तर ही हैं.

इस सन्दर्भमें यह नितान्त अवधारणीय है कि ज्ञानके इन तीनों स्तरोंको वस्तुप्रमाण वस्तुव्यवहार और वस्तुलक्षणबोध के हेतु अपरिहार्यतया स्वीकारना ही चाहिये. अन्यथा ज्ञानमीमांसा अधूरी रह जाती है. साथ ही साथ इस दृष्टिसे इन तीनोंको निहारनेपर :

Sensedata को सत् (Being) न माननेपर वह सचेतन व्यक्तिमें Sensation जननरूपा अर्थक्रियाके कारकहेतुतया भी सिद्ध नहीं हो पायेगा.

ऐसी स्थितिमें Sensesation को Sensedata का ज्ञापकहेतु भी मानना सम्भव नहीं रह जायेगा. और स्पष्ट है कि यह तो वदतोव्याघात और/अथवा व्यवहरतोव्याघात के बिना शक्य ही नहीं!

जहां तक सविकल्पकप्रत्यक्ष या विकल्पाध्यवसाय प्रश्न है तो वहां पूर्वोक्त सत्के रूपतया अथवा विकल्पतया कुछ गृहीत तो होता ही है. परन्तु ज्ञानके इसी दूसरे स्तरके अनेकविध अवान्तर प्रकारभेद, नामशः, विकल्पाध्यवसाय विकल्पानध्यवसाय विकल्पसंशय विकल्पभ्रान्ति आदि होते हैं. और अतएव वे रूप या विकल्प (Percept) गृह्यमाण देश-कालमें बाह्यार्थतया विद्यमान (Existing) होते हैं या नहीं, यह विभिन्न दर्शनोंके बीच भीषण विवादभूमि बन गयी है. लोकव्यवहार, परन्तु, सर्वथा एतन्मूलक ही होता है और उसे प्रामाणिक मानना या नहीं यह तो विभिन्न दर्शनोंके अपने-अपने सिद्धान्तोंकी कथा है. अर्थात् क्या बाह्यार्थ सत्के जो विकल्प गृहीत होते हैं वे विकल्पाध्यवसायके कारकहेतु होते हैं या नहीं? अथवा क्या विकल्पाध्यवसाय स्वगृह्यमाण विकल्पोंका ज्ञापकहेतु न हो कर केवल विकल्पकल्पना मात्र है?

इसी तरह ज्ञानके तीसरे स्तर परोक्षापरोक्ष वस्तुविषयक प्रत्यय, नाम या विकल्पना अर्थात् Conception और Concept आते हैं. इसे अन्यान्यविध उपलक्षण उपाधि आगन्तुक या स्वाभाविक विशेषण रूप अन्यसाधारण धर्मोंके साथ-साथ अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवदोषोंसे रहित लक्षणरूप धर्मोंके भी ग्रहण अथवा निरूपण के रूपमें भी स्वीकारना चाहिये. ये अनितरसाधारणधर्म लोकव्यवहारमें अतीव उपयोगी नहीं होते. क्योंकि, उदाहरणतया, लोकव्यवहारमें 'पक्षी' पदका अर्थ पक्षवान् प्राणीके रूपमें ही सोचा-विचारा जायेगा. ये पक्ष, परन्तु, ऐसे प्राणिओंके अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भव दोषोंसे रहित धर्म नहीं हो पाते मशक-मक्षिका आदिमें अतिव्याप्त होनेके कारण. जबकि 'चञ्चुमत्ता' ऐसा धर्म हो सकता है परन्तु इसपर लोकव्यवहार सहसा निर्भर नहीं

हो पाता है. अतः प्रश्न यहां भी अपना सुरसासदृश विकराल मुंह बाये सामने खड़ा ही रहता है कि क्या इन conception और Concept के बीच परस्पर ज्ञापकहेतु और कारकहेतु होनेका सम्बन्ध रहता है या नहीं? क्या इस तरहके प्रत्यय वस्तुतः कहीं वस्तुतादात्म्येन अथवा वस्तुसमवेततया समाश्रित (Subsisting) होते हैं या नहीं? अथवा वस्तुद्रष्टाकी ये कल्पनामात्र होते हैं?

इन प्रश्नोंके उत्तर मतभेदवशात् भिन्न-भिन्न ही मिलेंगे. हर स्थितिमें बाह्यार्थ वस्तुजनित निर्विकल्प प्रत्यक्ष और चेतनाद्वारा उसे किस प्रत्ययके रूपमें अनूदित वर्गीकृत संगृहीत तथा व्याख्यायित किया जाता है, यों इन उभयविध ज्ञानके स्तरोंके पारस्परिक सहयोगके बिना सविकल्पप्रत्यक्ष या विकल्पाध्यवसाय रूप ज्ञानका द्वितीय स्तर प्रकट हो नहीं सकता, इतना तो निश्चयेन कहा जा सकता है.

इनमें निर्विकल्पप्रत्यक्ष और तद्विषयीभूत अर्थके बीच प्रामाण्यके अवधारणार्थ याथार्थ्य; अर्थात्, अनुभूतिका अर्थानतिवर्तित्व होना अर्थात् Theory of Correspondence को अपरिहार्य मानना चाहिये. क्योंकि बाह्यार्थ निर्विकल्पका कारकहेतु (ratio ascendie) होता है और निर्विकल्पकप्रत्यक्ष बाह्यार्थका ज्ञापकहेतु (ratio cogniscendie) होता है. स्पष्ट है कि ऐसी स्थितिमें प्रामाण्यका निकष याथार्थ्य=अर्थानतिवर्तित्व ही हो सकता है.

जहां तक सविकल्पकप्रत्यक्ष अर्थात् विकल्पाध्यवसाय का प्रश्न उठता है तो ऐसे प्रत्यक्षमें यदि फलाविसंवादिप्रवृत्तिजनकता अर्थात् Theory of Utility मान्य न हो तो ऐसे सविकल्पप्रत्यक्षको प्रामाणिक मानने सहसा कोई उद्यत नहीं हो पायेगा.

इसी तरह ज्ञानके तीसरे स्तरपर अर्थात् परोक्षापरोक्ष वस्तुविषयक

ज्ञान या वस्तुप्रत्यय के बारेमें "अनधिगत-अबाधितार्थविषयकं ज्ञानं प्रमाणं" लक्षणको कारगर मानना चाहिये. अर्थात् तदनुरूप पाश्चात्य दर्शनमें Theory of Coherence यहां कारगर सिद्ध हो पायेगी. क्योंकि ऐसी स्थितिमें दो प्रत्ययोंके बीच परस्पर अबाधितता/अबाध्यता और प्रत्ययार्थ वस्तुकी अन्यथा अनधिगतता ही प्रत्ययको प्रमाणपदवीपर आरूढ़ होनेका अधिकारी बनाती है.

इस प्राथमिक स्पष्टीकरणके बाद अब यह सुखेन समझा जा सकता है कि ज्ञानके इन तीनों स्तरोंके बारेमें जो अनेकविध वैकल्पिक दृष्टियां चिन्तकोंने अपनायी हैं उनके पाश्चात्य तर्कशास्त्रीय A E I O और U Propositins की तरह पांच प्रकार हो सकते हैं. यथा :—

A = सभी दृष्टियां प्रामाणिक हैं.
E = कोई भी दृष्टि प्रामाणिक नहीं होती.
I = कुछ दृष्टियां प्रामाणिक होती हैं.
O = कुछ दृष्टियां प्रामाणिक नहीं होती.
U = कोई एक ही दृष्टि प्रामाणिक होती है.

इनमें A विधामे सर्वदृष्टिओंपर अनुग्रह प्रकट होता है. E विधामें सर्वदृष्टिप्रहाण है. I / O विधाओंमें कतिपय दृष्टिओंपर अनुग्रह या कतिपय दृष्टिओंका प्रहाण है. अन्तिम U विधामें किसी एक दृष्टिपर अनुग्रह अथवा किसी एक दृष्टिका प्रहाण प्रकट हो सकता है.

सर्वप्रथम U विधाके मूलमें जो अनुग्रह या प्रहाण रूप दो भेद होते हैं, उनमें प्रहाणके पुनः दो अवान्तर भेद यों सोचे जा सकते हैं कि प्रहाण केवल स्वार्थ या परार्थ भी हो सकता है. उदारणतया गीतोपदिष्ट स्वपरधर्मद्वैतवादके अंगीकारमें परधर्मका स्वार्थ प्रहाण

अभिप्रेत होनेपर भी परार्थ प्रहाण अभिप्रेत नहीं होता. केवल अपने धर्मको सच्चा माननेवालोंके मतमें जबकि परधर्मका परार्थ भी प्रहाण अभिप्रेत होता है. जैसे कि किसी एक किताबके अलावा अन्य किसी भी किताबका अनुसरण किसीको काफिर बना देता होनेसे परार्थ भी प्रहाण अभिप्रेत माना जा सकता है. यहां यह अवधेय है कि पाश्चात्य तर्कशास्त्राभिमत विकल्पके जैसे मृदु और कठोर दो प्रभेद स्वीकारे गये हैं. इन प्रभेदोंके बीच कठोरविकल्पतया [स्वदृष्टि / स्वीयेतरदृष्टि] रूप स्वीयेतरदृष्टिप्रहाण अभिप्रेत होता है. यहां स्वदृष्टि और स्वीयेतरदृष्टि यों दोनों दृष्टियां एक साथ सत्य नहीं हो सकती. इसके विपरीत स्वीयेतर दृष्टिपर अनुग्रहके भी इसी तरह दो उपभेद हो सकते हैं. उदाहरणतया प्रायः एकदेशिमतको अस्वमत मान कर भी वैकल्पिकतया अनिरसनीय मान लिया जाता है. अथवा कभी ऐसा भी होता है कि अन्यमतका अपने मतमें अन्तर्भाव दिखला दिया जाता है. इस तरहके इन दो उपभेदोंको यों समझा सकता है : [१]वैकल्पिकताके अंगीकारवश अनुग्रह [स्वदृष्टि v स्वीयेतरदृष्टि]. यहां द्वितीय मृदुविकल्पतया स्वदृष्टि और स्वीयेतरदृष्टि दोनों ही स्वार्थ-परार्थभेदवश सत्य हो सकती हैं. उदाहरणतया शिवोपासकार्थ शिवका परदेवत्ववाद विष्णूपासकार्थ विष्णुका परदेवत्ववाद यों दोनों ही प्रामाणिक माने जा सकते हैं. [२]एकदेशिताके अंगीकारवश अनुग्रह[स्वदृष्टि = A ⊃ I = स्वीयेतरदृष्टि]. यहां स्वमतमें परमतका अन्तर्भाव जैसे सप्तपदार्थवादिओंने षोडशपदार्थवादिओंके पदार्थोंका सप्त पदार्थोंमें अन्तर्भाव प्रतिपादित कर दिया. यह लगभग वैसी ही स्थिति है जो गौतमसूत्र(१।१।२६)में प्रतिपादित तन्त्रसिद्धान्त और अधिकरणसिद्धान्त के बीच स्वीकारी गयी है.

I और O propositions तो इतरेतरनिषेधमुखतया इतरेतर-अर्थापत्तिमें पर्यवसित होते होनेसे, एक ही बातके केवल विधिमुख या निषेधमुख कहनेके विधागत भेद ही हैं. अतः इस प्रकारकी विवेचनाके

विस्तारमें जाना बहुत आवश्यक नहीं लगता.

A और E विधाओंमें क्रमशः सर्वदृष्ट्यनुग्रह और सर्वदृष्टिप्रहाण निरूपित होता है. इनमें सर्वदृष्टिप्रहाणके जैसे तीन अवान्तर प्रभेद होते हैं वैसे ही तीन ही अवान्तर प्रभेद सर्वदृष्ट्यनुग्रहके भी होते हैं. यों कुल छह प्रभेद होते हैं : [1]तत्त्वाज्ञेयतांगीकृतिमूलक प्रहाण [2]तत्त्वाज्ञाततांगीकृतिमूलक प्रहाण [3]तत्त्वसन्दिग्धतांगीकृतिमूलक प्रहाण [4]परमार्थापरमार्थभेदांगीकृतिमूलक अनुग्रह [5]प्रमाण-नयभेदांगीकृतिमूलक अनुग्रह [6]सर्वात्मतांगीकृतिमूलक अनुग्रह.

अब इन्हें सविवरण इस तरह समझा जा सकता है :

[1]वैसे तो माध्यमिकोंके भी अनेक भेदोपभेद हैं परन्तु शून्यता या तथता चतुष्कोट्यतीत पञ्चमी कोटी है या केवल चतुष्कोटिविर्निमोक अर्थात् चारों कोटियोंका केवल अपोहन या निरसन? इस विषयमें भगवान् बुद्धके अभिप्रायोंका अनुसरण करना हो तो स्वीकारना ही पड़ेगा कि शून्यता पांचवीं कोई पदार्थकोटि न हो कर केवल चार कोटिओंका शाब्दिक निषेधमात्र है, अर्थात् वह सर्वविध वाच्योंका अपोहन केवल है. जैनोंने जैसे पांचवीं छट्ठी और सातवीं कोटियां भी इस विवादमें प्रस्तावित की उनमेंसे कोई एक कोटी आग्रहिलतया भगवान् बुद्धके समक्ष प्रस्तुत की जाये तो उसका भी निरसन ही भगवान् बुद्धको अभिप्रेत होगा. इसे परवर्ती योगाचार तथा माध्यमिक दोनोंके पूर्वोद्धृत तथा अन्य भी कुछ शून्यतासम्बन्धी उद्गारोंके अवलोकन करनेपर सरलतया समझा जा सकता है **"अस्तीति वदतो ब्रूमो नास्ति सर्वं विचारतो, नास्तीति वदतो ब्रूमः सर्वम् अस्त्यविचारतः. यथा-यथा समारोपाः जायन्ते तत्त्वयोगिनः तथा-तथा समारोपाः हन्यन्ते तत्त्वयोगिना."**[१९] **"व्यावृत्तिः सर्वदृष्टीनां कल्प्यकल्पनवर्जिता"**[२०] **"यद्यशून्यं भवेत् किञ्चित् स्याच्छून्यमिति किञ्चन, न किञ्चिदस्त्यशून्यं च कुतः शून्यं भविष्यति? शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः येषान्तु शून्यतादृष्टिः असाध्यान् तान् बभाषिरे."**[२१] एतावता यह सिद्ध होता है कि निर्बीज असम्प्रज्ञातसमाधि जैसी ग्राह्य-ग्राहक-ग्रहणविवर्जित चित्तकी सभी विकल्पोंसे शून्यावस्था ही विज्ञानवादी तथा माध्यमिकों के मतमें भी शून्यतया अभिप्रेत है नकि चित्तेतर किसी तत्त्वकी किसी भी प्रकारके विकल्पके साथ ज्ञेयता. फिरभी दोनोंके बीच जो मतभेद है वह केवल इतनेसे अंशमें है कि विज्ञानवादी विज्ञानको परमार्थ सत्य मानते हैं जबकि माध्यमिक उसके बारेमें भी शून्यताकी ही दृष्टिका उपदेश देते हैं. अतः यूरोपमें ईमान्युएल कान्टने Thing as it is unknowable और Thing as it appeares is knowable का जैसा तारतम्य प्रतिपादित किया था, वैसा ही कुछ यहां भी मान कर चलना चाहिए. अतएव (क)**"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना लोके संवृतिसत्यं च सत्यञ्च परमार्थतः"** (ख)**"संवृतिः परमार्थं च सत्यद्वयमिदं स्थितं बुद्धेः अगोचरः तत्त्वं बुद्धिः संवृतिरुच्यते"** (ग)**"प्रतीत्यसमुत्पन्नं वस्तुरूपं 'संवृतिः' उच्यते. तदेव 'लोकसंवृतिसत्यम्' इति अभिधीयते, लोकस्यैव संवृत्या तत् सत्यमिति कृत्वा... सर्वस्य हि प्रतीत्यसमुत्पन्नस्य पदार्थस्य निःस्वभावता पारमार्थिकं रूपम्"**[२२] उद्गारोंके आधारपर परमार्थतः अज्ञेयता और व्यवहारतः रूप-विज्ञान-वेदना-संस्कार-संज्ञारूप पञ्चस्कन्धोंमें प्रतीत होती प्रतीत्यसमुत्पादता रूपी ज्ञेयताके रूपमें 'तत्त्वाज्ञेयतांगीकृतिमूलक सर्वदृष्टिप्रहाण' इसे कहा जा सकता है.

[2]इससे भिन्नतया किसी बाह्य या आभ्यन्तर तत्त्वको ज्ञेयतया स्वीकारनेके बावजूद इदमित्थतया वाणीके बिना कुछ भी निरूपित नहीं हो पाता है और वाणीसे तो वही निरूपित होता है कि बोलनेकी क्रीड़ाके हेतु हमने जैसे/जिन वाङ्नियमोंको घड़ा होता है. यों ज्ञेयतया कुछ स्वीकार लेनेके बावजूद वस्तुतत्त्वको अवाच्य-अपरिभाष्य अर्थात् लक्षणानर्ह स्वीकारनेवाली विट्गॅन्स्टीनके जैसी दृष्टि अर्थात् लक्षणार्हत्वेन तत्त्वाज्ञाततांगीकृतिमूलक भी एक सर्वदृष्टिप्रहाण हो सकता है.

इसे विज्ञानवादी योगाचारमतके सद्धर्मलंकावतारसूत्र के "बुद्ध्या विवेच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते तस्मादनभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः"[२३] इस प्रसिद्ध वचनके आधारपर भलीभांति समझा जा सकता है. ऐसी दृष्टि तत्त्वोपप्लव वाक्यपदीय खण्डनखण्डखाद्य चित्सुखी आदि ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती निरुक्तिविरहताके प्रतिपादनसे सुसंगत लगती है. इसे जैनोंके "स्याद् अस्ति च अवक्तव्यं च" शब्दनयान्तर्गत पांचवी कोटीके समान स्वीकारा जा सकता है.

[३]सर्वदृष्टिप्रहाणार्थ यूरोपीय चिन्तनमें ह्यूम जैसोंके द्वारा सन्देहवादी विचारधाराका विकास जैसा-जितना हुवा वैसी विचारधारा परन्तु यहां भारतमें कोई प्रकट हुयी हो ऐसा कमसे कम मुझे तो ज्ञात नहीं है. अतः इसे रिक्तवर्गतया ही प्रस्तावित करना पड़ता है.

[४]चतुर्थ सर्वदृष्टिप्रहाणको निषेधमुखशैलीमें बोलनेके बजाय विधिमुखशैलीमें बोल कर सर्वदृष्ट्यनुग्रह भी शक्य हो पाता है. अर्थात् परमार्थतः कुछ भी प्रामाणिक नहीं होनेपर भी व्यवहारमें सभी कुछ सम्भव होता है. अतः केवल परमार्थदृष्ट्या सर्वदृष्टिओंको निराकरणीय माननेपर भी व्यवहारदृष्ट्या उन्हें मान्य रखनेकी चिन्तनप्रणाली भी केवलाद्वैतवादिओंकी भी दिखलायी देती है. उदाहरणतया विविध देवताओंके परतत्त्वताके विवादमें अथवा स्वयं केवलाद्वैतिओंके अनेकविध भामती विवरण या वार्तिक आदि प्रस्थानोंमें व्यावहारिक स्तरपर परस्पर विरुद्ध मतभेदोंमें सभीको मान्य रखना, इस प्रतिपादनशैलीकी विशेषता है. परवर्ती केवलाद्वैती ग्रन्थकारोंकी ऐसी विचारशैली दिखलायी देती है. गौड़पादकारिकाके ये उद्गार "स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढं परस्परं विरुद्ध्यन्ते तैरयं न विरुद्ध्यते"[२४] में सभी दृष्टिओंके परमार्थदृष्ट्या निराकरणके साथ-साथ वाचनिक सर्वदृष्ट्यनुग्रह भी प्रकट किया गया है ऐसा स्वीकारा जा सकता है.

[५]जैसा कि पहले ही इसका निरूपण कर चुके तदनुसार जैनोंने दुर्नयदृष्टि नयदृष्टि और प्रमाणदृष्टि के तारतम्यद्वारा अन्यान्य मतोंको, स्वमतीय अनेकान्तवादसे बाह्यदृष्टितया मिथ्यादृष्टि होनेके कारण अमान्य रखनेके बावजूद उन्हीं मिथ्यादृष्टिओंको पुनः, 'स्यात्' निपातोपन्यासपूर्वक अनेकान्तवादांगतया प्रामाणिकतया भी मान्य रखा है. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाकार श्रीहेमचन्द्र कहते हैं "सदेव सत् स्यात्सद् इति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीति-नय-प्रमाणैः."[२५] अतः [अनेकान्तवाद = A⊃I= सप्तविधनय] ऐसी भी एक शैली सर्वदृष्ट्यनुग्रहकी हो ही सकती है.

[६]इस ऐसे अनेकान्तवादकी तुलनामें उपनिषदोंमें उपलब्ध होती ब्राह्मिकी सर्वात्मतादृष्टि या सर्वरूपतादृष्टि के अन्तरका वैलक्षण्य भलीभांति समझ लेना अत्यावश्यक है.

> **(क)पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भव्यं...सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते.**
>
> **(ख)यत् च किञ्चिद् जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः.**
>
> **(ग)यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव अनुपश्यति, सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते, यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानतः, तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः.**
>
> **(घ)एषहि देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः, पूर्वोहि जातः सउ गर्भे अन्तः, स विजायमानः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्मुखाः तिष्ठति विश्वतोमुखः. यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपं विश्वं पुराणं...तदेव अग्निः तद् वायुः तत् सूर्यः तदु चन्द्रमा तदेव शुक्रम्**

अमृतं तद् आपः स प्रजापतिः.

(ङ)ब्रह्मवा इदमग्र आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद अहं ब्रह्मास्मि इति तस्मात् सर्वम् अभवत्. इदं सर्व यद् अयम् आत्मा.

(च)एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च.

(छ)स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि.

(ज)पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते.[२६]

इन औपनिषद वचनोंके आधारपर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण ऐसा निष्कर्ष निकालते हैं कि मूलतः औपनिषद ब्रह्म सजातीय विजातीय स्वगत भेदोंसे रहित एकमेवाद्वितीय होनेके कारण अज्ञेय-अवाच्य होनेपर भी सर्वरूपोंमें ज्ञेयात्मना एवं वाच्यात्मना स्वतः ही प्रकट हुवा है[२७]. अतः पूर्णसे पूर्णका प्राकट्य अपनी पूर्णताको अखण्डतया निभानेवाला होता होनेके कारण ब्रह्म सर्वविध वादोंसे अतीत भी है और सर्वविध वादोंके अनुरूप भी होता है[२८]. ब्रह्मके स्वरूपको नानावादानुरोधि दिखलाते हुवे महाप्रभुका कहना है कि वैदिकदृष्टिसे जो मान्य सिद्धान्त हो अथवा वैदिकदृष्टिसे जो सिद्धान्ताभास हों अथवा वैदिकदृष्टिसे जो मान्यता पाषण्डितापूर्ण हों उन ऐसी सभी धारणाओंके अनुसार भगवान् रूप धारण कर सकते हैं तथा करते होते हैं. अतः स्वयं भगवान्के स्वतः सर्वरूप होनेसे सभी कुछ उपपन्न हो सकता है. अतः जो उसका जैसे निरूपण करना चाहता है उसके प्रति भगवान्का वैसा ही स्वरूप वस्तुतः प्रकट हो जाता है. क्योंकि भगवान्में सर्वविध वाच्यरूपों और वाचकशब्दों के रूपोंमें प्रकट होनेकी सहज शक्ति/सामर्थ्य होती है.[२९] इस "सर्ववादानवसरत्वे सति नानावादानुरोधिता"[३०]की व्याख्या करते हुवे महाप्रभुने यह भी कहा है कि सृष्टिके उत्पत्ति-स्थिति-नाशके अनेकविध निरूपणोंद्वारा शास्त्र भी यही समझाना चाहते हैं कि मूलतत्त्व

एकमेवाद्वितीय अव्यक्त भी है और अनन्तरूप भी. वह विश्वरूप भी है और विश्वातीत भी. उसके ऐसे स्वरूपकी उपपत्ति दो तरहसे सोची जा सकती है. एक तो उसके सर्वभवनसामर्थ्यका विचार करके—दूसरे उसके विरुद्धधर्माश्रय होनेका विचार करके. क्योंकि अनेकविध वादोंको प्रस्तावित करनेवाले विविध चिन्तक ब्रह्मके ऐसे इन दो पहलुओंको आधारभूत मान कर अपनी-अपनी बात नहीं कहते और वे अपनी ही आंशिक धारणाके अनुसार मूलरूपको परिच्छिन्न बनाना चाहते हैं; अतः, वादिओंकी ऐसी धारणाके सन्दर्भमें ब्रह्मको 'सर्ववादानवसर' कहा जाता है नकि उनके वादोंके सन्दर्भमें. ब्रह्मके किसी एक असकल विशेष पहलुका निरूपण सकलताके दावेके साथ किया जाय तो बात बिगड़ जाती है. अन्यथा वाणीमें दोषान्वेषण अनावश्यक होता है. दूसरे शब्दोंमें इसे यों कहा जा सकता है कि जैनमतमें तो अनेकान्तवादांगभूत 'स्यात्' निपातार्थवती प्रमाणदृष्टिसे रहित अस्तीत्यादि एकान्तदृष्टियां दुर्नयदृष्टितया परार्थ भी हापनीय बन जाती हैं. जबकि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार सर्ववादानवसर ब्रह्म ही सर्ववादानुरोधि बन जाता है और बन सकता होनेसे (जैनोंकी परिभाषाके अनुसार विकलादेश भी) केवल स्वार्थ ही प्रहापनीय होता है अर्थात् परार्थ वह प्रहापनीय नहीं होता. जैनोंके अनुसार स्याद्वादरूपा प्रमाणदृष्टि सकलादेशरूपा होने स्वपरोभयार्थ अनुग्राह्य होती है. जबकि उससे बहिर्भूत दुर्नयदृष्टि स्वपरोभयार्थ प्रहापनीय होती है. वाल्लभ मतमें परन्तु अब्राह्मिकी दृष्टि स्वार्थ प्रहापनीय होनेपर भी परार्थ प्रहापनीया नहीं होती. अतएव जैनोंकी तरह महाप्रभुके मतमें भी ब्रह्मवाद सकलादेश है और अन्य सारे वाद विकलादेश, स्वयं उन्हींके शब्दोंमें कहना हो तो "**एकैको वादो ब्रह्मणः एकैकधर्मप्रतिपादकवाक्यशेषइति भगवान् तान् सर्वानेव अनुसरति.**"[३१] अर्थात् विकलादेशका भी ब्रह्मदृष्ट्या प्रामाण्य सम्भव है—ब्रह्मकी प्रतिपादिका श्रुतिओंके व्याख्यानतया चाहे न भी सम्भव हो!

उदाहरणतया " 'असंख्यता'का अर्थ—संख्याओंकी इयत्ताका अनिर्धार है" इस विधानके अनुसार परन्तु कितनी संख्याके बाद संख्याकी इयत्ताकी

अनिर्धारितता वक्ता-श्रोताके बुद्धिमें आरूढ़ होती है? इसे कह पाना मुश्किल बात है. भारतमें गणनाकी अवधि पर या परार्ध पर्यन्त हुयी है. अब trillion संख्या उससे भी दसगुनी अधिक हो तो परार्धके प्रत्ययसे अतीतता और ट्रिलिअनके प्रत्ययसे अतीतता दोनों ही असंख्यताके प्रत्ययके उपलक्षण बनेंगे. उपलक्षणोंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी उपलक्षित असंख्यताके दोनों ही प्रत्यय 'सकल-प्रत्यय' कहे जायेंगे. अतः बात दोनोंकी प्रामाणिक ही माननी पड़ेगी. फिरभी परार्धातीत-संख्याऽनिर्धारवादी, परन्तु, ट्रिलिअनातीतसंख्याऽनिर्धारवादीको अप्रमाणिक मानता हो तो ऐसी धारणाके सन्दर्भमें वह प्रत्यय सत्य नहीं रह जायेगा. फिरभी वाक्यार्थसन्दर्भमें उसे मिथ्या नहीं माना जा सकता. इसी तरह सभी वाद, धारणाओंके सन्दर्भमें परिच्छिन्न या विकल होते हों या न होते हों, वाक्यार्थसन्दर्भमें तो प्रामाणिक हो सकते हैं. इस अर्थमें ब्रह्मको 'नानावादानुरोधि' भी माना गया है. महाप्रभुके अनुसार एक-एक वाद ब्रह्मके एक-एक धर्मका प्रतिपादक हो सकता है. अतः ब्रह्मविचारवश सभी वाद प्रामाणिक हो सकते हैं. क्योंकि ब्रह्मके सर्वभवनसमर्थ और विरुद्धधर्माश्रय होनेके सन्दर्भमें सभी वाक्य प्रमाणरूप हो सकते हैं : "**तस्मात् सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं यतः सा सरस्वती सर्वतोमुखा**"(३२) महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार ब्रह्मकी इस स्वाभाविकी सर्वभवनसामर्थ्यको प्रमाणविचार प्रमेयविचार साधनविचार और फलविचार के पहलुओंसे देखनेपर इसका स्वरूप सर्वथा सुस्पष्ट हो जाता है. अतः तदर्थ उसकी चर्चाके बिना इस निरूपणका उपसंहार अनुचित होगा.

प्रमाणविचारवश सर्ववाच्य-सर्ववाचकरूपा शक्तियां जब भगवान्‌में सहज-स्वाभाविकी हों तो, वाचकशब्दोंसे अननुविद्ध ज्ञान तो प्रमाण हो नहीं सकता, अतः सर्वविध ज्ञानोंमें अनुगत शब्दानुवेध सर्वविध ज्ञानोंको ब्राह्मिक सन्दर्भमें प्रामाण्यवाहक बना देता है.

प्रमेयविचारवश भी "**स सर्वं भवति**"(३३) "**ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यम्**"(३४) "**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्**"(३५) आदि उपनिषद्वचनोंके आधारपर जब सब कुछ वही बना है तो किसी भी दर्शनाभिमत प्रमेयको सर्वथा बाधितार्थ माना नहीं जा सकता. क्योंकि भागवतमें आता है कि "**भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः दृश्यैः बुद्ध्यादिभिः द्रष्टा लक्षणैः अनुमापकैः**"(३६). इसकी व्याख्या करते हुवे महाप्रभु कहते हैं कि नैयायिकोंने कर्ताके रूपमें, मीमांसकोंने क्रियाके रूपमें, वेदान्तिओंने आत्माके रूपमें, सांख्योंने करण होनेके रूपमें, अन्योंने ज्ञान होनेके रूपमें, किसीने ज्ञाताके रूपमें, यों सभीने भगवान्‌के एकैकदेशको अपने-अपने अनुभव और युक्तिओंके आधारपर सिद्ध करना चाहा है. ये सभी रूप भगवान्‌के लक्षण हो सकते हैं और इनसे अंशतो भगवज्ज्ञान पाया ही जा सकता है.(३७).

इसी तरह साधन और फल के विचारके सन्दर्भमें महाप्रभुका प्रस्तुत वचन अनुसन्धेय है : "**'स वै नैव रेमे. तस्माद् एकाकी न रमते. स द्वितीयम् ऐच्छत्. स एतावान् आस' इन श्रुतिओंके आधारपर 'एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति...' इस श्रुतिके भी आधारपर यह कहा जा सकता है कि भगवान् उन-उन साधनोंको करा कर उन-उन फलोंको देते हैं और यह सब कुछ भगवान् निज क्रीडार्थ ही जगत्‌के रूपमें आविर्भूत हो कर केवल क्रीड़ा ही कर रहे हैं, ऐसा वैदिकोंका निर्णय है. यही बात वेदके दोनों काण्डोंमें प्रतिपादित हुयी है. अन्यथा जीवात्माके साधनफलोंका निरूपण करनेवाली श्रुतिओंको ब्रह्मपर माननेके बजाय जीवपर स्वीकारना पड़ेगा. तब तो श्रुतिप्रतिपाद्य कर्म और ब्रह्म को भी जीवशेषतया स्वीकारना पड़ेगा.**"(३८)

इससे यह सिद्ध होता है कि अनेकान्तवादी विधा और इस विधामें कुछ मौलिक अन्तर है. वहां अनैकान्तिक प्रमाणदृष्टिके अन्तर्गत ऐकान्तिक नयदृष्टिओंको अनुग्राह्य माना गया जबकि अनैकान्तिक प्रमाणदृष्टिसे बहिर्भूत ऐकान्तिक दुर्नयदृष्टिओंको प्रहापनीय मिथ्यादृष्टि माना गया है. इस विधामें, जबकि, ब्राह्मिक दृष्टि न होनेके अपराधवश किसी भी दृष्टिके अनुसार किया जाता तत्त्वनिरूपण अप्रामाणिक नहीं हो सकता

है, अर्थात् वह स्वयं दुर्नय नहीं बन जाता. एतावता सिद्ध होता है कि स्वीयेतर निरूपणको प्रमाणतया न स्वीकारना ही केवल मिथ्यादृष्टि है. क्योंकि वह ब्रह्मकी सर्वभवनसामर्थ्य और विरुद्धधर्माश्रयताका अनंगीकार है. यही सर्वात्मरूप ब्रह्मके पूर्णताको स्वीकारनेवाली पूर्ण ब्राह्मिकी दृष्टि है. अतएव वाल्लभ वेदान्तमें परपक्षनिराकरण केवल वेदतात्पर्यविषयीभूत या तदविषयीभूत पदार्थमीमांसाके रूपमें अनुष्ठेय होता है. यह महाप्रभुके ''वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्, उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम् अविरुद्धन्तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा एतद्विरुद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथञ्चन, अथवा सर्वरूपत्वान्नामलीलाविभेदतः विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि''[३९] उद्गारोंका प्रमुख रहस्य है. अर्थात् वेदैकवेद्य ब्रह्मकी सर्वात्मकता / सर्वरूपता ही ब्रह्मकी तरह वाल्लभ चिन्तनको भी विरुद्धधर्माश्रयी बनाती हैं कि कई सारी दृष्टियां वेदाभिप्रायतया मिथ्या होनेपर भी वेदैकवेद्य ब्रह्मस्वरूपके सन्दर्भमें प्रामाणिक हो सकती हैं*.

उद्धरणसंकेत

१.षड्दर्शनसमुच्चय : २-३.
२.द्रष्टव्य : उक्त षड्दर्शनसमुच्चयकी भूमिकामें श्रीदामोदरलाल गोस्वामी.
३.सुत्तपिटकान्तर्गत दीघनिकायके ब्रह्मजालसुत्तमें तृतीय प्रकरण.
४.तत्रैव.
५.मध्यमकशास्त्र : १८।९-अद्वयवज्रसंग्रह : पृष्ठ१९.
६.माण्डुक्यकारिकाशांकरभाष्य : ४।८३-८४.
७.द्रष्टव्य खण्डनखण्डखाद्य.१।८ : ''सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा विनिवृत्ताद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते''.
८.श्रीमदद्वयवज्रपादकृत अद्वयवज्रसंग्रह : पृष्ठ.६२.
९.प्रसन्नपदा : २२।११.
१०.दशश्लोकी : १०/११?.
११.स्याद्वादमञ्जरी : २८.
१२.तत्रैव.
१३.सर्वदर्शनसंग्रहोपोद्घातपृष्ठ : ८४-८५.

१४.सर्वदर्शनसंग्रहोपाद्घातपृष्ठ : ९०-९१.
१५.ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाशपृष्ठ : १-१०.
१६.वेदान्तकल्पलतिकापृष्ठ : १-६.
१७.सदसद्वादो ब्रह्मविज्ञानपृष्ठ : ०-३.
१८.द्रष्टव्य : मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिकके प्रमेयकाण्डमें प्रथमपरिच्छेदान्तर्गत चतुर्थप्रकरण.
१९.श्रीमदद्वयवज्रपादकृत अद्वयवज्रसंग्रह : पृष्ठ.६२.
२०.सद्धर्मलङ्कावतारसूत्रं : १०।४८३-८४.
२१.मध्यमकशास्त्रं : १३।७-८.
२२.[क]मध्यमकशास्त्रं : २४।८.[ख]बोधिचर्यावतारः : ९।२.[ग]तत्रत्यैव पञ्जिका.
२३.सद्धर्मलंकावतारसूत्र : २।१७५.
२४.माण्डूक्योपनिषत्कारिका : ३।१७.
२५.अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका : २८.
२६.(क)पुरुषसूक्त : १,७. (ख)नारायणसूक्त : १. (ग)ईशावास्योपनिषद् : ६-७. (घ)महानाराणोपानिषद् : १।१।५-७. (ङ)बृहदारण्यकोपनिद् : १।४।१०,४।५।७. (च)कठोनिषद् : २।२।९. (छ)छान्दोग्योपनिद् : ६।८।७. (ज)बृहदारण्यकोपनिषद् : शान्तिपाठ.
२७.पत्रावलम्बन : कारि.१.
२८.तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।७०.
२९.सुबोधिनी : १०।१३।४३.
३०.तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।७०.
३१.तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाश : १।७०
३२.तत्रैव : २।१७३.
३३.बृहदारण्यकोपनिषद् : २।४।६.
३४.छान्दोग्योपनिषद् : ६।८।५.
३५.श्वेताश्वतरोपनिषद् : १।१२.
३६.भागवतपुराण : २।२।३५.

३७.सुबोधिनी : २।२।३५.
३८.ब्रह्मसूत्राणुभाष्य : १।१।११.
३९.तत्त्वार्थदीपनिबन्ध : १।८-९.



✲ प्रस्तुत निबन्धमें प्रतिपाद्य विचारबिन्दु, एड्वांस् स्टडी इन संस्कृत, पूणें-विश्वविद्यालयके संमाननीय श्री वी.एन्. झाजीकी प्रेरणावश उनके केन्द्रमें *"नेचर् एंड् फंक्शन् ऑफ माइंड्"* पर आयोजित सेमिनारमें मौखिक चर्चाके रूपमें मैंनें प्रस्तुत किये थे. श्रीझाजीके आग्रहपर पश्चात् पुनः यथोचित संशोधन-परिवर्धनके साथ उक्त केन्द्रको लिखित प्रबन्धके रूपमें भी भेजा दिया था. सो *"ह्युमन् माइंड् एंड् मशीन्"* ग्रन्थमें श्रीसद्गुरु पब्लीकेशन्स् दिल्लीद्वारा सन् २००३ वर्षमें प्रकाशित भी हुवा है. यहां पुनः उसी प्रबन्धमें कुछ अपेक्षित थोड़े-बहोत परिवर्धनके साथ प्रकाशनार्थ उनकी सहमतिपर स्वकृतज्ञतापूर्वक पुनःप्रकाशित किया जा रहा है.

गोस्वामी श्याम मनोहर.

आद्यसम्पादकीयम्

(सम्बद्धांशसङ्कलनम्)

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणेभ्यः सप्तमीं परम्पराम् अधिष्ठिताः श्रीपीताम्बरगोस्वामितनुजनुषः श्रीपुरुषोत्तमचरणाः. सर्वेऽपि गोस्वामिचरणाः श्रीमद्वल्लभाचार्याणां वंश्याएव इति तैलङ्गदेशीया वेल्लनाटिब्राह्मणाः कृष्णयाजुषीम् आपस्तम्बतैत्तिरीयां शाखाम् अधीयानाः आसन् सन्ति च इत्येतेऽपि तथा. एतेषां प्रादुर्भावसमयस्तु वैक्रमाब्दे चतुर्विंशत्युत्तरे सप्तदशशतके (१७२४) भाद्रशुक्लैकादशी.

एतन्निर्मितो अणुभाष्यप्रकाशः तत्त्वदीपनिबन्धावरणभङ्गः सुबोधिनीप्रकाशः च इति त्रयो ग्रन्थाः प्रधानतमाः. अपरेच षोडशग्रन्थटीका अवतारवादावली प्रस्थानरत्नाकर इत्यादयो भूयांसो लब्धाः. निवासस्थानन्तु एतेषां गुर्जरदेशे सुरतपुरम् आसीत्. यत्र सम्प्रति भगवान् श्रीबालकृष्णः पुनाति निजदर्शनेन निरीक्षकेक्षियुगलीम्. यत्रच गोस्वामिपदे गुणवशीकृतलोकाः गो. श्रीव्रजरत्नलालमहोदयाः तिष्ठन्ति.

अस्मिन् वादस्तबके च एतन्निर्मिताः ग्रन्थास्तु एते—

१ भेदाभेदस्वरूपनिर्णयः	१० भक्त्युत्कर्षवादः
२ भगवत्प्रतिकृतिपूजनवादः	११ खलालपनविध्वंसवादः
३ सृष्टिभेदवादः	१२ नामवादः
४ ख्यातिवादः	१३ मूर्तिपूजनवादः
५ अन्धकारवादः	१४ ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः
६ ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः	१५ शङ्खचक्रधारणवादः
७ जीवप्रतिबिम्बत्वखण्डनवादः	१६ मालाधारणवादः

८ आविर्भावतिरोभाववादः — १७ उपदेशविषयशङ्का-निरासवादः
९ प्रतिबिम्बवादः

अवतारवादावलीतु एतत्कृता अस्माभिः भारतमार्तण्डश्रीगट्टूलालपुस्तकालयाद् लब्धा किन्तु अपूर्णेति प्रतिदत्ता. न पुनः प्रयस्यद्भिरपि अन्यतो लब्धेति चतुर्विंशतिग्रन्थेषु सप्तदशग्रन्थाएव मुद्रापणम् अलभन्त.

एतद्वैदुष्यपरीक्षणविषयेतु किम् अस्माभिः एतदक्षरावलोकनाक्षमैः वक्तव्यम्. केवलम् इदमेव अभिधीयते भगवद्वदनावतारवाक् स्वयं अवतीर्य च एतैः आचार्यवाणी प्रस्फुटार्थरहस्या प्रदर्शितलोकोत्तरगुणगणा गहनापि सरला अकारि.

साम्प्रदायिकी परिस्थितिः!

शास्त्राध्ययनाध्यापनपरिशीलनादौ चिरादेव साम्प्रदायिकैः विमुक्ते साम्प्रदायिकसिद्धान्तः सर्वैरेव प्रायो विस्मृतः. सविशेषन्तु प्रमाणभागज्ञानन्तु उत्सन्नप्रायम् आसीत् किन्तु शारदामठाधिपतिना माधवतीर्थ महाशयेन सरुशतीशतम् आक्षिप्ते सम्प्रदाये पुनः उन्मीलितइव मदालसे लोचने प्रायः सर्वेषाम्. प्रारब्धं ततः कैश्चन तात्कालिकम् असत्प्रायं कार्यजातम्. ततः पूर्वतएव श्रीमद्गोकुलनाथचरणैस्तु शनैः-शनैः अध्यापनादिकार्यं प्रक्रामितमेव आसीत्. ततएव च कतिपयैः वैष्णवैः एते प्रार्थिताः भवन्मण्डलाद् एतदाक्षेपोत्तरेण अवश्यं भाव्यम् इति. अस्माभिस्तु "कार्यमेव उत्तरं न पुनः पत्रेषु कालाक्षरलेपनं वा रुशतीवाचो वा उत्तरम्" इति कृतसिद्धान्तैः "मृदुव्यवहितं तेजो भोक्तुम् अर्थान् प्रकल्पते" इत्यादिनीतिम् अनुसरद्भिः च जोषमेव अस्थायि. "यथा यक्षः तथा बलिः" इति न्यायेन सभासम्मेलनाभियोगादिकर्तव्यन्तु प्राप्तकालत्वाद् न विस्मृतमेव. एवं शान्त्या कार्यमेव आचरद्भिः अस्माभिः किमपि कृतम्. साम्प्रदायिकविदुषाम् अधीत्याध्यापनादिकार्यसमर्थानां सज्जीकरणं श्रीसुबोधिनीप्रथमस्कन्धादिप्रत्नसंस्कृतग्रन्थानाम् आदर्शशोधनसम्पादितानां प्रकाशनम्. यच्छोधनम् इदानीम् अल्पज्ञानामपि व्युत्पादनं शोधनादर्शः च अभूद् भवति

च. शुद्धाद्वैतदर्शनादीनाम् अभिनवसरण्या अभिनवग्रन्थानां निर्मापणं च. तेनैव च यद् अक्षोभ्यवैदुष्यकर्तव्यं तद् आचारितम् इति परीक्षावन्तः सुजनाः प्रमाणम्.

भवन्ति लोके असन्तमपि सन्तमिव, किञ्चिदिव बहुतरमिव च प्रदर्शनचञ्चलाः. ततः च तैः न सन्तुष्टम् अपितु तद्व्याजेन स्वाशयविवरीतुकामैः न सदपि वैदुष्यं प्रकटयद्भिः "न एते त्वरया कार्यं कुर्वन्ति न च समीचीनं, मूल्यं च बहु रक्षन्ति पुस्तकानां, यत् कुर्वन्ति तत् सर्वम् अस्मत्प्रेरणयैव कुर्वन्ति" इत्यादि बहु जल्पितं गृह्यमासिकपत्रेषु. न ततोपि अस्माभिः उद्विग्नम्. केषु नाम उद्वेगः कर्तव्यः. ततः च तैः गृहीतपरवैदुष्यलाभैः कार्यमपि न अपेक्षितमिव प्रारब्धम्. पौनःपुन्येन दुःप्रेरणलेखखेदितैः महाराजचरणैः स्वकीयएव महति व्यये सत्यपि मुद्रापणकार्यं द्विधा विभक्तम्. एकत्र अहं पाठशालातो अवकाशं दत्वा नियोजितः. मया च अकस्मादेव आज्ञां शिरसि कृत्वा कार्यन्तु प्रारब्धं किन्तु न आसीदेकमपि पुस्तकं मुद्रापणशोधनाय. ततः च बलदेवमन्दिराध्यक्षाः श्रीद्वारकेशलालगोस्वामिचरणाः प्रतिफलपुस्तकदानाय प्रार्थिताः. तैः आज्ञानुग्रहे दत्ते तत्पण्डितभानुशंकरत्रिभुवनसाहाय्येन तत्पुस्तकालयात् संगृहीतानि बहुशः पुस्तकानि. शोध्यपुस्तकानितु अस्मद् बालकृष्णपुस्तकालये आसन कतिचन. कतिचन. श्रीगट्टूलालमहोदयपुस्तकालयात् त्रिभुवनदासश्रेष्ठिवरानुज्ञया मूलचन्द्रगुप्तमहाशयसाहाय्येन लब्धानि. ततः च लेखकद्वयम् आस्थाप्य वादावलीमुद्रापणकार्यं भाष्यटीकामुद्रापणकार्यं च इति द्वयं सममेव आरब्धम्. भाष्यत्रिसूत्रीटीकाद्वयम् अस्मत्सुहृच्छ्रीबलभद्रशर्मपुस्तकसंग्रहाद् आनीतम् नाभूत् तत्र कष्टं गृह्यमेव इति.

कार्यं हि कालम् अपेक्षते. भवतु नाम त्वरा. इतः च मध्ये श्रीनाथद्वारयात्रा अभूद्, महाराजचरणानां तदहमपि तैः सह अगमम्. तत आगत्य च यन्त्रालये इन्फ्लुएञ्जाप्रभृतिरोगाकुले कार्यकृताम् अभावात् सर्वथैव शिथिलम् अभूद् मुद्रापणम्. कीं क्रियतां दैवे प्रतिबन्धे! एकमासेन एकफार्म प्राप्यते स्म.

एतावत्कालपर्यन्तं संघद्रव्यव्यवस्थापूर्तिः न यथावद् जातेति महाराजचरणैः कार्यालययन्त्रालयादिव्ययः स्वयमेव सोढः. तत् सर्वम् अनपेक्ष्यैव उपालम्भपण्डितैः पुनः त्वराकोलाहल आरब्धः. ततः च खिन्नैः अस्मन्महाराजचरणैः अन्यत्र व्यवस्थापकसमित्याम् एतद्भारो दत्तः. युक्तं चैतत् कार्यकृतएव श्रमं कालव्ययं द्रव्यव्ययं च विदन्ति न पुनः उपालम्भपण्डिततमाः. किञ्च वराटिकामात्रं कालत्रुटिमपि च अदत्त्वैव ये शान्त्या कार्यकृतो अस्मान् एतावत् खेदयन्ति किं पुनः संघद्रव्ये संगृहीते. ततोऽपि अन्यत्र दत्ता व्यवस्था. अहो कार्यकृत्सु साम्प्रदायिकानां प्रसादः. इदानीं श्रीनाथद्वारीयद्रव्यं संघद्रव्यं च एकीकृत्य तद्द्रव्यव्यवस्था अपरत्र समित्यां दत्तेति पश्यामः किम् इयं प्रपद्यते. मन्ये द्वित्रिदिनैरेव सर्वसाम्प्रदायिकपुस्तकानि मुद्रितानि स्युः. पुस्तकसंग्रहवन्तो निजपुस्तकसूचीमपि न ददति. कुत्रचन पुस्तकानां सूची नास्ति सापि अस्माभिरेव संपाद्य तानि संग्राह्यानि. अपरे पुस्तकानि च अस्मदीयानि तदालयाद् बहिः न गच्छन्ति इति स्पष्टम् ऊचुः. द्रव्यव्यवस्था पर्याप्ता नास्ति. कार्यकृताम् अभावः. ये निपुणकार्यकृतः ते लोकैः पुनःपुनः पर्यनुयोज्य विषादिताः. यन्त्रालयशैथिल्यम्. एवं सत्यपि "कदा पुस्तकं निष्कामति? भूमा कालो जातः!" इत्यादिप्रसादवचांसि प्रचलन्त्येव. सन्तु. श्रीमद्बालकृष्णप्रभुकृपया साम्प्रदायिकविद्याप्रथमाश्रयदायिगोस्वामिकुलकौस्तुभानां श्रीमद्गोकुलनाथचरणानाम् असीमानुग्रहेण च सम्पूर्णम् इदानीम् उल्लङ्घ्य सर्वानपि प्रत्यूहपाशान् एतत्पुस्तकशोधनप्रकाशनम्. अग्रेच भाष्यटीकापञ्चकमपि प्रकाशितं स्याद् निर्विघ्नम् इति भूयोभूयः प्रार्थ्यते श्रीनन्दनन्दनः.

उपकारस्मरणम्!!

अत्रत्यश्रीबलदेव(दाऊजी)मन्दिराध्यक्षैः गो. श्रीद्वारकेशलालमहाराजचरणैः पुस्तकदानेन प्रथमसाहाय्यं विहितमिति तैः उपकृताः तेषु धन्यवादान् शतशः उपहारीकुर्मः. लीलाप्रविष्टैः गो. श्रीवागधीशलालमहाराजैरपि कतिपयपुस्तकदानेन अनुग्रहो विहितइति तानपि धन्यवादैः स्मरामः. सुरतपुरवास्तव्यैः विद्वदनुरागिभिः श्रीव्रजरत्नलालमहाराजैः अवसितप्राये

शोधनेऽपि दत्तैः पुस्तकैः बहु कार्यं सिद्धमिति तेषु धन्यवादान् उपायनीकुर्मः. अत्रत्य माधवारामाध्यक्षेण श्रेष्ठिवर्येण माननीयत्रिभुवनदासवरजीवनसादमहाशयेनापि भारतमार्तण्डश्रीगट्टूलालपुस्तकालयाद् अपेक्षितपुस्तकदानानुज्ञया महदुपकृतम् इति तत्रापि धन्यवादान् वितरामः. तत्पुस्तकालयकार्यावेक्षिणा बी.ए. पदधृता मूलचन्दतुलसीदासगुप्तेनापि पुस्तकगवेषणदानादिना साहाय्यं विहितं स्वीयान्यपि कतिचित्पुस्तकानि प्रत्तानीति तस्मै धन्यवादान् प्रदद्मः. वैष्णवधर्मपताकालेखकेन पं. वसन्तरामशास्त्रिणा पुस्तकसाहाय्यं विहितमिति सोपि धन्यवादार्हः.

निर्णयसागरयन्त्रालयशास्त्रिवरैः श्रीवासुदेवपणशीकरैः शोध्यफलकेषु दृष्टिदोषावशिष्टाशुद्धिशोधनेन महदुपकृतमिति तानपि धन्यवादैः वर्द्धयामः.

अन्यदनुकरणीयं प्रेक्षणीयञ्च!!

सुरतपुरालंकारैः गोस्वामिभूषणश्रीव्रजरत्नलालमहाराजचरणैः एतत्पुस्तकमुद्रणे मुद्रणव्ययो दत्तइति प्रशंसनीयएव एतेषां साम्प्रदायिकविद्योत्साहः.

गोस्वामिकुलकौस्तुभश्रीश्रीगोकुलनाथमहाराजचरणाश्रितो
भट्टश्रीरमानाथशर्मा
शुद्धाद्वैतभूषणः



पाठशोधनार्थं संगृहीतमातृकाविवरणम्

क्रमो	ग्रन्थनाम	संशोधनार्थप्राप्तानाम् आदर्शानां तालिका

४. **भेदाभेदवादः** क=मुम्बानगरीस्थबृहन्मन्दिरास्थान- पण्डितैः भट्टश्रीरमानाथशर्मभिः सम्पादितं तत्र वि.सं.१९७६=ई.स.१९२० वर्षे बृहन्मन्दिर-पुष्टिमार्गीयसिद्धान्तकार्यालयाद् गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजानां (सुरत) आर्थिकसहयोगेन प्रकाशितं वादावल्यां मुद्रितं संस्करणम्. ख='गोस्वामिश्रीमथुरानाथात्मज- श्रीमोहनस्य' इति उल्लेखसहितः गोस्वामिश्रीशीलुबावा(पोरबन्दर) इत्येतेषां संग्रहे विद्यमानः. ग= "प्रतिलिपिकारो दयारामः(वि.सं.१७९७, आश्विन वदि १२)" इत्युल्लेखविशिष्टः श्रीगट्टुलालाजीपुस्तकालयस्थस्य ज्ञेरोक्सप्रतिलिपिरूपः. घ='नेतरामकृष्णभट्टस्य' इत्युल्लेखविशिष्टो मुम्बईविश्वविद्यालयग्रन्थागाराय श्रीइच्छारामदेसाईमहोदयेन उपायनीकृतस्य ग्र.क्र.५१३२संख्याकस्य ज्ञेरोक्सप्रतिलिपिः.

५. **सृष्टिभेदवादः** क(+ख)=पूर्वोद्दिष्टवादावल्यां मुद्रितः ख=मुद्रिते परिशिलितः श्रीपुरुषोत्तमानां हस्ताक्षरोपेतः ग='नेतरामकृष्णभट्टस्य' इति प्रतिलिपिकारो हरिशंकर(वि.सं.१९८८ शा.सं.१७५३, वैशाख सुद २) इति उल्लेखविशिष्टो मुम्बईविश्वविद्यालयग्रन्थागाराय श्रीइच्छारामदेसाईमहोदयेन उपायनीकृतस्य ग्र.क्र.५०५६संख्याकस्य ज्ञेरोक्सप्रतिलिपिरूपः.

६. **आविर्भावतिरोभाववादः** क=पूर्वोद्दिष्टवादावल्यां मुद्रितः ख=ग्रन्थकृद्हस्ताक्षरे लिखितः श्रीगट्टुलालाजीपुस्तकालस्थस्य ज्ञेरोक्सप्रतिलिपिः ग=अनुमानतो वि.सं.१९४०-४२तमे वर्षे लिखितः ग्र.क्र.२१७/१८८४/२२६संख्याकः पुणेनगरीस्थ-भाण्डारकर-प्राच्यविद्या

ग्रन्थागारीयः घ="प्रतिलिपिकारः श्रीहरिभट्टः वि.सं.१९०० ग्र.क्र.४९०-९संख्याकः" इति उल्लेखविशिष्टः.

७. **ख्यातिवादः** क(=ख+घ)=पूर्वोद्दिष्टवादावल्यां मुद्रितः ख=मुद्रिते परामृष्टः श्रीगट्टुलालाजीपुस्तकालयस्थस्य ज्ञेरोक्सप्रतिलिपिरूपः ग= ग्र.क्र.५११३ संख्याको विस्मृतप्रदातृनामकः घ=श्रीगट्टु. पुस्त. ज्ञेरोक्स-प्रतिलिपिरूपः ङ=प्रथमपीठग्रन्थागारीयः च="वि.सं.१९३१ ज्येष्ठकृष्णा १"उल्लेखविशिष्टः श्रीगट्टु.पुस्त.ज्ञेरोक्सप्रतिलिपिरूपः.

८. **प्रतिबिम्बवादः** क=पूर्वोद्दिष्टवादावल्यां मुद्रितः ख=मुद्रिते परामृष्टः श्रीगट्टुलालाजीपुस्तकालयस्थस्य ज्ञेरोक्सप्रतिलिपिरूपः ग=प्रथमपीठ-ग्रन्थागारीयः घ=मुम्बईविश्वविद्यालयग्रन्थागाराय श्रीइच्छारामदेसाईमहोदयेन उपायनीकृतस्य ग्र.क्र.४९६५संख्याकस्य ज्ञेरोक्सप्रतिलिपिरूपः. ङ=श्रीगट्टुलालाजीपुस्तकालयस्थस्य ज्ञेरोक्सप्रतिलिपिरूपः च= बहुकालातिक्षेपात् प्रदातुः नामोल्लेखपत्रं जीर्णं सत् नष्टमिति दूये.

९. **अन्धकारवादः** क=पूर्वोद्दिष्टवादावल्यां मुद्रितः ख=श्रीगट्टु.पुस्त. ज्ञेरोक्सप्रतिलिपिः ग=समानः ततएव. घ=बहुकालातिक्षेपात् प्रदातुः नामोल्लेखपत्रं जीर्णं सत् नष्टमिति दूये.

स्वकीयौदार्येण प्रतिलिपिप्रदायकानां सर्वेषामपि एतेषां भृशम् अधमर्णोऽयं ग्रन्थसम्पादको गो.श्या.मः.



विषयानुक्रमणिका

वर्तमानवस्तुदर्शन [illegible]

श्री[illegible]ायनमः ॥ ॥ यस्याविर्भावस्थानं रूपाविर्भवति सर्वं तत् । निरोभवति संतापात् संप्रश्नो ऽत्र नु
तेश्वरे ॥ ॥ [illegible] ऽनुपपन्नः कार्योत्पत्तिनाशावनुपगच्छता क्वापि आविर्भावतिरोभावयोरपि दुर्निरूप
त्वात् । तयो [illegible] रेनु भवयोग्यतानयोग्यतामद्र [illegible] त्वात् । दृष्टान्तस्तिमिरं
कार्यवर्तमानताया आश्रयवचनत्वात् ॥ प्रागभावदशायामपि तत्प्रसङ्गात् । नच प्रागभाव
ए प्रतिबन्धक [illegible] तस्य कारणत्वात् । नच नियतावधिकत्वेन कार्यस्य कारणे सत्ता ऽनुमातुं शक्येति वाच्यं । तत्प्राग
भावसत्तयैव नियतावधिकत्वसिद्धेः । किं च कारणे कारणे कार्यसत्ताभ्यां [redacted] स्यवाङ्माचित्वेनाभिमतस्यापि कार्यस्य कारणत्व । एवं सत्वेन सिद्धा दृष्ट
नयोपलम्भे वाच्यं न तु ऽनन्तेन तथासति [redacted] [illegible] रागित्वाद् दृष्टान्ते प्रसक्तेश्च त
त इष्टकार्यानुसारस्या कस्मिन्वा हस्यवाप्रसङ्ग ॥ एवं सत्कार्यासिद्धौ कार्यकारणभावस्याप्यसिद्धेः । कार

[illegible]

एतदपि हेतुर्न तदभिधायि कार्यापत्त्याने रप्यपायात् । तनाश्च लौकिकवैदिकव्यवहारोच्छेदापत्तेश्च । यो ऽनु
स्याप्यनावे प्रसक्तेश्चाधेयशास्त्रेरपि वैयर्थ्यापत्तेश्च । नच कारणवदाविर्भावरूपा उत्पत्तिरपुपेयत एवेति न दोष
इति वाच्यं । यचेकस्मिन् फलेबहूनि बीजानि तेभ्यश्चानेनानि फलानि तेभ्यश्च तथैव बीजानीत्येवं परम्परात
श्चेकस्मिन्मूलन्तेप्सेया बृहद्वानावर्त्तास्त्याद्युगपदाविर्भावापत्तेः क्रमासंगत्यापत्तेश्च । नच [illegible]
[illegible] विमतः प्रवाहो ऽनादिः प्रवाहत्वात् बीजाङ्कुरप्रवाहवदित्यनुमानेनानादिसिद्धौ क्रमो
पपत्तिरितिवाच्यं । हेतोः साध्यसमत्वात् । तस्यैव प्रवाहरूपतया विचार्यत्वात् । पतङ्गो धूमादि बीजनाशे
विरुणो धूमे गोधूमानां त्वनायस्यानां दस्याः कारादिहो ऽग्नीकुरोत्पत्तिस्तत्तेभ्यो गोधूमादिभ्यो वेत्याद्या
द्यनुत्पत्तिस्तत्र व्यभिचारात् विमतः प्रवाहः सादिः प्रवाहत्वात् बीजकागोधूमप्रवाहवदिति हेतोः सत्प्रति
पक्षत्वाच्च । नच व्यतिरेकदृष्टान्तेन निर्वाहः । नदीप्रवाहादावनादित्वाभावेपि प्रवाहत्वदर्शनेन व्यति
रेकव्यभिचारात् । नच मदत्वेन हेतो विशेषितेन कोपि दोष इति वाच्यं । गंगादृष्टान्तेनन्त्रापि व्यभि

[illegible]

॥ ग्रन्थकृद्हस्ताक्षरलिखितः आविर्भावतिरोभाववादः ॥

२ चारात् । पुराणदोषो गोत्पत्तिस्मरणस्य शास्त्रस्य प्रमाणत्वात् । तस्मान्न क्रमसंगतिः । ॥ [redacted] त्पत्तिर्नाविर्
भावः किन्तु मृदवस्था गतापिण्डावस्थाया नाशागता घटावस्था तत्रैवादि प्रतीतिः स्वे ऽवस्थानुपमर्देन पर
वस्थादर्शनाद् अवस्थाविशेष एव [illegible] मेतिविभाव्यते । तदाप्यवस्थाविशेषस्य कादाचित्कत्वा जन्यत्वे
वाच्यमेव । तत्सुतरामेव दुर्वचं । उत्पत्तेरनिरूपितत्वात् । [redacted] वस्थान्तरं कार्यमित्यप्यसंगतं । तथा सति पुत्रोपि
पितुरवस्थान्तरं स्यात् । तथा च पिण्डावस्थावत् पितुर्नाशः स्यात् । तं तु वदतां शाणीकारो [illegible] पि सर्वो प्य
क्रियेत । तनो नाशएव एवमङ्कुरादिरपि बीजनाशे ऽवस्थान्तरे समानन्यायात् । तथा च विभागेन क
ल्पितविचारास्तु त्वं भाने बीजादेर्सेस्यति तावतापि नाभिमतसिद्धिः । पूर्वमेव दूषितत्वात् । पतावता वि
शिष्टप्रतिपत्त्यन्तरत्वात्तिवाद एव साध्यात् । [redacted] स्या काचिदुत्पत्तिः । तथापि भवदभिमताविर्भावतिरो
भावो दुर्वचौ । तथाहि । तौ नित्यावनित्यौ वा । [redacted] । घटादिवस्तूपलम्भानुपलम्भयोः सातत्यप्रसंगात् । न
चेष्टापत्तिः । तयोर्विरुद्धत्वेन सदावस्थानायोगात् । आदिलतया तथा [illegible] कारे वस्तु निर्वाच्यत्वप्रसंगात्

घटाद्याविर्भावनाय तिरोभावनाय च साधने प्रवृत्तिस्तत्तिन प्रत्यक्षविरोधात् । नाद्वितीयधर्माश्रयभूतस्य
धर्मिणः सिद्धौ तयोरप्यनाकाङ्क्षनत्वेनास्त्यपवारापत्तेश्च । नच घटाद्युपलम्भानुपलम्भयोः कादाचि
त्कत्वं न तत्कारणस्तोमपरंपराकादाचित्कत्वेन समर्थनीयमितिवाच्यं । तत्तदीश्वरेच्छापर्यन्तं धावनेन
स्यापि नित्यत्वेन तद्दोषनादवस्थानात् । एकतरपक्षपातादितरोक्षेपप्रसंगाच्च । तयोर्घटादिवस्तुधर्मत्वे
न धर्मिणं कादाचित्कत्वे धर्मत्वे तयोस्तयोर्नित्यत्वस्य घटादिवदशक्यवचनत्वाच्च । नच जातिवद्दो
ष इतिवाच्यं । तद्देवसामान्यधर्मत्वप्रसंगात् । नचेष्टापत्तिः । तत्र सद्युगपद्दर्शनादर्शनप्रसंगात् ॥
नचेश्वरेच्छया निर्वाहः । स्तोत्तरत्वात् । [redacted] कार्यान्तरवत्तयोपि स्वकारणवदाविर्भावस्य स्वकारणे
तिरोभावस्याभ्युपगमाच्च त्वेनानवस्थायोरपि नयोः सत्त्वे ऽनवस्थापातात् । नचानादिरनवस्थाने
दोष इति वाच्यं । तथाप्यनिर्वाहात् । तेषामनित्यत्वेन कार्यत्वात् [illegible] संबंधस्यावश्यवाच्यत्वेन
लक्षणानां चोपाधिसंबन्धनिरूप्यमानत्वेन तत्राप्युक्तविकल्पे तेषां गुणघटकतया ऽप्येषु दुर्निरूपत्वात् ॥

॥ ग्रन्थकृद्हस्ताक्षरलिखितः आविर्भावतिरोभाववादः ॥

॥३॥

|| ग्रन्थकृद्हस्ताक्षरलिखितः आविर्भावतिरोभाववादः ||

॥४॥

|| ग्रन्थकृद्हस्ताक्षरलिखितः आविर्भावतिरोभाववादः ||

५

धापेक्षत्वधुध्यात्वसंख्याजन्यत एव नयत्न्यत इति चेन्न समवायिनं विनाऽपि च निमित्तेन कार्यजन-
स्य क्वाप्यसिद्धत्वेनात्र तथा वक्तुमशक्यत्वात्। न च चिन्तामण्यादेर्निरुपादानक दधिवसनसुवर्णादि-
जनकस्य दृष्टत्वान्नायं दोष इति वाच्यं। अपि च निमित्तानां तेषामेवोपादानत्वात्। योगिनः सामर्थ्यविशेषेण
दध्यादिजनकभूतेन दार्ष्टान्तिकस्यापि तत्र वक्तुमशक्यत्वात्। अनुपादानकस्य योगिकार्ये सर्वस्य समवाय्यस-
मवायिनिमित्तजन्यत्वमिति वैशेषिकादिसिद्धान्तहानेश्च। [illegible] संख्यायाश्चोत्पत्तेरपि
जन्यत्वं [illegible] कार्या। तथा सति निष्प्रमाणकानवस्थापत्तिस्तत्कारणादिकल्पनागौरवग्रासश्च
न चोत्पत्तिरुत्पत्त्यादि प्रत्ययानुरोधादुत्पत्तेरुत्पत्तिमङ्गीकृत्यापि विशेषाणां स्वतो व्यावर्तकत्ववत्स्वस्य
एवेति वाच्यं। आत्माश्रयापत्तेर्विशेषाणामप्युपगमानतिरिक्तप्रमाणरहितत्वेन दृष्टान्ताभावाच्च। न च
वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वमेव सेति वाच्यं। [illegible]
[illegible] कृतत्वात्। घटस्वरूपस्य तदानीं …
न तस्य वर्तमानत्वात्। न च भाविनी सत्ता प्रागभावप्रतियोगित्वं शब्दवचनमिति वाच्यं। …

योः सत्वेन भाविसत्ताया निश्चयाभावे तथा वक्तुमशक्यत्वात्। … ग्रहणसंबंधः सेति वाच्यं। प्र-
तियोगिसत्तां विना ग्रहणसंबंधस्याशक्यवचनत्वात्। तस्याप्याद्यग्रहणसंबंध एवोत्पत्तिपदार्थ इति
… वाच्यं। न चेच्छया … इति वाच्यं मानाभावात्। मायिकत्वाप-
त्तेश्च। घटो भवतीति प्रयोगानुपपत्तेश्च। प्रथमान्तविशेष्यक … बोधस्य तदभिमतत्वात्। क्रियाश्र-
यत्वस्य च कर्तृत्वाद्भवनक्रियाश्रये घट एवाख्यातानिर्दिष्टे … कालस्य समानपदोपात्तत्वे-
नान्वयाशक्तौ घटानङ्गीकारे तस्याशक्यवचनत्वात्। न च व्यापारस्यापि समानपदोपात्तत्वेन कालो-
न्वयस्य तत्र शक्यवचनत्वात्प्रयोगानुपपत्तिरिति युक्तं। एवमप्याश्रयवर्तमानत्वमन्तरेण व्यापारव-
र्तमानताया अनुपपद्यमानत्वाद् घटादिसत्तायाः पूर्वं च सिद्धे परान्तरोपात्तफलाश्रयपदेऽपि सत्ता
स्योत्पत्तिरूपस्य वा … फलस्य धर्मत्वेन धर्मिणं विना प्रसिद्धाधर्मिणोऽपि सत्तायाः पूर्वं च सि-
द्धेः। न च … कालान्वितस्य कर्तृसत्त्वाद्युत्पद्यते घट इति प्रयोगोपपत्तिरिति वाच्यं व्या-
पारादिद्वारैवाश्रयांशे … व्यापारादितिरोभावादशाभावेन कालान्वयाभावात्तादृशप्रयोगाभाव-

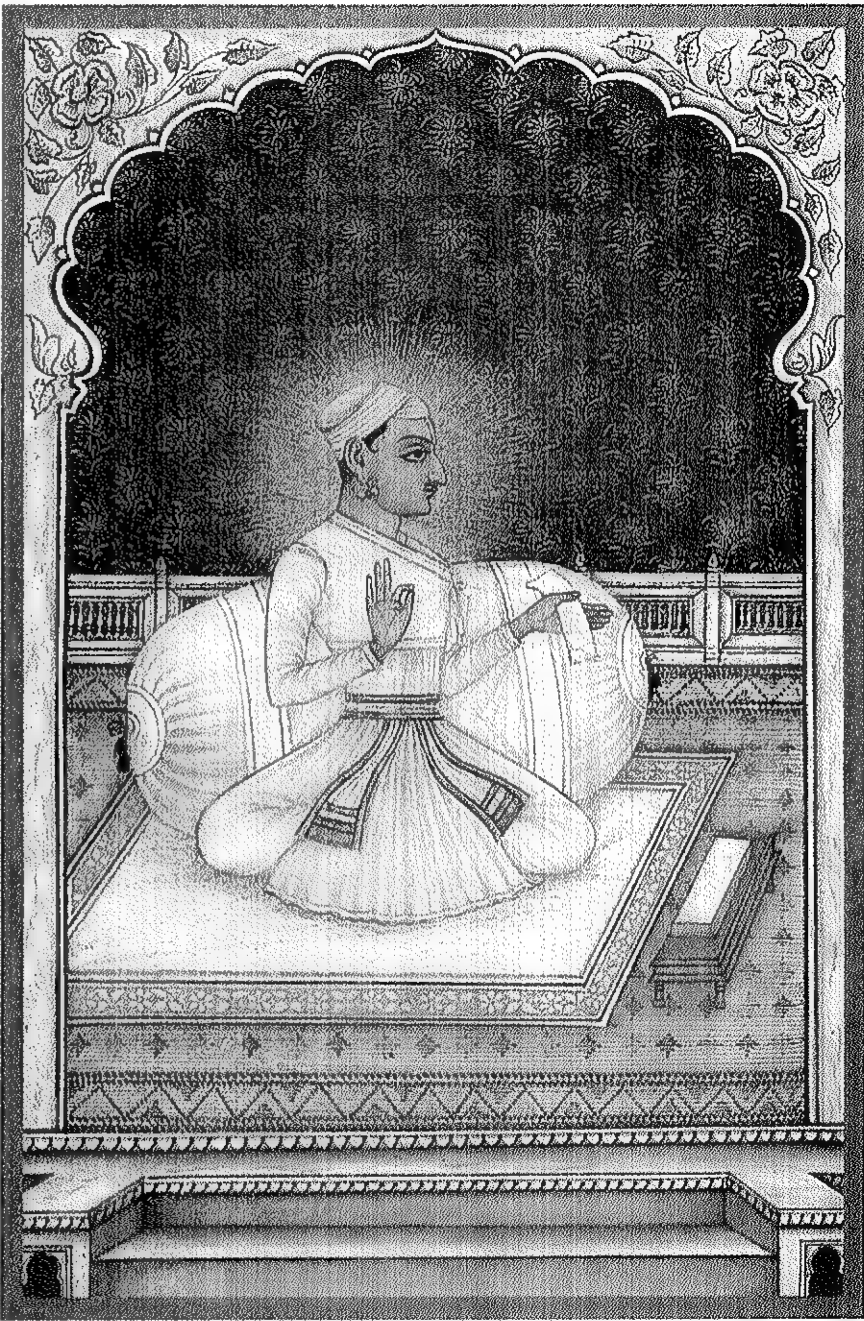
पृष्ठस्य २

६

स्यानायासेन सिद्धेर्न स्यादसत उत्पत्तिर्नियुक्तिमधिरोहतीत्यतो धर्मी पूर्वं सिद्धः सर्वथैवाप्युपेयः
॥१॥ तथा नष्टो घट इति व्यवहारस्य सिद्धये तदाप्युपेयस्तेनायं धर्मी सिद्धः सनातनः॥२॥ एवं च धर्मिनि-
त्यत्वे … बोध्यं पुरुष एवेदं सर्वं सर्वमिदं जगत्॥ इदं स … मात्मैवेत्यादिश्रुतिर्द-
र्शनात्। तथा सति सत्कार्यवादः … तादृशव्यवहारेऽपि न कृतिस्तस्य काचन॥ शक्तिः
सिद्धा … आविर्भावतिरोभावशक्तिभ्यामिति …
वेन … इति॥३॥ … कार्यता॥ कारणत्वं च स्वघटे न तत्कारो … ॥४॥
तथा हि॥ परोक्षविधिर्विधेयस्य … इति श्रुतेर्मूल … नारायणः …
गङ्गा … भगवतैव च …
… आविर्भावतिरोभावावपि भगवतः शक्ती॥ आविर्भावतिरोभा- ॥६॥
वशक्ती … इति वाक्यात्। आविर्भावतिरोभावशक्तिद्वयकरणमुत्पत्तिनाशव्युत्पत्त्यैव तत्रोप-
देशः आविर्भावयति॥ उपादानान्तःस्थं कार्यरूपं बहिः प्रकटयतीति यानिमित्तगतोपादानगता च

शक्तिः सा आविर्भावशक्तिरुच्यते॥ एवं निरोधप्रकटं भावयति बहिःस्थं कार्यमुपादानान्तःस्थापयति यया शक्ति-
र्नाशगता सा तिरोभावशक्तिरुच्यते॥ … आविर्भवनमाविर्भावस्तिरोभवनं तिरोभावः। तच्चा-
स्मिन्सृष्टिकाले … तथा तथा …
लभ्यो भवति … विषयत्वमिति … त्रिविधं … नित्य
… प्रतीतिर्नाकाङ्क्षा … प्रत्ययात्। न्यायस-
… परिच्छिन्ने भगवति प्र-
… स्वरूपं। तेषां सर्वेषां स्वरूपभेदेऽपि … आविर्भावतिरोभावपदाभ्यां संग्रहः॥ एवं च
… आविर्भाव … रूपो धर्मो यस्याविर्भवनरूपधर्मसिद्धिस्तस्य तत्का-
रणमित्युच्यते॥ … तिरोभाव … धर्मो यस्य तिरोभवनरूपधर्मसिद्धिस्त-
स्य तन्नाशादिरित्युच्यते॥ एतेनैव कार्यनाशपक्षव्याख्याता। तथैव … आविर्भावबहिर्भावस्य
नाशोत्पत्तिशालित्वमेवानित्यत्वमित्यपि। अनेनैव न्यायेनाविर्भावतिरोभावयोरपि नित्यत्वं सत्

॥ ग्रन्थकृद्धस्ताक्षरलिखितः आविर्भावतिरोभाववादः ॥



अवतारवादावलीकाराणां प्राचीनचित्रानुकृतिः

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

॥ अवतारवादावलीकारिकासंग्रहः ॥

(आचतुर्थाद् नवमवादपर्यन्तः)

(४.भेदाभेदाभेदस्वरूपनिर्णयवादः)

ब्रह्माभेदोपासनाद् ज्ञानतो वा
ब्रह्मात्म्यैक्येऽप्यंशतामत्यजन्तः ॥
यस्यैश्वर्यादासते यन्नियम्यास्
तं श्रीकृष्णं देवदेवं नमामि ॥१॥
ब्रह्मात्मैक्येऽप्यभेदोऽस्य किं भेदसहनक्षमः ॥
किं वा तदक्षमः श्रुत्या सिद्ध्यत्येतद् विचार्यताम् ॥२॥
(सदसद्भ्यामनिर्वाच्यं द्वैतं न श्रुतिगोचरम् ॥ (द्र.पा.टि.)
तादात्म्यन्तु सदद्वैतश्रुत्युक्तं चाभ्युपेयते ॥३॥
भेदस्स्वाभाविकोऽत्यन्तोऽथवा न श्रुतिगोचरः ॥
कार्यकारणभावेऽपि तथाचांशांशिनोरपि ॥४॥
स्मृतिसूत्रपुराणेष्वप्यखिलं हि तदात्मकम् ॥
मिथ्यात्वन्तु क्वचित्तस्याऽतथात्वेन निरूप्यते ॥५॥
निर्णीतन्तु स्वरूपं हि भेदाभेदविभेदकम् ॥
श्रीमदाचार्यकृपया हृद्यारूढं यथोदितम् ॥६॥)

----※----

(५.सृष्टिभेदवादः)

यो लीलया किल गवामवनाय गोत्रं

हस्तेऽतिकोमलतमे कृपया दधार ॥
यद्रूपमेतदखिलं यत आस यस्मात्
सद्वद् विभाति तमजं शरणं प्रपद्ये ॥१॥
(न जगद् ब्रह्मरूपं स्याद् उत्पत्तेः प्राग् अभावतः ॥
परमाणुसमारब्धं कर्ता तस्येश्वरो यतः ॥२॥
नह्यण्वारब्धतासिद्धिः सतोऽभावनिवारणात् ॥
ब्रह्मोपादानकत्वाद्धि ब्रह्मरूपं सदेव तत् ॥३॥
प्राकृतं जगदेतद्धि प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका ॥
पुरुषाणान्तु सांनिध्यात् क्षुब्धा सातु विवर्तते ॥४॥)
तन्न युक्तं श्रुतात्मत्वचेतनत्वविरोधनात् ॥
प्रकृतौ मूलहेतुत्वस्यासिद्धेरनुमानतः ॥५॥
(न सन्नासन्न सदसन्मिथ्या मायिकमेव तत् ॥
ब्रह्मण्यारोपितं ब्रह्मज्ञाननाश्यं तु तन्मतम् ॥६॥)
अत्रोच्यते न सर्वोऽपि प्रपञ्चो मायिकोऽपितु ॥
नश्वरो मायिकस्तेन सत्यो युक्त्यापि सिद्ध्यति ॥७॥
इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाम्बुजचेतसा ॥
निबन्धाद्युक्तमार्गेण सृष्टेर्भेदो निरूपितः ॥८॥

----※----

(६.आविर्भावतिरोभावादः)

यदाविर्भाव आनन्द आविर्भवति सर्वतः ॥
तिरोभवन्ति सन्तापास्तं श्रये गोकुलेश्वरम् ॥१॥
उच्यते तौ हरेः शक्ती नियताविच्छया ततः ॥
धर्माधर्मस्य संसिद्धेः कारणं च न दुर्वचम् ॥२॥

तस्मादसत उत्पत्तिर् न युक्तिम् अधिरोहति ॥
अतो धर्मी पूर्वसिद्धः सर्वथैवाभ्युपेयताम् ॥३॥
तथा ''नष्टो घट'' इति व्यवहारस्य सिद्धये ॥
तदाप्युपेयस्तेनायं धर्मी सिद्धः सनातनः ॥४॥
एवञ्च धर्मिनित्यत्वे ब्रह्मतादात्म्यम् अस्य च ॥
बोध्यं ''पुरुषएवेदं''-''सवै सर्वमिदं जगत्'' ॥५॥
''इदं सर्वं यदयमात्मे''त्यादिश्रुतिदर्शनात् ॥
तथा सति''स भूतं स भव्यम्''एतच्छ्रुतेर्बलात् ॥६॥
तादृशव्यवहारेऽपि न क्षतिस्तस्य काचन ॥
शक्तिस्तु सिद्धा प्राक् तेन शक्ताद्धेतोर्बहिःस्थितिः ॥७॥
आविर्भावस्तिरोभावस्तस्मिन्नेव स्थितिर्मता ॥
अयं''जनी प्रादुर्भावे''-''णश चादर्शने''इति ॥८॥
धात्वर्थदर्शनाद् अर्थः पुष्टस्तेनात्र कार्यता ॥
कारणत्वं च सुघटं तत्प्रकारोऽधुनोच्यते ॥९॥
अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः ॥
नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा ॥१०॥
इति श्रीवल्लभाचार्यवाणीसूचितया दिशा ॥
आविर्भावतिरोभावप्रपञ्चोऽयं विचारितः ॥११॥

----*----

(७.ख्यातिवावादः)

यन्मायया बहिःक्षिप्ता ख्यायते बुद्धिरर्थवत् ॥
निवर्तते च यद्बोधात् तं नमामि जनार्दनम् ॥१॥
यथार्थतान्यथाख्यातौ मुष्टतत्तास्मृतावपि ॥

स्मरणानुव्यवसिती स्याद् ग्रहणस्मरणात्मके ॥२॥
ज्ञानद्वये चैकज्ञानतुल्यत्वस्य विरोधनम् ॥
संस्कारादेः बलिष्ठत्वाद् नापेक्षा रजतस्य च ॥३॥
अनिर्वाच्यस्यातएव नासत्ख्यातिः सदादृता ॥
सर्वदा तत्प्रसङ्गाच्च सदसत्ख्यातिरप्यतः ॥४॥
अतएव चाभिनवान्यथाख्यातिर्न युज्यते ॥
बुद्धिस्तत्त्वान्तरं तेन नात्रात्मख्यातिसंशयः ॥५॥
कार्यः सर्वजनीनत्वात् तत आद्रियताम् इयम् ॥
एवं सुबोधिनीप्रोक्तप्रकारस्यानुसारतः ॥६॥
यथाबुद्धिर्मयाप्येष ख्यातिवादो निरूपितः ॥

----*----

(८.प्रतिबिम्बवादः)

ज्योतिस्तमालनीलं करुणाशीलं मुदा स्तौमि ॥
हरति तमोनिकुरम्बं यत्प्रतिबिम्बं स्वकीयानाम् ॥१॥
(न बिम्बादतिरिक्तं वै प्रतिबिम्बं भवेत् क्वचित् ॥
तद्दर्शकाः परावृत्ताः ह्युपाधेर्नेत्ररश्मयः ॥२॥)
तत्त्वन्तु प्रतिबिम्बोऽस्ति शब्दात् प्रत्ययतस्तथा ॥
विलक्षणत्वाद् भिन्नोऽयम् अन्येभ्यो मायिकत्वतः ॥३॥
प्रतीतितस्तु तत्सिद्धिः परैरेवोपपातिताः ॥
सापि न्याय्या युक्तिमत्त्वाद् नाधिकोऽतस्तदुद्यमः ॥४॥
किञ्चादर्शविशेषेऽपि चातुर्येण विनिर्मिते ॥
प्रत्यक्षं स्वमुखं भाति तत्रोक्तोपायकुण्ठता ॥५॥
यतोऽक्षेभ्यः प्रतिहताः परावृत्य दृगंशवः ॥

संसृष्टः स्वमुखेनैकमीक्षेरन् न बहूनि तु ॥६॥
श्रीविट्ठलेशकृपया तत्वदीपप्रकाशतः ॥
प्रतिबिम्बं निश्चितवान् तद्दासः पुरुषोत्तमः ॥७॥

-----※-----

(९.अन्धकारवादः)

दर्शय नाथ! गुहायां तमोवृतायां स्वतः समागत्य ॥
मुचुकुन्दइव शयाने मयि कृपयानेहसापि वपुः ॥१॥
(तमस्तु भासते तावत्स्वानुयोगिविशेषणम् ॥
तस्मादावरणत्वं हि तस्य नैवोपपद्यते ॥२॥)
न तद् द्रव्याद्यसौत्रत्वाद् नान्यो नामादिभेदतः ॥
'माये'त्युक्तेः पुराणे स्याद् मायाकार्यान्तरं तमः ॥३॥
इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाम्बुजचेतसा ।
सुबोधिन्युक्तमार्गेण तमस्तत्त्वं समर्थितम् ॥४॥

-----※-----



पादटिप्पणी : इह ग्रन्थकृद्भिः वादविषयाणां कारिकात्मकसंग्रहरूपेण मङ्गलाचरण-पूर्वोत्तरपक्ष-उपसंहार-कारिकाः इत्येवं न्यूनातिन्यूनं प्रायः कारिकाणां चतुष्टयस्य योजनं विचारितमपि क्वचिद् अनुष्ठितं क्वचिन्नापीति एकरूपतानिर्वाहाय मया यत्र नोपलभ्यते तत्र तद्योजनधाष्ट्र्यं ( ) इत्येवं कोष्ठकान्तर्गतम् आचरितम् इति विदुषां पुरतः क्षमाभ्यर्थना आवेद्यते. गो.श्या.मः.

॥ अवतारवादावल्यां ॥

चतुर्थो

॥ भेदाभेदस्वरूपनिर्णयवादः ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

शुद्धाद्वैतप्रकाशिका

न भेदे वाभेदे भवति वचसां हार्दमथवा
न भेदाभेदेऽपि प्रमुखमिह तद् ब्रह्मजगतोः ।
तयोस्तादात्म्यस्य श्रुतिशतमतत्वं सुविदितं
कृतं येन श्रीमान् जयतु जयताद् वल्लभविभुः ॥

इह हि सर्वेषामपि उपनिषदादिशास्त्राणां परमं तात्पर्यं वस्तुतो न द्वैते न अद्वैते नापि द्वैताद्वैतसमुच्चये, नहि ईदृशेषु अन्येष्वपि वादेषु वा, किन्नाम परब्रह्मणः परमात्मनः पुरुषोत्तमस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य माहात्म्यप्रतिपादनेन तदंशभूतेषु जीवात्मसु भगवद्भावसम्पादनएव. जगदुपादानत्वं जगत्कर्तृत्वं जगदीश्वरत्वं जगत्संहारकत्वं सर्वात्मकत्वं सर्ववशित्वं सर्वान्तर्यामित्वं सर्वकामत्वं सर्वकाम्यत्वं सर्वोपास्यत्वं सर्वफलदातृत्वं सर्वफलरूपत्वं च इत्येवमादीनि खलु अनेकविरुद्धधर्मबोधकानि श्रुतिवचनानि ब्रह्ममाहात्म्यप्रतिपादकान्येव. तथाविधमाहात्म्यवता भगवता च सह जीवात्मनां तादात्म्यं ''तत् त्वम् असि'' इत्येवमादिवचनबोधितं निरस्तसमस्तोपधिस्नेहजनकं भवति तद् इदम् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः : ''**यथाकथञ्चिन् माहात्म्यं तस्य सर्वत्र वर्ण्यते भजनस्यैव सिद्ध्यर्थं तत्त्वमस्यादिकं तथा — वेदानां भगवन्माहात्म्यप्रतिपादकत्वं...माहात्म्यज्ञानस्य उपयोगम् आह 'भजनस्यैव सिद्ध्यर्थम्' इति, भक्तिसिद्ध्यर्थम्. भक्तेः अंशद्वयम्(**माहात्म्यज्ञानं सुदृढसर्वतोऽधिकस्नेहः च**)इति... द्वितीयांशम् आह 'तत्त्वमस्यादिकं तथा' कथयति.**'' (त.दी.नि.प्र.१।४१) इत्यत्र.

तस्माद् भगवन्माहात्म्यतादात्म्यान्यतरपर्यवसिततया अशेषोपनिषद्वचसां

भगवद्भक्तावेव परमं तात्पर्यम् इति शुद्धाद्वैतवादिनां घण्टाघोषः.

तत्र ब्रह्मजीवैक्याविरोधिमाहात्म्यज्ञानजननोपयोगितया शुद्धाद्वैतवादाङ्गभूतो हि तादात्म्यवादएव श्रीमदाचार्यचरणानां भृशम् अभिमतः. यद्यपि श्रीमदाचार्यचरणाद् आरभ्य श्रीपुरुषोत्तमचरणं यावत् स्वमतस्य 'शुद्धाद्वैतवादः' इति अभिधानं नातीव प्रसिद्धम् आसीत्. तदेतद् श्रीमदाचार्यग्रन्थेषु एतदभिधानानुपलम्भात्, श्रीमदाचार्यचरणानाम् अष्टोत्तरशतनामरूपे सर्वोत्तमस्तोत्रेऽपि "**साकारब्रह्मवादैकस्थापको वेदपारगः**" (सर्वो.स्तो.८) इत्येव नामोपलम्भात् च अवसीयते. ग्रन्थकृद्भिश्च वादस्य अस्य 'भेदाभेदस्वरूपनिर्णयवादः' इति अभिधानकरणाद्, अन्यत्रापि "**शुद्धाभेदवादोऽपि दुष्टइति न्यायसामञ्जस्यार्थं च तादात्म्यमेव अङ्गीकृत्य श्रुत्यर्थो निर्णयः**" (सुबो.प्रका.२।१।५) इति मायावादिवेदान्ताभिप्रायेण 'शुद्धाभेद'पदप्रयोगात् तथा. क्वचित्तु पुनः "**आत्मनां परमात्मना शुद्धाभेदम्**" (अणुभा.प्रका.२।१।६) इति स्वसिद्धान्ताभिमताद्वैतस्वरूपनिरूपणायापि 'शुद्धाभेद'पदस्य प्रयोगदर्शनाद्, अन्यत्र बहुषु स्थलेषु "**विजातीयद्वैतस्यापि अभावात् शुद्धाद्वयसिद्धिः**" (अणुभा.प्रका.२।१।१३) इति, "**प्रमाणबलात् शुद्धाद्वैतस्य अभ्युपगतत्वेन अदोषात्**" (अणुभा.प्रका.२।१।६) इति, तथैव "**शुद्धाद्वैतानङ्गीकारोऽपि अयुक्तः**" (अणुभा.प्रका.२।१।१४) इत्येवमादिषु वचनेषु अनियततया 'शुद्धाद्वैत'तत्पर्यायरूप'शुद्धाभेदा'दिपदयोः अनियतार्थकप्रयोगोपलम्भात् च अवसीयते यत् स्वसम्प्रदायेऽपि नारम्भादेव 'शुद्धाद्वैत'पदं स्वकीयमतस्वरूपाभिधायकम् आसीद् इति. पश्चात्तु रूढ्या तथा जातम् इति अपरा कथा.

किञ्च रश्मिकाराअपि "'**शुद्धाद्वैतम्' इति इदं द्वेधा भवति : [1]यदा सर्वं ब्रह्मातिरिक्तं माया, [2]यदावा सर्वं ब्रह्मातिरिक्तं कार्यं ब्रह्म इति**" (अणुभा.प्रका.र.२।३।५२) इति निरूपयन्ति. तेनच उभयत्र मायिकद्वैतरूपाधिष्ठानभूताद्वैते ऐच्छिकसद्रूपद्वैताधारभूताद्वैतेऽपि 'शुद्धाद्वैत'पदशक्तिं अङ्गीकुर्वन्ति. शब्दस्तोममहानिधावपि "**केवले निर्दोषे पवित्रे शुभ्रे**" इति चतुर्ष्वपि अर्थेषु 'शुद्ध'पदस्य शक्तिः अङ्गीकृतेति केवलाद्वैतार्थकत्वमपि एतत्पदस्य नासम्भवदुक्तिकम्. तथाचोक्तं कल्पतरुपरिमलकारैः "**अभेदएव स्याद् इति पाठम् अनुरुध्य शुद्धाद्वैतमेव सिद्ध्येद् इति तात्पर्यं वर्णितम्**" (ब्र.सू.शां.भा.क.प.२।१।१४). तस्माद् एतत्पदस्य ब्रह्मजगत्तादात्म्यवाचकत्वं न केवलेन योगेन रूढ्या वा किमुत योगरूढ्यैव

इति सिद्धम्. अतएव श्रीपुरुषोत्तमचरणाअपि "**सिद्धान्तेतु 'प्रजायेय' इति इच्छाहेतुको (भेदः), नैसर्गिकपक्षेऽपि विरुद्धधर्माधारत्वात् सामर्थ्यादेव न एकत्वादिविरोधइति शुद्धाद्वैतं निरवद्यम्. अतो ये वादाः यानि च दर्शनानि तानि सर्वाणि एतदेकदेशावलम्बीनि इति बोध्यम्**" (अणुभा.प्रका.२।३।५३) इति अवादिषु. तस्मात् स्वाभिमतानां समेषां ब्रह्मवाद-विरुद्धधर्माश्रयतावादा-ऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद-सत्कारणवाद-सत्कार्यवादा-ऽऽविर्भावतिरोभाववादा-ऽविकृतपरिणामवाद-कार्यकारणतादात्म्यवादां-ऽशांशितादात्म्यवाद-लीलार्थसृष्टिवादादीनां, पराभिमतानां च तेषां-तेषां प्रकृतिपरमाणुमायाकालादृष्टादिकारणवादरूपाणां दर्शनानामपि, एतस्यैव शुद्धाद्वैतवादस्य एकदेशावलम्बित्वं यदि भवति चेत् तदा भेदाभेदस्वरूपनिर्णयग्रन्थव्याख्यानव्याजेन शुद्धाद्वैतव्याख्यानप्रयासोऽयं विदुषां कृते न अपरितोषाय भवेद् इति तदर्थं प्रयतामहे.

इदम् अत्र विचारणीयं भवति 'शुद्धाद्वैत'पदस्य कः तावद् अर्थः इति.

तत्र शुद्धाद्वैतमार्तण्डकाराः श्रीगिरिधराः 'शुद्ध'पदकृत्यं व्याचक्षाणाः "**अत्रैव शाङ्कराः प्राहुः**" इत्यारभ्य "**तन्निवृत्त्यर्थम् आचार्यैः पदं 'शुद्धं' विशेषितम्**" इत्यन्तेन ग्रन्थभागेन उपक्रमं विधाय "'**शुद्धाद्वैत'पदे ज्ञेयः समासः कर्मधारय अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः, मायासम्बन्धरहितं 'शुद्धम्' इत्युच्यते बुधैः, कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्, इति ब्रह्मविदां हार्दं शुद्धाद्वैतं श्रुतेः मतम्**" (शुद्धा.मार्त.२२-२९) इति निरूपयन्ति. इह 'अद्वैत'पदघटकनञः कृत्यन्तु इतः पूर्वमेव "**द्विधा इतं तु यद्यत् स्याद् नामरूपात्मकं जगत्, द्वीतं तदेव द्वैतं स्याद् अद्वैतं तु ततोऽन्यथा**" (शुद्धा.मार्त.२-४) इत्येवं व्याचख्युः. एतेन मायावादनिरसनैकतात्पर्यतया शुद्धाद्वैतमतस्य तत्त्वनिर्णयफलेप्सुकथारूपत्वम् उत विजिगीषुकथारूपत्वम् इति भवति विचिकित्सा? तत्र यदि श्रीशङ्कराचार्यैः मायावादनिरूपणं न कृतं स्यात्, न स्यात् तदा श्रौतस्यापि अस्य वादस्य आत्मलाभो, व्यावर्त्याभावादेवेति 'शुद्धाद्वैतवादः' इति समाख्या न साधीयसी किमुत 'शुद्धाद्वैतजल्पः' इत्येव अभिधानं युक्तम् उत्पश्यामः इति पूर्वपक्षः प्राप्नोति. तत्र सिद्धान्तस्तु मैवं, अस्य मतस्य "**वाचा विरूपनित्यया**" (ऋक्संहि.८।७५।६) इति नित्यसिद्धश्रौतसिद्धान्तव्याख्यानैकप्रयोजनकत्वेन न पुनः शाङ्करमतनिरसनैकप्रयोजनकत्वम्. अतश्च 'शुद्धाद्वैतवादः' इत्यस्य अस्मदुक्तार्थएव प्रयोगः युक्ततरः इति

मन्तव्यम्. ननु तर्हि शुद्धाद्वैतमार्तण्डकृदुक्तेः किं तात्पर्यम्? अत्र ब्रूमः 'शुद्ध'पदेन व्यावर्त्यानां हि माया किल उपलक्षणीभूता ज्ञेया. अतो मायायाएव व्यावर्त्यत्वम् इति प्रवादस्तु अनवगतश्रीमदाचार्यहार्दानामेव न पुनः तत्सिद्धान्ताभिज्ञानाम्. यथाच उच्यते श्रीमदाचार्यचरणैः **"अयं प्रपञ्चो न प्राकृतो, नापि परमाणुजन्यो, नापि विवर्तात्मा, नापि अदृष्टादिद्वारा जातो, नापि असतः सत्तारूपः किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यः तादृशोऽपि भगवद्रूपो अन्यथा असतः सत्ता स्यात्. साच अग्रे वैनाशिकप्रक्रियानिराकरणे निराकरिष्यते. वैदिकस्तु एतावानेव सिद्धान्तः"** (त.दी.नि.प्र.१।२३) इति प्रकृत्यादीनां सर्वेषामपि ब्रह्मव्यतिरिक्ततया कल्पितानां चिकल्पयिषितानां वा अन्येषामपि तत्त्वानां 'शुद्ध'पदेन व्यावृत्तिः अङ्गीकरणीया. आचार्यचरणौक्तौ **"भगवत्कार्यः... तादृशोऽपि भगवद्रूपः"** इत्येतावता अंशेन कार्यकारणयोः तादात्म्यसम्बन्धो बोध्यते. तादृशं हि अद्वैतं शुद्धं, निर्दोषमिति यावद्, भवतीति केवलाद्वैतवादादपि पार्थक्यमपि सिद्ध्यत्येव.

अत्र ब्रह्मजगतोः तादात्म्ये विप्रतिपन्नाअपि ते-ते वेदान्तिनः मायातत्कृतावरणविक्षेपयोः, भगवन्मूलरूपावताररूपयोः, गुणगुणिरूपसार्वज्ञ्येश्वरयोः वा तादात्म्यविषयेतु अविप्रतिपन्नाएवेति न तादात्म्ये अप्रसिद्धतादोषसम्भावना काचित्. अस्य तादात्म्यस्य भेदसहिष्ण्वभेदरूपत्वं सुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यचरणेन निरूपितमेव तथाहि : **"'इदं हि विश्वंभगवान्' इति, भगवतः स्वरूपं चरित्रं च निरूपणीयम्. तद् द्वयं भेदेन न निरूपणीयं तथा सति चरित्रस्य अनात्मत्वेन तद्भावनायां संसारः स्यात्. अतो द्वयम् अभेदेन निरूपयति 'इदं विश्वं भगवान्' (इति) विश्वम् अनूद्य भगवत्त्वं विधीयते. तथा सति सर्वत्र भगवद्दृष्टिः चेत् कृतार्थो भवतीति कार्यं भगवत्त्वेन निरूपितम्. 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान्' इति श्रुतिः 'हि'शब्देन सूचिता. उत्तममध्यमाधमाधिकारिभेदेन त्रेधा अत्र निरूपणं कर्तव्यम्... ननु एकस्य जगतः कथं त्रिरूपत्वम्? तत्र आह 'यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः' इति. तत्र[(उत्तमे)] जगतः स्थितिः भगवत्त्वेवेति भगवानेव जगतीति भगवानेव जगत्. मध्यमेतु भगवतः सकाशाद् जगदुद्भवः, तेन कार्यकारणयोः तादात्म्यात् कार्यात्मना भेदः कारणात्मना अभेदः इति 'भेदसहिष्णुः अभेदः तादात्म्यम्' इति वचनाद् जगद् भगवानिवेति. मूढेतु भगवतः प्रलयकर्तृत्वात् नाशप्रतियोगि जगद् भगवांश्च सदातनइति इतरः."** (सुबो.१।५।२०) इति. नच *अत्र मध्यमायां दृष्टौ तादात्म्योल्लेखात् न तादात्म्यवादे महाप्रभूणां मुख्यं तात्पर्यम्* इति शङ्कनीयं, तादात्म्यवादावलम्बिनी

सादृश्यदृष्टिः हि मध्यमा भवति नतु तादात्म्यावादावलम्बिनी अद्वैतदृष्टिः इति विवेकात्. अन्यथा ब्रह्मजगतोः तादात्म्यानङ्गीकारे ब्रह्मणः सदातनत्वं जगतश्च नाशप्रतियोगित्वं च इति अङ्गीकारेतु दृष्टेः मूढताप्रवेशोक्तिः बाध्येत. तस्माद्धि शुद्धाद्वैतमार्तण्डकाराणाम् **"अतोहि मध्यमः पक्षः शुद्धाद्वैतानुरोधतो बोधाय बहुसन्दर्भे गोस्वामिपुरुषोत्तमैः श्रीमदाचार्यचरणैः यत्र कुत्रापि दर्शितः"** (शुद्धा.मार्त.३५-३६) इति उक्तेरपि अभिप्रायस्तु श्रीनिम्बार्कभास्कराचार्याभिमतस्वाभाविकौपाधिकभेदसहिष्ण्वभेदस्य मध्यमकक्षापन्नदृष्टित्वप्रतिपादनार्थं न पुनः स्वाभाविकाभेदस्य भगवदिच्छाप्रकटितभेदसहिष्णुतायाः मध्यमाधिकारिप्रतीतिविषयताप्रतिपादकत्वे तात्पर्यं शक्यम् उन्नेतुम्. ननु भेदाभेदयोः समुच्चयएव कुतो नाङ्गीक्रियते? तदलं नामान्तरकल्पनया पदार्थान्तरकल्पनाविडम्बनेन इति चेत्, न **"कार्यकारणयोः भेदाभेदमतनिराकरणाय पिण्डमणिनखनिकृन्तनग्रहणम्"** (अणुभा.१।४।२३) इति निरूपयता श्रीमदाचार्यचरणेन भेदाभेदमतास्वीकारे श्रौतो हेतुः द्योतितएवेति. विशेषतस्तु उपरिष्टाद् उपपादयिष्यामः.

ननु सतएव भेदस्य सहिष्णुः अभेदः इति अङ्गीकारे तादात्म्यस्य भेदसहिष्ण्वभेदरूपत्वं सम्भवदुक्तिकं भवति न पुनः असतोऽपि भेदस्य अप्रसक्तत्वादेव. अथ भेदस्य सत्त्वेतु स्वीक्रियमाणे अभेदो निराकृतएवेति उभयतःपाशः इति चेत् न, तादात्म्यस्वरूपघटकयोः भेदाभेदयोः स्वरूपानवगमात्. नहि ब्रह्मगतैकत्वं एकत्वात्यन्ताभावरूपद्वैतस्य सहिष्णु इति वदामो नच द्वित्वात्यन्ताभावरूपम् अद्वैतं द्वैतसहिष्णु इति वा. परस्परात्यन्ताभावरूपयोः हि द्वैताद्वैतयोः एकत्र ब्रह्मणि समावेशोऽपि नास्मद्विवक्षितो अर्थः. तद् उक्तं श्रीपुरुषोत्तमैः भावप्रकाशिकायां **"यथा अमित्रो न मित्रं न मित्राभावः किन्तु मित्रविरुद्धा काचन सम्पत्. एवम् अत्रापि एतयोः अभेदो न भेदो न भेदाभावः किन्तु भेदविरुद्धसम्पद्"** (भाव.प्रका.३।२।२८) इत्यत्र. परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोः सुरत्वासुरत्वयोः एकत्र समावेशस्य अशक्यत्वेऽपि परस्परविरुद्धयोः सुरासुरयोः श्रीमन्महादेवसन्निधौ एकत्र कैलाशे सामानाधिकरण्यं पुराणप्रसिद्धमेवेति. ननु केयं "'मम माता वन्ध्या'सदृशीहि वार्ता भेदाभेदयोः सामानाधिकरण्यं नतु समुच्चयः" इति! तस्माद् निर्ग्रन्थिभिः सह लग्नग्रन्थिग्रथितैव इयं वेदान्तव्याख्यारीतिः न खलु वेदान्तप्रमेयेण ब्रह्मणा उद्वोढुं योग्या. यथा किल अवोचेतां श्रीमद्वाचस्पतिमिश्रवेदान्तदैशिकौ भामतीतत्त्वमुक्ताकलापयोः [(क)] **"सम्प्रति अनेकान्तवादिनम् उत्थापयति...अनेकाभिः**

शक्तिभिः या प्रवृत्तयो नानाकार्यसृष्टयः तद्युक्तं ब्रह्म एकं नाना च इति'' —[(ख)] **''भेदाभेदोपपाद्यं सकलमिति मते सप्तभङ्गी न दूष्या''** (भाम.२।१।१४ — त.मु.क.३।२८) इति. तत्र अस्माकं प्रतिविधानं : निर्ग्रन्थिभिः ग्रथितास्विव ''[१]स्याद्द्वैतं [२]स्यादद्वैतं [३]स्याद्द्वैतञ्चाद्वैतञ्च [४]स्यादवक्तव्यं [५]स्याद् द्वैतञ्चावक्तव्यञ्च [६]स्यादद्वैतञ्चावक्तव्यञ्च [७]स्याद्द्वैतञ्चाद्वैतञ्चावक्तव्यञ्च'' इत्येतासु सप्तभङ्गीषु मध्ये प्रथमायां भङ्ग्यां समावेशप्रयुक्ता द्वैतवादिनां यदि नानेकान्तवादिता द्वितीयस्यां भङ्ग्यां समावेशप्रयुक्ता केवलाद्वैतवादिनामपि यदि नानेकान्तवादिता तर्हि तृतीयस्यां भङ्ग्यां समावेशैकनिबन्धना भेदाभेदवादिनामेव ऐकान्तिकी अनेकान्तवादिता कुतः ? इति तन्न ज्ञातुम् अर्हामः.

तस्मात् केवलाद्वैतवादिनां मते यथा मिथ्यात्वलक्षणं **''सद्भिन्नत्वे सति असद्भिन्नत्वे सति सदसद्भिन्नत्वम्''** इति अङ्गीक्रियते तथा **''एकत्वात्यन्ताभावरूप-द्वैतभिन्नत्वे सति द्वित्वात्यन्ताभावरूपाद्वैतभिन्नत्वे सति द्वैताद्वैतभिन्नत्वम्''** इति तादात्म्यस्य लक्षणाङ्गीकारे का बाधा ? यथाच मायावादिमते सदसत्त्वे बाधानर्हप्रतीत्यनर्हत्वरूपे पारिभाषिकेइति तन्मते नैकतरप्रतिषेधेन अपरप्रसक्तिः तथैव एकत्वात्यन्ताभावद्वित्वात्यन्ताभावभिन्ने हि द्वैताद्वैते अङ्गीक्रियमाणेऽपि नैकतरनिषेधेन अन्यतरप्रसक्तिः आपादयितुं शक्या. पञ्चीकरणग्रन्थे तावत् श्रीमच्छङ्कराचार्येणापि **''न भिन्नं नाभिन्नं नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चिद्''** इति वदता तादात्म्यरूपाभेदनिषेधपूर्वकं द्वित्वात्यन्ताभावरूपाद्वैतएव भरः स्वस्य प्रदर्शितः तेन भावात्मकाद् अभेदाद् अभावात्मको अभेदो भिन्नएवेति सिद्ध्यति. अतएव **''न खलु अनन्यत्वम् इति अभेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधामः''** (भाम.२।१।१४) इति भामतीकारोक्तमपि इह सङ्गच्छते. तस्मात् 'शुद्धाद्वैत'घटकम् 'अद्वैत'पदं न द्वैतात्यन्ताभाववाचकं किमुत एकत्वात्यन्ताभाववदवृत्तिधर्मवत्त्वमेव तस्य अर्थः. तस्माद् बहुभवनात् प्राक् एकस्मिन् ब्रह्मणि पश्चाच्च ''बहु स्यां प्रजायेय'' (छान्दो.उप.६।२।३-तैत्ति.उप.२।६।१) इति श्रुतिसिद्धसर्वभवनसामर्थ्यवतः परब्रह्मणः सत्यसङ्कल्पबलेन अनेकत्वाविर्भावेऽपि स्वाभाविकस्य एकत्वात्यन्ताभाववदवृत्तिधर्मरूपस्य अद्वैतस्य अनपगमादेव न काचित् क्षतिः. एकस्मिन्नेव बहुत्वप्राकट्यात् च अनेकत्वरूपभेदसहिष्णुः अभेदोऽपि निर्बाधएव. तच्च बहुत्वं सच्चिदानन्दाद्वयरूपे ब्रह्मणि चिदानन्दांशतिरोधानेन प्रकटितेषु सदंशभूतेषु प्रकृत्यादिपञ्चभूतान्तेषु जडेषु नाम-रूप-कर्मवैविध्यरूपम् उपादानोपादेयभावरूपं तादात्म्यं साधयति. आनन्दांशतिरोधानेनतु प्रकटितेषु चिदंशभूतेषु

ब्रह्माभेदोपासनाद् ज्ञानतो वा ब्रह्मात्म्यैक्येऽप्यंशतामत्यजन्तः ।
यस्यैश्वर्यादासते यन्नियम्यास्तं श्रीकृष्णं देवदेवं नमामि ॥१॥

जीवात्मसु दैवासुरादिरूपान् आत्मभेदान् देवासुरमनुष्यपशुपक्षिकीटसरीसृपवृक्षवनस्पत्यादिरूपयोनिभेदान् चापि प्रकटयद् अंशांशिभावरूपं तादात्म्यं साधयति. सति चैवं कार्यकारणभावरूपं वा भवतु अंशांशिभावरूपं वा द्वित्वं, भवतितु तद् ऐच्छिकमेव. येन कारणरूपे अंशिरूपे ब्रह्मणि स्वाभाविकम् एकत्वं तद् न हिनस्ति, **''आत्मकृतेः परिणामाद्''** (ब्र.सू.१।४।२६) इति सूत्राद् अविकृतमेव ब्रह्म जडजीवात्मकजगदात्मना परिणमतइति. यथा अविकृतमेव सुवर्णं कटककुण्डलाद्यात्मना परिणमद् न सुवर्णत्वं जहाति तद्वद् इति सर्वं समञ्जसम्.

ततश्च **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म''** (तैत्ति.उप.३।१) इत्यादिवचनसिद्धो ब्रह्मवादः, **''अणोः अणीयान् महतो महीयान्''** (काठोप.१।२।२०-२१) इत्यादिवचनसिद्धो विरुद्धधर्माश्रयतावादः, **''सत्त्वेव सौम्य! इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयं तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय''** (छान्दो.उप.६।२।३), **''तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत''** (तैत्ति.उप.२।७) इति वचनसिद्धो अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावादः, **''सन्मूलम् अन्विच्छ सन्मूलाः... सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः''** (छान्दो.उप.६।८।४) इत्यादिवचनसिद्धो सत्कारणतावादः, **''कथम् असतः सद् जायेत ?''** (छान्दो.उप.६।२।२) इति वचनसिद्धः सत्कार्यवादः, **''तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत असौनामायम् इदंरूपः इति''** (बृह.उप.१।४।७) इत्यादिवचनसिद्धः आविर्भावतिरोभाववादः, **''वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्''** (छान्दो.उप.६।१।४) इति वचनसिद्धो अविकृतपरिणामवादः, **''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म, ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि...रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्''** (बृह.उप.१।६।३) इत्यादिवचनसिद्धः तादात्म्यवादः, **''सवै नैव रेमे स ह एतावान् आस''** (बृह.उप.१।४।३) इति वचनसिद्धो लीलार्थसृष्टिवादः. तानेतान् श्रुतिसिद्धानेव वादान् अवलम्ब्य शुद्धाद्वैतवादः स्फुटति. तमेतं शुद्धाद्वैतवादं मङ्गलाचरणेनैव उपजिघांसन्ते श्रीपुरुषोत्तमचरणाः **''ब्रह्माभेदोपासनाद् ज्ञानतो वा''** इत्यादिभिः. इह 'उपासन'पदेन परोक्षज्ञानविवक्षायां 'ज्ञाने'ति

पदेन ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यवसायि अपरोक्षज्ञानं ग्राह्यम्. अथवा 'ज्ञान'पदेन शास्त्रवाक्यजन्यज्ञानविवक्षायान्तु तद् ज्ञानं परोक्षमेवेति तादृगैक्ये अवगतेऽपि न अंशत्वनिवृत्तिः इति फलितार्थः.

स्यादेतद् *नहि यत्र-यत्र अंशांशिभावः तत्र तादात्म्येन भवितव्यमेवेति नियमः प्रमाणसिद्धः* इति, यदि संसृष्टयोः अंशांशिनोरिव असंसृष्टयोरपि तयोः तादात्म्यं प्रतिपिपादयिषितं भवेत्. असंसृष्टयोः पितृसन्तत्योः तादात्म्यप्रतिपत्तेरभावेऽपि संसृष्टयोस्तु करचरणशरीरयोः तादात्म्यं सर्वथा हि सर्वजनसाक्षिकमेव. देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितस्य ब्रह्मणः संसृष्टांशित्वन्तु **"एकः सन् बहुधा विचारः...सर्वाः प्रजाः यत्र एकं भवन्ति"**, **"पुरुषएव इदं यद् भूतं यच्च भव्यं...एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायान् च पूरुषः पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवि त्रिपाद् ऊर्ध्व उदैत् पुरुषः पादो अस्य इह अभवात् पुनः"**(तैत्ति.आर.३।११।१-२,३।१२।१-२), **"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति तस्य अहं न प्रणश्यामि सच मे न प्रणश्यति"**, **"विष्टभ्य अहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत्"**, **"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु... क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः ज्ञानं यत् तद् ज्ञानं मतं मम"**,**"ममैव अंशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"** (भग.गीता.६।३०,१०।४२,१३।२,१५।७) इति एतादृशस्य ब्रह्मणो जडजीवात्मकेन जगता तादात्म्यं न केनापि अपलपितुं शक्यम्. इदमिह प्रतिपादितं भवति : ब्रह्मणः स्वकार्यांशाभ्यां सह तादात्म्यं स्वीयैक्यबाधकं न भवति, नापि तदैक्यं बहुभवनसङ्कल्पोत्थानां नामरूपकर्मरूपकार्याणां जीवात्मरूपांशानां वा अनेकत्वबाधकं भवति. *ननु 'तयोः'इति द्वित्वविवक्षायां प्रयुक्तं द्विवचनं कथन्नु ऐक्यविवक्षया प्रयुक्तेन ऐक्येन विरुद्धं न भवेद्* इति चेद् 'द्व्यणुकम्' इतिवद् एकत्वविवक्षया प्रयुक्तेन ऐक्येन द्वयोः अण्वोः द्वित्वस्येव अविरुद्धतां विद्धि. अतोहि आम्नातयोरेव इतरेतरतादात्म्याविरोधिकार्यकारणभावांशांशिभावयोः यथाम्नाताङ्गीकृतिरेव वरा. तस्माद् आलौकिके प्रमेये अलौकिकमेव प्रमाणं दर्शयद्भिः श्रीपुरुषोत्तमैः सुष्ठूक्तं **"ब्रह्माभेदोपासनाद् ज्ञानतो वा"** इति.

ननु तथाविधोपासनाद् अपरोक्षज्ञानाद् वा पूर्वं हि असिद्धं सिद्धं वा ब्रह्मात्मैक्यम् उत्पद्यते वा आविर्भूयते आहोस्विद् अनुभूयते? तत्र नाद्याद्यो, ज्ञानोपासनात् प्राक् तादात्म्यास्वीकारेतु विशेषाद्वैतवादप्रवेशप्रसङ्गात्. नाद्यद्वितीयः, आविर्भावात् प्राक् तिरोहितत्वस्वीकारेतु तादात्म्यतिरोधानस्यापि गलेपतितत्वात्. नाद्यतृतीयः, तथाविधज्ञानोपासनाभ्यां जायमाना ब्रह्मात्मैक्यानुभूतिः स्वमुखशृङ्गारोपयोगि-दर्पणगतप्रतिबिम्बदर्शनमिव चेद् अप्रामाणिक्येव स्यात्. अथ प्रामाणिकी चेत् तदा ऐक्यानुरोधादेव अंशेषु अंशित्वभानापत्त्या अंशिनि च अंशानां भानापत्त्या 'अंशतामत्यजन्तः' इति असङ्गतमेव स्याद्, अंशांशिनोः भेदस्य लोपाद् इति चेत् न, सिद्धस्यैव आविर्भावकल्पाङ्गीकारे दोषाभावात्. तथाहि आविर्भावो नाम विद्यमानस्य वस्तुनः स्वार्थक्रियाकारित्वं अनुभूतिगोचरत्वं वा, तिरोभावो नाम विद्यमानत्वेऽपि स्वार्थक्रियाकारित्वाभावो वा अनुभूतियोग्यताभावो वा. तमिमम् अर्थम् आदाय जडजीवयोः सिद्धमेव ब्रह्मात्मैक्यं पूर्वं स्वार्थक्रियां शोकमोहादिरहितां चेतनां अकुर्वद् यद् आसीत् तत् तथाविधोपासनाद् वा अपरोक्षज्ञानाद् वा स्वार्थक्रियां कुर्वद् भवति. तस्माद् ब्रह्माभेदोपासनाद् जायमानो यो अपरोक्षानुभवः तस्माद् वा, श्रुत्यादिशास्त्राणां शब्दाद् जायमानो ब्रह्मात्मैक्यविषयको यः परोक्षानुभवः तादृशज्ञानाद् वापि, शोकमोहादिरहितां जीवचेतनां करोति इति पूर्वसिद्धमेव ब्रह्मात्मैक्यं स्वकार्याकारि वा अनुभवायोग्यं वा यद् आसीत् तद् आविर्भूय स्वार्थक्रियाकारि अनुभवयोग्यं च भवति इति अर्थः फलतीति द्वितीयस्य तृतीये कल्पे न काचित् क्षतिः.

इदम् अत्र अवधेयं : **"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि"**(छान्दो.उप.६।८।७), **"सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत"** (छान्दो.उप.३।१४।१), **"सयो अत एकैकम् उपास्ते न स वेद अकृत्स्नो हि एषो एकैकेन भवति आत्मा इत्येव उपासीत अत्रहि एते सर्वे एकं भवन्ति"** (बृह.उप.१।४।७) इत्येवमादिभिः श्रुतिवाक्यैः अभिहितविहितयोः ब्रह्मात्मैक्य-तदुपासनयोः साधनदशायां यद्यपि अपरोक्षानुभवगोचरत्वतज्जनकत्वे न सम्भवतः तथापि फलदशायान्तु सम्भवतएवेति ब्रह्माभेदोपासनाद् जायमानं ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं अपरोक्षत्वेन विवक्षितम्. शाब्दज्ञानात्तु केवलाद् अनुभूयमानं ब्रह्मात्मैक्यं परोक्षानुभवगोचरम्. अभेदोपासनाद् जायमानन्तु प्राक् परोक्षमपि सत् फलतो अपरोक्षानुभवे पर्यवस्यति इति व्यवस्था.

सोऽयम् अर्थः **"तद्ध एतत् पश्यन् ऋषिः वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुः अभवम् अहं सूर्यः च इति"** (बृह.उप.१।४।१०) इत्येवमादिब्रह्मानुभूतिस्वरूपनिरूपकैः

(पूर्वपक्षोपक्रमः)

नन्‌ ब्रह्मात्मैक्यस्य भेदात्यन्ताभावरूपत्वाद्‌ "अंशत्वात्यागो भगवन्नियम्यत्वं च" यद्‌ उक्तं तत्‌ कथम्‌ ? इति चेद्‌

वाक्यैः सिद्ध्यति. श्रीमदाचार्यचरणेनापि **"आनन्दांशाभिव्यक्तौतु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः प्रतीयेरन्‌ परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत्‌"—"अखण्डाद्वैतभानेतु सर्वं ब्रह्मैव न अन्यथा ज्ञानाद्‌ विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपतः"** (त.दी.नि.१।५४-९१) इति निरूपणाद्‌ ब्रह्मात्मैक्यज्ञानाद्‌ ब्रह्मात्मभेदबुद्धिरेव बाधिता भवति न पुनः जीवात्मपरमात्मनोः अंशांशिभावो नियम्यनियामकभावो वा ब्रह्मात्मैक्याविरोधी. तदिदम्‌ आहुः **"यस्यैश्वर्यादासते यन्नियम्याः"** इत्यारभ्य **"देवदेवं नमामि"** इत्यन्तम्‌.

तस्माद्‌ अद्वैतानुभवे सति द्वैतबुद्धिस्थाने द्वैतमात्रस्य बाधं कल्पयित्वा 'शुद्धाद्वैत'घटकेन 'अद्वैत'पदेनापि निखिलानां द्वैतवादानां व्यावर्त्यतां दिदृक्षन्तो अदृष्टसिद्धान्तग्रन्थाएव. यथाहि ते वदन्ति "'अद्वैत'पदेन सकलविधानां द्वैतवादानां व्यावृत्तिः अवशिष्टस्य च केवलाद्वैतवादस्य 'शुद्ध'पदेन व्यावृत्तिः" इति. तत्र दर्शितं हि जडजीवब्रह्मणां भिन्नत्वेन प्रतीयमानानामेव न केवलं सत्तासामान्यादिधर्मरूपेण ऐक्यम्‌ अपितु उपादेयोपादानांशांशिभावप्रयुक्ततादात्म्यादपि एकत्वम्‌. भेदसहिष्णवभेदो हि तादात्म्यं न तदसहिष्णुः भेदात्यन्ताभावइति.

ननु अभेदस्य भेदसहिष्णुतया न भेदव्यावर्तकत्वम्‌ इति वदन्तः प्रष्टव्याः भवन्ति यद्‌ द्वैतवाद्यभिमतप्रकारकोऽपि भेदः शुद्धाद्वैते सहनीयो न वा? इति. यदि सहनीयः तदा प्रकृत्याद्यनेकवस्तूनां कारणतां मन्वानानां नैकविधवादिनां मतेषु अभिमतानां नैकविधभेदानामपि सोऽयं तादात्म्यरूपो अभेदः सहिष्णुरेव भवताद्‌. भेदः सच क्वचन एकत्वात्यन्ताभावरूपोऽपि भवन्‌ अभेदेन सह्यो भवेद्‌! किञ्च भेदसहिष्णवभेदं प्रतिपादयद्भिः परामर्षणीयं किमु भेदः तात्त्विको वा अतात्त्विको वेति ? तत्र अभेदवादिभिः भेदस्य तात्त्विकत्वं कथं सहनीयम्‌ अथ अतात्त्विकत्वेतु कुतो न व्यावर्तनीयत्वं भेदस्य ? अतात्त्विकत्वन्तु भेदस्य भेदवादिभिः नैव अङ्गीक्रियते. तस्माद्‌ न भेदवाद्यभिमतभेदसहिष्णुः शुद्धाद्वैतवाद्यभिमतो ह्यभेदो भवितुम्‌ अर्हति. ततश्च 'शुद्धाद्वैत'पदघटकाऽ'द्वैत'पदेन द्वैतवादानां व्यावृत्तिः अकामगलेपतिता भाति इतीमं पूर्वपक्षं निराकुर्वन्ति "ननु ब्रह्मात्मैक्यस्य" इत्यादिना. 'कथम्‌' इति आक्षेपे. ब्रह्मात्मैक्येऽपि अभेदस्य भेदसहिष्णुत्वसाधनाय एतादृगाक्षेपकर्तारं आमन्त्रयन्ति

(तत्परिहारोपक्रमः)

उच्यते —

ब्रह्मात्मैक्येऽप्यभेदोऽस्य किं भेदसहनक्षमः ।
किं वा तदक्षमः श्रुत्या सिद्ध्यत्येतद्‌ विचार्यताम्‌ ।।२।।

"ब्रह्मात्मैक्येऽपि" इत्यारभ्य **"विचार्यताम्‌"** इत्यन्तं यावद्‌. नच *भेदसहनक्षमे अभेदे स्वीक्रियमाणे कुतः शुद्धाद्वैतमेव कुतो न द्वैताद्वैतम्‌* इति वाच्यं, व्यावहारिक-प्रातिभासिकभेदसहिष्णुत्वन्तु भेदसहनाक्षमे भेदात्यन्ताभावरूपेऽपि अद्वैते केवलाद्वैतवादिभिः अङ्गीक्रियतएव, नच ते आत्मानं द्वैताद्वैतवादितया ख्यापयन्ति. नच *व्यावहारिकप्रातिभासिकभेदयोः अपारमार्थिकत्वेन भेदात्यन्ताभावोपलक्षिते अद्वैते व्यवहार-प्रतिभाससहिष्णुत्वमेव नतु पारमार्थिकभेदसहिष्णुत्वमिति महान्‌ भेदः !* इति वाच्यं, शुद्धाद्वैतमतेऽपि अद्वैतं स्वाभाविकं द्वैतन्तु ऐच्छिकमेवेति स्वाभाविकद्वैतसहिष्णुत्वेएव व्याघातः इति समानो योगक्षेमः. स्वतःसिद्धस्य स्वाभाविकस्य अभेदस्यापि सर्वभवनसामर्थ्यवता सत्यसङ्कल्पशालिना भगवता प्रकटितत्वेन अचिन्त्यमाहात्म्यवति तस्मिन्‌ न विरोधः कश्चन. वस्तुतस्तु उपनिषत्सु उभयविधवाक्योपलम्भात्‌ सर्वेषामपि वेदान्तसम्प्रदायानां कथञ्चिद्‌ अद्वैतं कथञ्चिच्च द्वैतमिति उभयपि अङ्गीकार्यमेव. अन्यथा एकतरवचनप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गापत्तेः दुष्परिहरतैव स्यात्‌. तस्मात्‌ सर्वेष्वपि वेदान्तसम्प्रदायेषु वस्तुतो अद्वैते द्वैते वा न विवादः किन्तु तयोः विशेषणयोरेव इति न अतिरोहितमिव किञ्चित्‌. तथाहि —

(१)केवलाद्वैतमते :

वाक्ये = एकमेवाद्वितीयं + इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते.
अर्थौ = सजातीयविजातीयस्वगत + मायोपाधिकव्यावहारिकप्रातिभासिकौ
भेदात्यन्ताभावोपलक्षितं भेदौ

(२)औपाधिकद्वैताद्वैतमते :

वाक्ये = एकमेवाद्वितीयं + परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते.
अर्थौ = कारणरूपस्य अद्वैतं + शक्तिकार्यभूतानां द्वैतं

(३)विशिष्टाद्वैतमते :

वाक्ये = एकमेवाद्वितीयं + यः पृथिव्यां तिष्ठन्‌...अन्तरो यमयति
अर्थौ = विशिष्टस्य अद्वैतं + विशेषणविशेष्ययोः विशेषणाञ्च द्वैतं

(४)द्वैतमते :

वाक्ये = एकमेवाद्वितीयं + ज्ञाज्ञौ द्वौ अजौ ईशानीशौ

अर्थौ = स्वगतसजातीयद्वैतराहित्यं + विजातीयपारमार्थिकद्वैतं

(५)विशेषाद्वैतमते :

वाक्ये = एकमेवाद्वितीयं + स यथा नद्यः...समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्यन्ते तासां नामरूपे समुद्र इत्येव ...

अर्थौ = सर्वस्य स्वाभाविकभेदभिन्नस्य ब्रह्मान्तर्लयार्हत्वाद् अद्वैतं + अनादिसान्तपारमार्थिकं द्वैतं

(६)अविभागाद्वैतमते :

वाक्ये = एकमेवाद्वितीयं + यथाग्नेः क्षुद्राःविस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्ति

अर्थौ = आकाशोपमनित्याविकार्यधिष्ठानाविभागरूपाद्वैतं + सृष्टौ अनित्यनामरूपविभाजनरूपं द्वैतं

(७)शुद्धाद्वैतमते :

वाक्ये = एकमेवाद्वितीयं + तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय

अर्थौ = ब्रह्मस्वरूप-स्वाभाविकाद्वैतं + नाम-रूप-कर्म-जीवनानात्वरूपैच्छिकं द्वैतं

एवं हि सर्वेषु वेदान्तसम्प्रदायेषु कथञ्चिद् द्वैतं कथञ्चिच्च अद्वैतं स्वीक्रियतएव.

इह 'कथञ्चित्'पदम् असहमानाः केचन पृच्छन्ति *काथञ्चित्कत्वेन अभेदस्य निर्देशः किं तस्य अतात्त्विकतासूचनार्थः? तथात्वे सति 'शुद्धम्' इति विशेषणं न उपयुज्येत. तात्त्विकत्वेतु कथं काथञ्चित्कता?* इति, तत्र प्रतिविधास्यामो भेदस्य बहुभवनेच्छाप्रयुक्त्वाद् ऐच्छिकत्वम्, ऐच्छिकत्वात् कादाचित्कत्वं, कादाचित्कत्वात् काथञ्चिकत्वं, काथञ्चित्कत्वेऽपि सर्वभवनसमर्थेन सत्यसङ्कल्पेन परब्रह्मणा प्रकटितत्वात् तात्त्विकत्वं च. नहि भेदस्य तात्त्विकत्वं "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" (छान्दो.उप.३।१४।१) इति वचनबोधितेन सर्वस्य वस्तुनो विरुद्धधर्माश्रयरूपब्रह्मात्मकत्वेन विरुद्ध्यते, अन्यथा ह्यब्रह्मात्मकत्वेतु 'सर्व'-'ब्रह्म'पदयोः बाधितार्थसामानाधिकरण्यन्यायेन सामानाधिकरण्यं गौणं स्याद् बाध्येत अथवा. आहोस्वित् 'सर्व''ब्रह्म'पदयोः पर्यायताबोधकत्वे वाक्यस्य पर्यवसानं स्याद्.

अत्र आह : **तदक्षमः** इति. कुतः? अद्वैतश्रुत्या शुद्धस्य अभेदस्यैव बोधनाद्, **"मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति"** (कठोप.४।१०) इति नानात्वदर्शने अनिष्टश्रावणात् च, सिद्धे ब्रह्मणो अद्वितीयत्वे, भेदस्य अशक्यवचनत्वात्.

नच ✱ नानात्वं न भेदः किन्तु सङ्ख्या,[1] **"बहु स्याम्"** (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुत्या तस्याः उपादेयतया भगवदिच्छागोचरत्वेन निन्दानर्हत्वात्. 'स्याम्' इति क्रियया एकत्वविशिष्टस्य 'अहं'पदबोधितस्य कर्तृत्वश्रावणेन तस्याः एकत्वाविरुद्धत्वनिश्चयात्. नच *एवम् एकत्वबहुत्वयोः अविरोधे एकत्वेनैव बहुत्वकार्यसम्भवात् तद्वैयर्थ्यम्*(पा.भे.१) इति शङ्क्यम्, अनयैव श्रुत्या एकत्वेन बहुत्वकार्यासम्भवस्य निश्चयात्. अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्तेः. [2]भेदं विना (च!) नानात्वासम्भवात् तस्यापि इच्छागोचरत्वम् ✱ इति शङ्क्यं,

✱ ननु विरुद्धधर्माश्रयत्वेन ब्रह्मणि सर्वं समञ्जसं कुर्वाणैः शाब्दीं मर्यादां समुत्सृज्य तत्र एकत्वानेकत्वे भेदाभेदौ सांशत्वनिरंशत्वे च प्रतिपादयद्भिः शब्दैकसमधिगम्ये ब्रह्मणि, परस्परबाधितार्थप्रतिपादकतया श्रुतिव्याख्यानात्, शाब्दबोधः कथं जननीयः?

तस्मात् शाब्दबोधासम्भवादेव इतरेतरविरुद्धयोः भेदाभेदयोः बोधकानां श्रुतिवचनानां न ब्रह्मणि विरुद्धधर्माश्रयताबोधकत्वं किन्तु अनधिगतार्थज्ञापकत्वेन प्रत्यक्षसिद्धभेदाध्यारोपपूर्वकं प्रत्यक्षादिप्रमाणानवगतभेदात्यन्ताभावबोधनेन तदपवादएव श्रुतीनां मुख्यं तात्पर्यं स्वीकर्तव्यम्. सति चैवं **"ज्ञाज्ञौ द्वौ अजौ ईशानीशौ"**, **"बहु स्यां प्रजायेय"** (श्वेता.उप.१।९, छान्दो.उप.६।२।३) इत्येतादृशानि वचनान्यपि भेदात्यन्ताभावोपलक्षिते ब्रह्मणि भेदापवादार्थमेव तदध्यारोपेण लक्षणया भेदनिषेधपराण्येव इति अभ्युपगन्तव्यम्. नच लक्षणाश्रयणेतु श्रुतीनां मुख्यार्थत्यागदोषः इति शङ्कनीयं,

१-२ : मुद्रिते पाठे अन्यास्वपि मातृकासु च इह "इति शङ्क्यम्" इति अग्रे च 'नच' इति अन्तर्गडूइव मध्ये निक्षिप्ते उपलभ्येते. तेतु पूर्वोत्तरपक्षव्यत्यासपर्यवसायितया अनुलिपिकर्तृकः प्रमादरूपएव प्रतिभातःइति निष्कासिते(व्या).

''यदा ह्येव एषः एतस्मिन् उदरम् अन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति'' (तैत्ति.उप.२।७) इत्ति श्रुत्या ईषदपि भेददर्शने निन्दाश्रावणेन(पा.भे.२) तस्य इच्छाविरुद्धत्वनिश्चयात्. अन्यथा भेदनिन्दाश्रुतिवैयर्थ्यापत्तेः. तस्माद् भेदस्य सर्वथा अभेदविरुद्धत्वात् सृष्टिदशायामेव अभेदस्य भेदसहिष्णुत्वमिति न मुक्तिदशायां तथात्वम्. अतः तदानीं जीवब्रह्मणोः भेदाभावरूपएव अभेदः. सच उभयोः विरुद्धधर्मसद्भावे सर्वथा न सम्भवतीति भागत्यागलक्षणया जीवब्रह्मणोः धर्मान् निरस्य केवलं स्वरूपेणैव सिद्ध्यति. इति एकः पक्षः.

तात्पर्यवच्छब्दानामेव प्रामाण्याभ्युपगमेन भेदबोधकवचनानां प्रत्यक्षसिद्धानुवादकत्वमेवेति न भेदे श्रुतितात्पर्यकल्पनायाः अवकाशः. तस्माद् ''१**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं...** २**तत् त्वम् असि**'' (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यस्य वाक्यस्य प्रथमांशे ''यश्चौरः स स्थाणुः'' इतिवद् बाधितार्थसामानाधिकरण्यं द्वितीयांशेतु भागत्यागलक्षणया 'तत्'-'त्वं'पदलक्ष्यार्थयोः भेदात्यन्ताभावबोधः सुशकः. तस्मात् शब्दैकगम्ये ब्रह्मणि शाब्दबोधजननाक्षमा विरुद्धधर्माश्रयत्वकल्पना ब्रह्मजगत्तादात्म्यकल्पना वा न साधीयसी ※

इत्येवं केवलाद्वैतवादेन पूर्वपक्षं समुत्थापयन्ति ''अत्र आह तदक्षमः'' इत्यादिना ''सच उभयोः विरुद्धधर्मसद्भावे सर्वथा न सम्भवतीति भागत्यागलक्षणया जीवब्रह्मणोः धर्मान् निरस्य केवलं स्वरूपणैव सिध्यति इति एकः पक्षः'' इत्यन्तेन भागेन. अत्र ''नानात्वं न भेदः'' इत्यारभ्य ''तस्यापि इच्छागोचरत्वम्'' इत्यन्तं यावत् पूर्वपक्षिणा सिद्धान्तिसमुत्थापितशङ्कासमाधानं क्रियते. तस्माद् अविद्यावस्थायां व्यावहारिकप्रातिभासिकभेदसहिष्णुरपि ब्रह्माभेदः साक्षात्कृतः सन् आविद्यकस्य भेदस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगितां स्वस्मिन् गमयति इति का वार्ता ब्रह्मात्म्यैक्येऽपि अंशतायाः अत्यागस्य! इति पूर्वपक्षाभिप्रायः.

अत्र ग्रन्थकृता ''**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्...तत् त्वम् असि**'' इत्येवमादिवाक्येषु उत्तरांशे समाश्रिता ब्रह्मजीवैक्यप्रतिपादनौपयिकी भागत्यागलक्षणाप्रक्रियैव पूर्वपक्षे निरूपिता न वाक्यपूर्वांशगता बाधितार्थसामानाधिकरण्यप्रक्रिया; तथापि, शुद्धचिदेकरसे ब्रह्मणि अध्यारोपितद्रष्टृबाधे सति तत्कल्पितस्य दृश्यस्यापि बाधः पृष्ठलग्नएव समायाति. तस्माद् हेतोः ''**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**''—''**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**''

(विशेषाद्वैतवादेन समाधानप्रयासः)

यद्वा ''**एकमेव अद्वितीयम्**'' (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिश्रुतौ द्वितीयनिषेधेन प्रतिपाद्यमानम् एकत्वम् अभेदएव पर्यवस्यति. सच सृष्टिपूर्वदशायाम् अभेदः, सृष्टिदशायान्तु ''**आत्मा वा अरे...श्रोतव्यः**'' (बृह.उप.२।४।५) इत्यादौ जीवब्रह्मणोः श्रवणादिकर्तृकर्मत्वबोधनाद् भेदएव. अतएव ''**अधिकन्तु भेदनिर्देशाद्**'' (ब्र.सू.२।१।२२) इत्यत्र व्यासचरणैः भेदः प्रतिपादितः. एवं जगतोऽपि भेदएव, ''**बहु स्याम्**'' (तैत्ति.उप.२।६) इत्ति श्रुतौ ''**इदं सर्वम् असृजत**'' (तैत्ति.उप.२।६) इत्यनेन सृज्यस्रष्टृभावश्रावणात्. सच यावत्सृष्टिः सत्यः. यत् तावत् ''**तत् त्वम् असि**'' (छान्दो.उप.६।८।७) ''**अयम् आत्मा ब्रह्म**'' (बृह.उप.२।५।१९) इत्यादौ जगतो ब्रह्मत्वश्रवणं(पा.भे.३), तत्तु ''**तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः**'' (ब्र.सू.२।३।२९) इति सूत्रात्, ''**तज्जलान्**'' (छान्दो.उप. ३।१४।११) इति श्रुत्युक्तयुक्तेः च औपचारिकं, भोगादिव्यवस्थया कार्याणां परस्परवैलक्षण्यप्रमया च भेदस्यैव निश्चायनात्. अन्यथा ''श्रोतव्यः...'' (बृह.उप.२।४।५) इत्यादि-साधनबोधक-श्रुतिविरोधेन मुक्त्युच्छेदप्रसङ्गाद्, एवं जगतः कार्यत्वबाधप्रसङ्गात् च.

(छान्दो.उप.६।८।७ — ३।१४।१) इत्येवमादिवाक्येषु बाधितार्थसामानाधिकरण्यन्यायेन भागत्यागलक्षणासमाश्रयणेन च दृश्यद्रष्टृबाधपूर्वकं दृश्यद्रष्ट्रात्मकद्वैतात्यन्ताभावोपलक्षितं शुद्धचैतन्यं पूर्वपक्षाभिमतिस्वारस्यादेव सिध्यति. एतेन अभेदस्य भेदसहिष्णुतायां दुराग्रहे मिथ्याभेदसहिष्णुत्वमेव न पुनः पारमार्थिकभेदसहिष्णुत्वम् इति निर्गलितः पूर्वपक्षार्थः.

तामेतां मायावादानुसारिणीं मिथ्याभेदसहिष्ण्वभेदप्रक्रियाम् असहमानाः श्रीपतिभगवत्पादाचार्यमतानुगाः अनित्यत्वेऽपि भेदस्य पारमार्थिकत्वं मन्यमानाः द्वितीयं पक्षं समुत्थापयन्ति ''यद्वा'' इत्यारभ्य ''केवलएव अभेदः पर्यवस्यति'' इत्यन्तं यावत्.

तत्र तावत् श्रीपतिभगवत्पादाचार्याः '''**यथा ऊर्णनाभिः सृजते गृह्यते च**'-'**सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत**' (मुण्ड.उप.१।१।७ — छान्दो.उप.३।१४।१) इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मशक्त्युपादानस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वम्

तस्मात् सृष्टिदशायाम् अभेदः औपचारिकः[पा.भे.४] एवम् "अनुच्छित्ति-धर्मा" (बृह.उप.४।५।१४) इत्यनेन श्रावितं धर्माणां नित्यत्वमपि[पा.भे.५] 'देवामर'न्यायेन यावत्सृष्टिः, स्वरतीच्छायां[पा.भे.६] प्रलये जीवानां सर्वेषां लीनत्वेन, श्रोतॄणाम् अभावे श्रोतव्यत्वस्येव, जगल्लये जगत्कर्तृत्वस्यापि तिरोधानात्. एवम् अन्येषामपि बोध्यम्. एवं रमणादिलीलानामपि तथात्वं "स वै नैव रेमे" (बृह.उप.१।४।३) इति श्रुत्या सृष्ट्यारम्भकाले रमणाभावश्रवणात्. एवम् अनित्यत्वे सर्वेषां सिद्धे, प्रलयदशायां केवलं ब्रह्मैव अद्वितीयम्, इति सिद्ध्यति. तथा जीवस्य मुक्तिदशायां ब्रह्मभावाद् ब्रह्मैव केवलं सिद्ध्यति. तथाच भेदप्रतियोगिनां[पा.भे.७] जीवानां जगतश्च लयात् प्रलयदशायां मुक्तिदशायां च भेदे निवृत्ते केवलएव अभेदः पर्यवस्यति.

उपदिष्टम्. एतेन रज्जुसर्पवद् अध्यस्तत्वाद् मिथ्यात्वम् इति अद्वैतदुर्वादं, घटपटादिवत् प्रपञ्चब्रह्मणोः असंसृष्टभेदाङ्गीकारे द्वैतमतं, शरीरशारीरयोरिव संसृष्टभेदाङ्गीकारे च विशिष्टाद्वैतमतं च निरस्तम् इति सूत्रसूचितार्थो वेदितव्यः" (श्रीक.भा.२।१।१४) इति मन्वानाः केवलाद्वैतविशिष्टाद्वैतद्वैतवादैः च अपरितुष्टाः विशेषाद्वैतवादं पुरस्कुर्वन्ति. तञ्च एवं प्रतिपादयन्ति "**श्रुत्येकदेशप्रामाण्यं द्वैताद्वैतमतादिषु द्वैताद्वैतमते शुद्धे 'विशेषाद्वैत'सञ्ज्ञिके वीरशैवैकसिद्धान्ते सर्वश्रुतिसमन्वयः. 'वि'शब्देन उच्यते शम्भुः 'द्वा सुपर्णा' इति मन्त्रतः 'शेष'शब्देन शारीरो 'यथाग्नेः' इति मन्त्रतो 'अद्वैते'न भवेद् योगो 'यथा नद्या'दिभिः तथा**" (श्रीक.भा.१।१।१) इति. ततश्च न द्वैतवादो नाद्वैतवादो किन्तु शुद्धद्वैताद्वैतवादः इति कण्ठतो यद्यपि अभ्युपगतं तथापि "**तस्माद् द्वैतस्य नित्यत्वं मोक्षदशायां भ्रमरकीटन्यायेन स्वाभाविक-जीवत्वनिवृत्तिपूर्वक-शिवत्वप्राप्तिः 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिषु स्पष्टम् उपदिष्टम्. अतो बद्धदशायां जीवब्रह्मणोः भिन्नत्वं मुक्तदशायाम् अभिन्नत्वं च इति अङ्गीकारात् सर्वश्रुतिसमन्वयो भवति**"(श्रीक.भा.२।३।१६) इत्यस्यापि उक्तत्वेन तस्य प्रक्रियायाअपि "**मोक्षमन्दिरम् आसाद्य काकोऽपि कनकायते तथा भक्त्या शिवं प्राप्य जीवो भवति शङ्करः...शुक्तिलब्धजलं लोके मौक्तिकं भवति ध्रुवं भक्तिसंयुक्तजीवो हि शिवो भवति न अन्यथा. रसवेद्याद् यथा ताम्रं कञ्चनं भवति ध्रुवम्' इत्यादिबहुदृष्टान्तशास्त्रानुभवदर्शनात् स्वाभाविकभेदनिवृत्तौ न दोषः**" (श्रीक.भा.२।१।२२) इति उपपादनात् च एतमेव वादम् अधिकृत्य द्वितीयः पूर्वपक्षः.

(सिद्धान्त्यभिमतसमाधानरूपेण जडब्रह्मणोः उपादेयोपादानभावप्रयुक्त-तादात्म्योपपादनम्)[द्र.पृ.५८]

इति प्राप्ते उच्यते : भेदसहनक्षमः इति. कुतः? सत्कार्यवादस्यैव श्रौतत्वेन सृष्टिपूर्वदशायामपि सर्वसत्त्वात्.

ननु आत्मानं शुद्धद्वैताद्वैतवादिनं मन्यमानस्य श्रीपतिभगवत्पादाचार्यस्य भेदसहनक्षमाभेदवादिना कथं पूर्वपक्षिकक्षायां निपातनं युक्तम्? अत्र ब्रूमो यद्यपि श्रीकरभाष्ये विशेषाद्वैतवादः शुद्धद्वैताद्वैतवादएव इति ग्रन्थकारो विकत्थते तथापि बद्धदशायां भिन्नत्वं मुक्तदशायां च अभिन्नत्वम् इति व्यवस्थितविकल्पस्वीकारेणैव द्वैताद्वैतवादाभ्युपगमो, नतु यदा भेदः तदैव अभेदइति, न तयोः परस्परसाहचर्यसहनक्षमो अयं वादः. तस्मात् शुद्धद्वैताद्वैताङ्गीकारेऽपि पूर्वपक्षकक्षान्तर्भावो न दोषावहः. सृष्टिदशायां जीवस्य "**ब्रह्मत्वम् औपचारिकम्**" (श्रीक.भा.२।१।२१) इति कण्ठतः श्रीमता श्रीकराचार्येण उक्तत्वेनापि विशेषाद्वैतमतीयाभेदस्य औपचारिकत्वएव पर्यवसानम् इति आक्षेपसङ्गतिः.

इदन्तु इह विशेषतो अवधेयं : केवलाद्वैतवादे हि अहमर्थविनाशएव मुक्तिः. विशेषाद्वैतवादेतु यद्यपि सधर्मकस्य ब्रह्मणो अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावादो, जगत्सत्यतावादो, जीवात्मनाम् अणुपरिमाणतावादः च अभ्युपगतइति घनिष्ठं शुद्धाद्वैतवादेन समं साम्यं भवति अस्य वादस्य; तथापि मुक्तौ जीवात्मनां स्वाभाविकस्वरूपापगमेन द्रव्यान्तरतेव शिवत्वसम्पत्तिः अहमर्थविनाशतुल्यैव आभाति. अतः उभयोरपि पक्षयोः दोषनिरूपणपूर्वकं शुद्धाद्वैतप्रक्रियां बोधयितुं सत्कार्यवादाश्रयणेन प्रथमतो ब्रह्मजडयोः उपादानोपादेयभावं निरूपयितुं जडसृष्टेः ब्रह्मतादात्म्यं तावत् प्रतिपादयन्ति "उच्यते..." इत्यारभ्य "तथा ब्रह्मजगतोरपि मन्तव्यः" इत्यन्तेन भागेन.

इह हि केचन शुद्धाद्वैतपण्डिताः सन्तोऽपि भेदभीताः खलु भेदसहिष्णवभेदाङ्गीकारे अभेदभङ्गभिया 'शुद्धाद्वैत'पदघटका'ऽद्वैत'पदनैव सर्वविधद्वैतानां व्यावर्त्यतां कल्पयित्वा भेदस्य अवास्तविकत्वम् उद्भावयन्ति. तथात्वेतु प्रारीप्सितस्य ग्रन्थस्यैव शुद्धाद्वैतमते वैयर्थ्यं ध्रुवमिति तद्विचारात् पूर्वमेव इह एतद्विचारः सर्वथा आवश्यकः. तथाहि

'अद्वैत'पदेन सर्वविधानां द्वैतानां द्वैतवादानां वा तावद् व्यावृत्तिरेव न सम्भवदुक्तिका शुद्धाद्वैतमते. यस्माद् भेदसहिष्णवभेदो वा द्वैतसहिष्णवद्वैतम् इति अनर्थान्तरं तावत्. तत्र **''तथा यथा इदानीं कार्याणां तत्तद्धर्माणां च तदाकाराणां च परस्परं भेदः कारणेन सह च अभेदः कार्यत्वादिरूपेण भेदः च लोके कटककुण्डलसुवर्णप्रभृतीनां दृश्यते तथा ब्रह्मजगतोरपि मन्तव्यः'', ''अतो अखण्डब्रह्मवादेऽपि अंशादिनानात्वस्य विद्यमानत्वात् परापरभावादिभेदसहिष्णुरेव अभेदो भगवदभिमतः''** (इहैव पृ.२०,४५) इति ग्रन्थकृदुक्तत्वेन न भेदस्य द्वैतस्य वा अवास्तविकत्वम् इह सम्भवति. तेन द्वैतस्य वास्तवत्वाभ्युपगमेन 'अद्वैत'पदेन द्वैतव्यावृत्तेरेव अशक्यत्वे दूरापास्ता सर्वविधद्वैतवादानां व्यावृत्तिः. सति चैवं विशेष्यभूतेन 'अद्वैत'पदेन मिथो अत्यन्तभिन्नत्वेन प्रतीयमानेषु जडजीवेश्वररूपेषु ब्रह्मजडयोः सच्चिदानन्दरूपब्रह्मणः सत्तारूपधर्मैक्येन, ब्रह्मजीवयोः च चैतन्यरूपधर्मैक्येन ईश्वराकृतीनां ब्रह्मणः च आनन्दरूपधर्मैक्येन कथञ्चिद् वास्तविको अभेदः, कथञ्चिच्च उपादानोपादेयभावरूपो भेदो, अंशांशिभावरूपः च भेदोऽपि वास्तविकएव अङ्गीकार्यः. तस्माद् 'अद्वैत'पदेन अयोगव्यावृत्तिरेवेति न तत्तद्वादाभिप्रेतपदार्थानां व्यावृत्तिः कल्पयितुं शक्या. सिद्धे चैवं ब्रह्माद्वैते श्रीशङ्करभास्कररामानुजाचार्यादिभिः यथायथं केवलाद्वैत-द्वैताद्वैत-विशिष्टाद्वैतादिवादेषु प्रतिपादितेषु हि भेदात्यन्ताभावरूपम् अद्वैतम् औपाधिकद्वैतसहिष्णुस्वाभाविकाद्वैतं विशेषणविशेष्यद्वैतसहिष्णुविशिष्टाद्वैतम् इत्येवमादीनां व्यावर्तनं 'शुद्ध'पदेन वक्तव्यम्. तत्तु पूर्वमेव उदाहृतम् **''अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः....किन्तु परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यः तादृशोऽपि भगवद्रूपः''** इति श्रीमदाचार्यवचनाभिप्राय-स्फोरणेन. तथाच सिद्धम् 'अद्वैत'पदम् अयोगव्यावर्तकं 'शुद्ध'पदञ्च अन्ययोगव्यावर्तकम् इति.

ननु *यदि भेदसहिष्णुत्वम् अभेदस्य तदा द्वैतवादिसम्मतो भेदोऽपि चेत् सहनीयः तदा तस्य प्रकृतिपरमाण्वादिकारणताप्रतिपादकवादिप्रतिपन्नस्य तात्त्विकत्वाता-त्त्विकत्वे विचारणीये. स तात्त्विकः चेत् कथं सह्यः? न चेत् सह्यः कथं न व्यावर्तनीयः? अतात्त्विकत्वन्तु तस्य तन्मते नास्त्येवेति. सति चैवम् 'अद्वैत'पदेन तद्व्यावृत्तौ किं बाधकम्?* इति चेत्, न, द्वैतवादिसम्मतानां प्रकृत्यादिपदार्थानां न तावत् सर्वथा अतात्त्विकत्वमेव अङ्गीकृतं किन्तु अब्रह्मात्मकत्वमेव तेषां निरसनीयम्.

ब्रह्मात्मकत्वेतु ते प्रकृत्यादिपदार्थाः शुद्धाद्वैतिनामपि सह्याः भवन्त्येव. ततश्च तत्कृतं द्वैतमपि तात्त्विकमेव. द्वैतवादिभिस्तु परं तत्तत्पदार्थानां द्वैतं भगवदिच्छाकृतम् इति न स्वीक्रियतइति ते पदार्थाः व्यावर्तनीयाः भवन्ति. आतश्च भेदस्य स्वाभाविकत्वमेव निरस्यते नतु भेदएव. नच *अब्रह्मात्मकत्वेनापि तेषां व्यावृत्तिः विशेष्यवाचकेन 'अद्वैत'पदेनैव सम्भवतीति तेषाम् अशुद्धत्वम् आक्षिप्य विशेषणतो व्यावर्तनप्रयासः कथम् औचितीवहः* इति वाच्यम्, 'अद्वैत'पदेन तावद् ब्रह्मणः एकत्वं बोध्यते, तच्च एकत्वं ''नगरेऽस्मिन् राजा असौ एकएव अस्ति'' इत्यत्रत्य एवकारवद् राजद्वयनिषेधपर्यवसायीति राज्ञः पुत्रकलत्रमित्रामात्यानां द्वैतनिषेधे न तस्य सञ्चारः. तथैव ब्रह्माद्वैतस्यापि न प्रकृतिपरमाणुमायाकालादृष्टादिनिषेधपर्यवसायित्वं शक्यशङ्कम्. तस्माद् अकामेनापि विशेष्यवाचका'ऽद्वैत'पदस्य अयोगव्यावर्तकत्वम् अङ्गीकरणीयमेव. 'शुद्ध'पदञ्च विशेषणीभूतम् अन्ययोगव्यावर्तकत्वेन **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्''** इति श्रुत्यनुरोधाद् अब्रह्मात्मकतया कल्पितानां सकलपदार्थानां व्यावर्तकत्वेन अवतिष्ठते. अन्यथा येनैव हेतुना प्रकृत्यादिपदार्थानाम् 'अद्वैत'पदव्यावर्तनीयत्वं तेनैव हेतुना मायापि व्यावर्तनीया भवती 'शुद्ध'पदम् अपार्थकमेव कुर्यात्. अथ ब्रह्मेतरमायाव्यावर्तकत्वे अङ्गीकृते 'शुद्ध'पदस्य प्रकृत्यादिपदार्थाव्यावर्तकत्वे किन्निब-न्धनो दुराग्रहः इत्यपि विचारणीयम्.

स्यादेतद् *शाब्दीं मर्यादाम् अनुसृत्यापि ''न द्वैतम् इति अद्वैतम्'' इति द्वैतमेव व्यावर्त्यते 'अद्वैत'पदेन, नतु प्रकृत्यादिपदार्थाः. साचेयं व्यावृत्तिः जगतो मायिकत्वेन असत्यत्वात् शाङ्करैरपि क्रियेत 'अद्वैत'पदेनैवेति तेषां व्यावर्तनप्रकारस्य व्यावर्तनायैव अस्मदभीष्टाद्वैतं 'शुद्ध'त्वेन विशेषितम् इति कुतो न अभ्युपगम्यते?* इति यदि शाङ्करैरिव अन्यैरपि द्वैतवादिभिः अद्वैतश्रुतीनां स्वस्वाभिप्रेतार्थो न निरूपितः चेत्. यदितु विविधद्वैतवाद्यभ्युपगताद्वैतप्रकाराणां शुद्धाद्वैताविरुद्धत्वं तदा जितं द्वैतवादिभिः. विरुद्धत्वेतु तेषामपि व्यावर्तनं 'शुद्ध'पदनैव अनुष्ठेयम् इति घट्टकुट्यां प्रभातः. तस्माद् अस्मदभिप्रेताद् ऐच्छिकभेदसहिष्णवभेदाद् विपरीतं यत्किमपि द्वैतं वा अद्वैतं वा सर्वं हि तत् 'शुद्ध'विशेषणव्यावर्त्यम् इति अवश्यम् अभ्युपेयम्. अथ शाब्दीं मर्यादां पुरस्कृत्य 'अद्वैत'पदाद् द्वैतव्यावर्तनएव भरः तदापि प्रातिभासिकं

तथाहि — ''सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद्'' (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुतौ 'इदमा' पुरोवर्त्तिनं प्रपञ्चं निर्दिश्य, पूर्वकाले तस्य सद्रूपताम् उक्त्वा, सतो ब्रह्मरूपत्वं जगत्कारणत्वं[पा.भे.८] च बोधयित्वा, तस्याः अद्वितीयत्वं वक्ति. ततः ''तद्ध एके आहुः'' (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिना असत्कार्यवादम् आशङ्क्य, ''कुतस्तु खलु, सौम्य!, एवं स्याद्'' (छान्दो.उप.६।२।२) इत्यादिना तद् निषेधति. एवं सति आकारकार्यत्वप्रभृतयो धर्माः यदि ब्रह्मणि पूर्वं न स्युः, तदा असत्कार्यनिरासिका सत्कार्यबोधिका च श्रुतिः पीड्येत. यदि कार्याणां भिन्नतया स्थितिः स्यात्, तदा अद्वैतश्रुतिः पीड्येत. अतः[पा.भे.९] उभयसामञ्जस्यार्थं तत्तद्धर्मादिविशिष्टम् एकमेव ब्रह्म कारणम् इति मन्तव्यम्.

तथा सति यथा इदानीं कार्याणां तत्तद्धर्माणां तत्तदाकाराणां च परस्परं भेदः, कारणेन सह च अभेदः, कार्यत्वादिरूपेण भेदश्च, लोके कटक-कुण्डल-सुवर्ण-प्रभृतीनां दृश्यते तथा[पा.भे.१०] ब्रह्मजगतोरपि मन्तव्यः.

व्यावहारिकं वा मायिकं द्वैतमपि एतेनैव 'अद्वैत'पदेन वार्यताम्. नहि मायिकद्वैतं श्रीमदाचार्यचरणाभिप्रेतात् स्वाभाविकाद्वैताद् ऐच्छिकद्वैताद् वा अविरुद्धम्. तथाच एवं वारणेतु 'शुद्ध'पदपर्यन्तं धावनं मरुमरिचिकायां मृगाणां तोयतृषानुधावनमेव अनुसरति. प्रकृत्यादिपदार्थकृतभेदस्य वारणेन तेषां वारणमिव मायिकद्वैतवारणेन मायावारणस्यापि शक्यत्वादेव. तस्मात् शुद्धाद्वैतवादे विशेष्यरूपम् 'अद्वैत'पदं ब्रह्मैकत्ववाचकं, तद्विशेषणन्तु 'शुद्धं' च अब्रह्मात्मकप्रकृतिपरमाणुमायादिसम्भावितानां सकलानां पदार्थानां व्यावर्तनेन शास्त्रेषु यत्र क्वचन प्रकृत्यादिपदार्थानां कारणत्वनिरूपणं तत् तेषां ब्रह्मात्मकानामेव अवान्तरकारणताप्रतिपादकम्. तेन तादात्म्यवादस्यैव सिद्धिः न द्वैतवादस्य, नवाद्वैतवादस्य, नापि तादात्म्यविरोधिद्वैताद्वैतवादस्यापि वा. भेदसहिष्णुतापि अभेदस्य ब्रह्मेच्छाप्रयुक्तवास्तविकभेदसहिष्णुतारूपैव न स्वाभाविकनित्यसिद्धभेदसहिष्णुतारूपा नापि एकत्वात्यन्ताभावरूपभेदसहिष्णुतारूपा कुतस्तरां हि स्वप्रतिपन्नोपाधिरूपाद्वितीये ब्रह्मणि भेदस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगितारूपा वा!

तस्मात् श्रीभास्कराचार्यमताद् अयमेव अस्मन्मतस्य विशेषो यत् ''**कार्यरूपेण**

नानात्वम् अभेदः कारणात्मना हेमात्मना यथा अभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा'' (ब्र.सू.भास्क.भा.१।१।४) इत्युक्तेः कारणात्मना हि अद्वैतं कार्यात्मना च द्वैतम्. एवम् उभयोः मतयोः द्वैताद्वैतवास्तविकत्वेऽपि तन्मते ''**ईश्वरस्य द्वे शक्ती भवतो भोग्यशक्तिः एका भोक्तृशक्तिः च अपरा... भोग्यशक्तिः च सा आकाशादिरूपेण अचेतनपरिणामापत्तेः. भोक्तृशक्तिः सा चेतना जीवरूपेण अवतिष्ठते**''— ''**शक्तिशक्तिमतोः च अनन्यत्वम् अन्यत्वं च उपलक्ष्यते. यथा अग्नेः दहनप्रकाशनादिशक्तयो भेदाः**'' (ब्र.सू.भास्क.भा.२।१।२७ — २।१।१८)इति. एतेन तन्मते द्वैताद्वैतयोः स्वाभाविकत्वमेव. अस्मन्मतेतु न जडजीवात्मानौ ब्रह्मशक्तिपरिणामरूपौ प्रत्युत स्वरूपभूतसदंशचिदंशपरिणामरूपावेवेति उपादेयरूपकार्योपादानरूपकारणयोः अभेदः स्वाभाविको भेदस्तु ऐच्छिकः इति. यद्यपि ''**अभिध्योपदेशाच्च**'' (ब्र.सू.१।४।२३) इति सूत्रे श्रीभास्कराचार्येण बहुभवनसङ्कल्पस्यापि अङ्गीकारस्तु द्योतितएव तथापि तस्य भेदाविर्भावहेतुता स्पष्टं नोक्तेति; ''**भेदाभेदयोः हि सर्वप्रमाणसिद्धत्वाद्**'' (ब्र.सू.भास्क.भा.२।१।१३) इत्युक्तेः च तेषां तथाविधएव भेदाभेदावादो. क्वचित्तु पुनः ''**अभिन्नरूपं स्वाभाविकम् औपाधिकन्तु भिन्नरूपम् उपाधीनां च बलवत्त्वाद्**'' (ब्र.सू.भास्क.भा.२।३।४३) इति भेदस्य औपाधिकत्वम् अभेदस्य स्वाभाविकत्वं चापि अभ्युपगतम्. सोऽयं प्रभेदो — ब्रह्मजडयोः द्वैताद्वैते स्वाभाविके, ब्रह्मजीवयोः च द्वैतम् औपाधिकम् अद्वैतं च स्वाभाविकम्, इति व्यवस्थितविकल्पमूलकः उत अन्यथा वा इति विमृग्यम्. अस्माकन्तु सर्वथा तादात्म्यवादएव अभीष्टः ''**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं... तत् त्वम् असि**'' (छान्दो.उप.६।८।७) इति श्रुतौ इदमा उपादेयभूतस्य परिदृश्यमानस्य प्रपञ्चस्य, त्वमा च अंशभूतस्य तद्द्रष्टुरपि उपादानांशिभूतेन ब्रह्मणा साकं तादात्म्यमेव. इत्थम्भूतो हि उभयोः मतयोः भेदो, अन्येषुतु अष्टसु पूर्वप्रतिपादितेषु शुद्धाद्वैतघटकेषु ब्रह्मवादादि-लीलार्थसृष्टिवादान्तेषु मतैक्यम्.

तथापि एतावान् परं विशेषो यद् वाल्लभवेदान्ते परस्परविरुद्धप्रमाणाभ्यां प्रमितयोः विरुद्धधर्मयोः वस्तुतो विरुद्धत्वमिव ब्रह्मणश्च तादृग् असाधारणं माहात्म्यमपि यद् विरुद्धयोरपि धर्मयोः तस्मिन् अविरुद्धाधारत्वं विद्यते इति इह विरुद्धधर्माश्रयतावादो

ब्रह्ममाहात्म्यबोधकः. भास्करवेदान्तेतु **''यत् प्रमाणैः परिच्छिन्नम् अविरुद्धं हि तत् तथा, वस्तुजातं गवाश्वादि भिन्नाभिन्नं प्रतीयते, प्रतीयते तदुभयं विरोधः को अयम् उच्यते? विरोधे च अविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम्, एकरूपं प्रतीतत्वाद् द्विरूपं तत् तथा इष्यताम्, एकरूपं भवेद् एकम् इति न ईश्वरभाषितम्''** (ब्र.सू.भास्क.भा.१।१।४) इति निरूपणेन प्रमाणसिद्धे वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्मोपलब्धिरेव विरुद्धतायाः उपशामिका इति अभ्युपेयते.

तस्माद् अत्र ग्रन्थकृद्भिः श्रीपुरुषोत्तमैः **''तथा सति यथा इदानीं कार्याणां तत्तद्धर्माणां तत्तदाकाराणां च परस्परं भेदः, कारणेन सह च अभेदः, कार्यत्वादिरूपेण भेदश्च, लोके कटक-कुण्डल-सुवर्ण-प्रभृतीनां दृश्यते तथा ब्रह्मजगतोरपि मन्तव्यः''**इति यद् उक्तं न तेन भास्करवेदान्तेन गतार्थता शुद्धाद्वैतस्य शङ्कनीया नापि शुद्धाद्वैतहानिः वा तादात्म्यवादस्य अग्रे सिसाधयिषितत्वात्.

*नन्नु एकत्र [१]**''अभेदोऽपि न भेदो न भेदाभावः किन्तु भेदविरुद्धसम्पदेव भावरूपः''** (अणुभा.प्रका.३।२।२८) इति भेदाभेदयोः सहानवस्थानरूपो विरोधो अभ्युपगतो अपरत्रतु इहैव ग्रन्थान्ते **''नानात्वाविरुद्धमेव स्वरूपैक्यम्''** (इहैव पृ.४५) इति स्वोक्तविरुद्धमेव भेदाभेदयोः सहावस्थानमपि पुनः भण्यते. तत् किं ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयताङ्गीकारहेतुको विरोधाभासः उत प्रामादिको वदतोव्याघातः ? [२]अन्यच्च सत्यसङ्कल्पस्य ब्रह्मणः सङ्कल्पितत्वेन भेदस्य तात्त्विकत्वाङ्गीकारे **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** इति श्रुत्या बोधितं सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वमपि भज्येत. [३]नच ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयतैव इह शरणीकरणीया, शब्दैकगम्ये ब्रह्मणि शाब्दज्ञानप्रतिबन्धकीभूते ''वह्निः अनुष्णः'' इतिवद् बाधितार्थप्रतिपादके वचने प्रयोज्यमाने ''ब्रह्म असद्'' इत्यपि विधानस्य प्रामाण्याङ्गीकारो गलेपतितो भवेत्. अथवा [४]''बहु **स्याम्''** इति श्रुत्युक्तो भेदोऽपि न वस्तुतो भेदो यथाहि इहैव **''ऐच्छिको भेदः औपचारिकइति न वास्तवम् अभेदं निहन्ति''** इत्येवं प्रतिपादयद्भिः श्रीपुरुषोत्तमैरपि भेदस्य अवास्तविकत्वं द्योतितमेव इति अङ्गीक्रियमाणे न किमपि असमञ्जसम्* इति चेत् न.

[१]नहि एतादृशी काचन राजाज्ञा यत् सर्वत्र विरुद्धयोः सहानवस्थायितयैव भवितव्यम् इति. नञः षडर्थेषु अभावरूपएव अर्थे सहानवस्थायितारूपो विरोधो अन्येषुतु सादृश्यान्यत्वविरोधित्वाल्पत्वाप्रशस्तत्वेषु नञ्तत्प्रतियोगिनोः सहानवस्थायितारूपविरोधासम्भवात् च. तस्माद् ''अभेदो भेदविरुद्धसम्पद् भावरूपः'' इति भाष्यप्रकाशीयवचनं न भेदाभेदयोः सहानवस्थानरूपविरोधाभिप्रायकं किमुत ''असुरो दैत्यः'' इत्यत्रेव सुरदैत्ययोः कैलाशे श्रीमन्महादेवसन्निधौ शक्यसहावस्थानयोरेव मिथो विरोधनिरूपणाभिप्रायकम् इति अङ्गीकार्यम्. यत् पुनः इह **''नानात्वाविरुद्धमेव स्वरूपैक्यम्''** इति उक्तं तदपि न पूर्वोक्तशक्यसहावस्थानरूपविरोधवारणाभिप्रायकं प्रत्युत सहानवस्थानरूपविरोधवारणाभिप्रायकमेवेति न वदतोव्याघातसम्भावनालेशोऽपि. तस्मात् सोऽयमेव महान् प्रमादो य इह प्रामादिकवदतोव्याघातदोषोद्भावनम्!

इदम् अत्र अवधेयं : विरोधः तावद् अनेकविधः सम्भवति. क्वचिद् विरुद्धयोः द्वयोः पदार्थयोः परस्पराभावरूपो विरोधो दृश्यते यथा घटतदभावयोः. क्वचित् परस्पराभावव्याप्यतारूपो विरोधो यथा गोत्वाश्वत्वयोः. यत्र गोत्वं तत्र अश्वत्वाभावो, यत्र अश्वत्वं तत्र गोत्वाभावो, नहि उभयोः कुत्रापि सामानाधिकरण्यं परन्तु तदुभयाभावस्य गजे सामानाधिकरण्यं सम्भवत्येव. क्वचित् पुनः परस्पराभावव्यापकतारूपो; यथा, ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वयोः. त्रिषु भ्रातृषु प्रथमे कनिष्ठत्वाभावः तृतीये च ज्येष्ठत्वाभावो द्वितीयेतु पुनः प्रथमापेक्षया कनिष्ठत्वं तृतीयापेक्षया ज्येष्ठत्वं चापि भवति. यत्र कनिष्ठत्वाभावः तत्र ज्येष्ठत्वं, यत्र ज्येष्ठत्वाभावः तत्र कनिष्ठत्वम्. मध्यमेतु ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वयोः उभयोः सामानाधिकरण्येऽपि ज्येष्ठत्वाभावकनिष्ठत्वाभावयोः कुत्रापि सामानाधिकरण्यं नैव सम्भवतीति परस्पराभावव्यापकतारूपो तयोः विरोधः. घटपटयोस्तु भेदो नैयायिकैः तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वेन परिभाष्यते. सामानाधिकरण्यन्तु एतावता तयोः एकत्र भूतले न निवर्तते. तथैव अमित्रभूतयोः देवदत्तयज्ञदत्तयोरपि अमित्रतारूपो विरोधः क्वचिद् धर्मदत्तस्य गृहे तयोः सहावस्थानं न निरुणद्धि. एवं मिथो विरुद्धयोरपि स्वाभाविकाभेदैच्छिकभेदयोः ब्रह्मणि सहावस्थानं न विरुद्ध्यते.

[२]यच्चापि उक्तं भेदस्य वास्तविकत्वाङ्गीकारे सर्वस्य ब्रह्मत्ववादो भज्येत

तदपि असाम्प्रतम्, आत्यन्तिकभेदाङ्गीकारे हि एतादृगापादनस्य वक्तुं शक्यत्वेऽपि सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणः चिदानन्दांशयोः तिरोधानेन जडजीवरूपयोः कार्यांशयोः प्रादुर्भावाङ्गीकारेण रूपान्तरधर्मान्तराभ्यां भेदेऽपि सत्त्वान्तराभावरूपस्य हि ऐक्यस्य अक्षतेः. तस्माद् न सर्वब्रह्मतावादभङ्गभीतिः ब्रह्मवादिहृदयेषु कदाचित् पादप्रसारं लभते तद् अभ्युपगतं हि मायावादिवैतण्डिकेन श्रीहर्षेण "**एकं ब्रह्मास्त्रम् आदाय न अन्यं गणयतः क्वचिद् आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु**" इति.

[3]यत् पुनः उक्तं विरुद्धधर्माश्रयतानिरूपकश्रुतिवचनानां शाब्दबोधजननाक्षमत्वम्' इति. तत्र शाब्दबोधजननाक्षमता कुतः? इति वक्तव्यं किं प्रत्यक्षविरुद्धत्वेन उत तर्कविरुद्धत्वेन विरुद्धधर्मयोः एकस्मिन् ब्रह्मणि सामानाधिकरण्यायोग्यत्वाद्, आहोस्वित् तथाविधवचनानां परस्परबाधितार्थकशब्दघटितत्वाद् वा, अथवा तात्पर्यानुपपत्त्या वा? तत्र तावत् प्रत्यक्षविरोधस्तु ब्रह्मणि अकिञ्चित्करएव तदगम्यत्वात्. किञ्च प्रत्यक्षतोऽपि मिथो भक्ष्यभक्षकभावापन्नत्वेन विरुद्धयोः अजाव्याघ्रयोः भूमौ सामान्याधिकरण्योपलम्भात् चापि अयोग्यतानिर्धारो दुष्करएव. नापि तर्कविरोधः प्रत्यक्षागोचरे वस्तुनि प्रत्यक्षमूलतर्कविरोधापादनस्यैव तर्कविरुद्धत्वावगमात्. परस्परबाधितार्थकशब्दघटितत्वमपि शाब्दबोधजननाक्षमत्वे अहेतुरेव, "जलहृदो वह्निमान् धूमाद्" इति अनुमितौ हेतोः बाधितत्वेऽपि शाब्दबोधजननाक्षमत्वाङ्गीकारेतु हेतोः बाधितत्वसाधनमपि बाध्येत, "वाडवाग्निः समुद्रीयजलाग्निः" इति वाक्यस्य शाब्दबोधौपयिकप्रमाजनकत्वे व्याघातादर्शनात् च. नापि तात्पर्यानुपपत्तितः शाब्दप्रमाजननाक्षमत्वं, "**तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मो एक सन् एतत्त्रयम्**" (बृह.उप.१।६।३), "**एष म आत्मा अन्तर्हृदये अणीयान् व्रीहेः... ज्यायान् पृथिव्याः**" (छान्दो.उप.३।१४।३), "**सच्च त्यच्च अभवत् निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च निलयनञ्च अनिलयनञ्च विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवद्**" (तैत्ति.उप.२।६), "**बृहत् च तद् दिव्यम् अचिन्त्यरूपं सूक्ष्मात् च तत् सूक्ष्मतरं... दूरात् सुदूरे तद् इह अन्तिके च**" (मुण्ड.उप.३।१।७), "**अजायमानो बहुधा विजायते**" (तैत्ति.आर.३।१३।१), "**अनन्यप्रोक्ते गतिः अत्र नास्ति... नैषा तर्केण मतिः आपनेया**" (कठोप.१।२।८-९) इत्येतादृशानां ब्रह्मणि विरुद्धधर्माश्रयत्वबोधकानां वचनानां स्वार्थे यदि अप्रामाण्यं तर्हि

ब्रह्मण्यपि प्रामाण्ये का विनिगमना? तस्माद् यथा श्रीशङ्कराचार्यैः "**न लोकवद् इह भवितव्यं, नहि अयम् अनुमानगम्यो अर्थः शब्दगम्यत्वात्तु अस्य अर्थस्य, यथाशब्दम् इह भवितव्यम्**" (ब्र.सू.शा.भा.१।४।२७) इति उक्तं तथा यथाशब्दं विरुद्धधर्माश्रयत्वं तस्य अविरुद्धमेव अङ्गीकरणीयम्. किञ्च बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये "**तस्मात् तार्किकचाटभटराजाप्रवेश्यम् अभयं दुर्गम् इदम् अल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैः च... 'तद् एजति तद् न एजति' इत्यादिविरुद्धधर्मसमवायित्वप्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यः च**" (बृह.उप.शा.भा.२।१।२०) इत्यत्र ब्रह्मणः तर्कागम्यविरुद्धधर्माश्रयत्वयोः स्वयमपि अभ्युपगमादपि यथाश्रुतमेव अङ्गीकार्यम्.

[4]यस्तु श्रुत्युक्तस्य ऐच्छिकस्यापि भेदस्य औपचारिकत्वोक्तेः सुवर्णकुण्डलयोरिव विवक्षाकृतो भेदो न वास्तविकः इति प्रवादः, सतु अनवधानविजृम्भितएव. अन्यथा अस्यैव वादस्य उपान्त्ये भागे "**एवं सति 'तद्गुणसारत्वाद्' इति ब्रह्मांशे जीवे ब्रह्मत्वव्यपदेशः औपचारिकः**" इति वचनोपलब्ध्या ब्रह्मत्वव्यपदेशस्यापि औपचारिकत्वम् अङ्गीकृतमेवेति ब्रह्माभेदस्यापि अवास्तविकत्वे ब्रह्मवादएव भज्येत.

[5]*ननु उपचारो नाम "सहचरणादिनिमित्तेन अतद्भावे तद्वद् अभिधानं", "शक्यार्थत्यागेन लक्षणया अन्यार्थबोधनं" वा इति. अतोहि उपचाराङ्गीकारे यद् यत्र नास्ति तत्र तस्य आहार्यात्मकं बोधनम् इति अर्थः फलति. तेन 'भेदः औपचारिकः' इति उक्ते भेदाभावएव सिद्ध्यति. सति चैवं ब्रह्मणि विरुद्धधर्माश्रयतेव पदपदार्थयोरपि किं विरुद्धार्थकताबोधनाय एवम् उच्यते यद् औपचारिकोऽपि सन् भेदो वास्तवो भवति?* इति चेद्, अत्र ब्रूमो नीरूपे गगने "नीलं गगनम्" इति प्रयोगः औपचारिको यथावर्णिताभिप्रायको भवितुम् अर्हति, गगने नीलीभवनसामर्थ्यानुपलम्भात्. ब्रह्मणितु स्वेच्छया उपासकजनेच्छयापि वा "**तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति. तस्माद् ब्राह्मणः पुरुषरूपं परं ब्रह्मैव अहम् इति भावयेत् तद्रूपो भवति**" (मुद्ग.उप.३।३) इति श्रुतेः स्वकीयेन दिव्येन तद्भावापत्तिसामर्थ्येन तद्वद् अभिधानं न नैयत्येन अभावगमकमेव ब्रह्मणि इति वक्तुं साम्प्रतं, स्वेच्छयापि सर्वरूपग्रहणस्य शक्यत्वात् च. तथाहि "**सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते**" (तैत्ति.आर.३।१२।७),

''सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवाः सर्वमयाः'' (नृसिं.उत्त.उप.९), **''अत्र ह्येते सर्वे एकं भवन्ति... यद् अयम् आत्मा अनेन हि एतत् सर्वं वेद...यस्मात् तत् सर्वम् अभवत्''** (बृह.उप.१।४।७-९) इत्याद्यनेकश्रुतिवचनेभ्यो हि एकस्यैव अनेकरूपतया एकत्वानेकत्वयोः यत्र एकत्वविवक्षा तत्र अनेकत्वम् औपचारिकं भवति इति कथ्यते. यत्रच अनेकत्वविवक्षा तत्र एकत्वमपि औपचारिकम् इति वक्तुं शक्यतएव. यथाहि गङ्गाप्रवाहात् पात्रोद्धृतगङ्गाजलांशे 'गङ्गा'पदप्रयोगो नदीप्रवाहदृष्ट्या औपचारिकोऽपि गङ्गात्वविवक्षायां हि न अवास्तवत्वबोधकः. तस्माद् ब्रह्मणि औपचारिकत्वोक्तेरेव औपचारिकत्वम् इति अवगन्तव्यम्. नच एतावता एकत्वस्य अनेकत्वस्य वा अवास्तवत्वं वक्तुम् उचितम्. तल्लीलया प्रकटितस्य कार्यकारणभावस्य अंशांशिभावस्य वा प्रतिपिपादयिषायां सत्यां तयोः एकत्वं यदि औपचारिकं न उच्येत, तदा कार्यकारणभावबोधो वा अंशांशिभावबोधो वा सुकरो न भवेद्. यत्रतु पुनः ब्रह्मस्वरूपैक्यविवक्षा तत्र प्रतिपादितस्य कार्यकारणभावस्य अंशांशिभावस्य तादृग्बोधप्रतिबन्धकताम् अनुसन्धाय कार्यकारणभावांशांशिभावप्रयुक्त-भेदस्यापि औपचारिकत्वं वक्तव्यमेव भवति इति विवेकः. अतएव ब्रह्मणि सर्वेषाम् एकीभावे 'भवन्ति' इति न वक्तव्यं 'भवन्त्याः' च प्रयोगे एकीभावो व्याहन्येत इत्यपि ब्रह्मणि व्याहतमेव भवति, स्वरूपस्य ऐक्याद् लीलायां च अनैक्याद् इति बोद्धव्यम्. तद् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणेन—

''द्वेधा हि वेदान्तानां बोधनप्रकारः : 'प्रजायेय'इति वाक्यानुरोधाद् उच्चनीचत्वं भगवानेव प्राप्तइति विकल्पबुद्धावपि ब्रह्मावगतिः न विरुद्ध्यते. क्वचित् पुनः विकाराः वाचैवारब्धाइति कार्यांशम् अनादृत्य वस्तुविचारेण आविर्भावीतिरोभावी पृथक्कृत्य सन्मात्रं जगद् इति बोधयन्ति. तत्र प्रथमपक्षे सन्देहएव नास्ति. द्वितीयपक्षेऽपि न दूषणम्... यदा अखण्डाद्वैतभानं सुवर्णग्राहकवत् तत्त्वेनैव सर्वं गृह्णाति तदा अवान्तरविषयिणी बुद्धिः 'घटः'-'पटः'इति सा बाध्यते, सर्वत्र ब्रह्मैवेति. ननु स्वरूपतोऽपि घटादिपदार्थोऽपि धर्मी बाध्यते'' (त.दी.नि.प्र.१।९१).

(अंशांशिभावप्रयुक्तजीवब्रह्मणोः तादात्म्यम् इति उपपादनम्) (प्र.पृ.५५)

एवम् अंशांशिनोः जीवब्रह्मणोरपि सुवर्णशकल-सुवर्णयोरिव सृष्टिप्राक्काले मन्तव्यः.

ननु अत्र ब्रह्मजडयोः उपादानोपादेयभावो जीवब्रह्मणोस्तु अंशांशिभावो इति पृथक्कृत्य निरूपणस्य को हेतुः? एकेनैव उपादेयोपादानभावेन अंशांशिभावेन वा कुतो न निर्वाहः? अत्र उच्यते : सुबोधिन्याम् **''अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमो नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा''** (सुबो.२।६।१) इत्यत्र **''अन्तरा विज्ञानमनसी...''—''नात्माश्रुतेः...''** इति अधिकरणयोः **''नामरूपविशेषवतामेव उत्पत्तिः... उत्पत्तिस्तु त्रिविधा निरूपिता...''**(अणुभा.२।३।१५-१७) इति देशकालपरिच्छिन्नानां आधिभौतिकानां जडानां विशेषनामरूपसंयोजन-वियोजनात्मकौ जनननाशौ. कालतोऽपरिच्छिन्नानां देशतः च परिच्छिन्नानाम् आध्यात्मिकानां जीवानां नामरूपकर्मात्मकेषु सूक्ष्मसदंशेषु गमागमात्मकौ बन्धमोक्षरूपौ, बद्धानां च स्थूलसदंशेषु तौ जन्ममरणरूपौ वा. देशकालापरिच्छिन्नानां आधिदैविकरूपाणां प्राकट्याप्राकट्ये इति त्रिधा. तथाच जीवस्य समागमलक्षणैव उत्पत्तिः न विशेषनामरूपसंयोजनात्मिका जननरूपा उत्पत्तिरिति न ब्रह्मजीवयोः उपादानोपादेयभावः किन्तु अंशांशिभावएव. एवं ब्रह्मजडयोः तादात्म्यरूपद्वैताद्वैतम् उपादानोपादेयभावात्मकम् इति निरूपितम्. अधुना ब्रह्मजीवयोरपि अंशांशिभावरूपं द्वैताद्वैतं निरूपयन्ति ''एवम् अंशांशिनोः जीवब्रह्मणोरपि सुवर्णशकल-सुवर्णयोरिव सृष्टिप्राक्काले मन्तव्यः'' इति. एतेन सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणो सदंशभूते ब्रह्मात्मके अधिकरणे व्युच्चरितैः ब्रह्मात्मकैरेव आनन्दांशतिरोधानेन चिदंशभावापन्नैः निरूपिता अंशिभावानुकूला सच्चिदानन्दरूपा अपादानता. व्युच्चरितानान्तु चिदंशानां सदंशाः अधिकरणरूपाः च. तस्माद् विशेषनामरूपसंयोजनात्मिका जीवनिरूपिता उपादानरूपकारणता ब्रह्मणि नाङ्गीक्रियते, जीवस्य अजत्वाविनाशित्वश्रुतेः.

ननु अणुपरिमाणवतां जीवानां अंशतायाअपि व्युच्चरणात् पूर्वं सत्त्वेतु विभुपरिमाणरूपेण ब्रह्मणो अंशित्वसम्भवेऽपि स्वरूपेण अंशित्वानुपपत्तिः. स्वरूपेणतु अंशित्वे व्युच्चरणात् पूर्वं जीवानां अंशतासद्भावोक्तिः विरुद्धा इति चेत्

न, व्युच्चरणात् पूर्वम् अतिरोहितानन्दांशानां व्युच्चरिष्यमाणानाम् अंशानां सच्चिदानन्दरूपतया ब्रह्मैक्यं व्युच्चरणानन्तरन्तु व्युच्चरितेषु येषु अंशेषु आनन्दांशमात्रस्य तिरोभावः तेषां जीवत्वम् अन्येषुतु चिदानन्दांशयोः तिरोभावे जडत्वम् इति एवं व्यवस्था. उपादानोपादेयभावो अंशांशिभावः च इति द्वैविध्याङ्गीकाराद् ब्रह्मणः उपादानत्वम् अंशित्वं च पार्थक्येन प्रतिपादनीयं भवति. तद् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणेन —

"अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमद् 'वहु स्यां प्रजायेय' इति वीक्षा तस्यहि अभूत् सती, तदिच्छामात्रतः तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः सृष्ट्यादौ निर्गता सर्वे निराकाराः तदिच्छया विस्फुलिङ्गाइव अग्नेस्तु सदंशेन जडाअपि आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः" (त.दी.नि.१।२६-२९) इति.

तस्मात् सदंशानां हि जननाशयोगित्वं विशेषनामरूपसंयोजनवियोजनरूपं, तेषु सूक्ष्मस्थूलरूपेषु सदंशेषु चिदंशानां समागमापगमनं क्रमशः सृष्टिप्रलयरूपं औपचारिकजन्ममरणरूपं च. तदपि भगवत्सङ्कल्पितं वास्तवमेव न मायाकल्पितं मनोभ्रान्तिरूपं वेति अवधेयम्. चिदंशे जीवे आनन्दांशतिरोभावस्तु भगवल्लीलाविहारेच्छाहेतुको बन्धजनकः, आनन्दांशाविर्भावस्तु भक्तिज्ञानप्राकट्यहेतुकः च. तद् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणेन **"जीवस्तु आराग्रमात्रो हि गन्धवद् व्यतिरेकवान् व्यापकत्वश्रुतिः तस्य भगवत्त्वेन युज्यते आनन्दांशाभिव्यक्तौतु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तद्"** (त.दी.नि.१।५३-५४) इति. तस्माद् ब्रह्मज्ञानाद् भेदस्य बाधो अङ्गीक्रियेत चेत् तदा श्रुतौ (छान्दो.उप.६।१-१६) एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नोक्तं स्याद् नापि **"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्"** (तत्रैव) इति ब्रह्मजगतोः तादात्म्यं वा निरूपितं स्यात्, तज्ज्ञानबाध्यस्य तत्तादात्म्यासम्भवात्. बाधितार्थसामानाधिकरण्यन्यायस्यतु सति बाध्यत्वे हि पादप्रसारो नान्यथा, साक्षात्कृतब्रह्मणां वामदेवादिसदृशानाम् अर्वाचीनानामपि ब्रह्मज्ञानिनां **"तद्ध एतत् पश्यन् ऋषिः वामदेवः प्रतिपेदे 'अहं मनुः अभवं सूर्यः च' इति. तदिदमपि एतर्हि य एवं वेद 'अहं ब्रह्मास्मि' इति स सर्वं भवति"** (बृह.उप.१।४।१०)

(सत्कार्यवादे शङ्कासमाधाने)

नच *एवं सति सर्वस्य सत्त्वाद् बहुभवन[गा.भे.११][छान्दो.उप.६।२।३]-व्युच्चरण[बृह.उप.२।१।२०]-श्रुत्योः विरोधः* शङ्क्यः, प्राकट्य-बहिर्भावाभ्यामेव तदुपपत्तेः. अन्यथा अव्याकृति[बृह.उप.१।४।७]-श्रुतिविरोधापत्तेः. पुरुषविध-ब्राह्मणे[बृह.उप.१।४।१] हि सृष्टिम् उक्त्वा अग्रे "तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते 'असौ-नामा' अयम् 'इदं-रूप' इति. तदिदमपि एतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते 'असौ-नामा' अयं 'इदं-रूप' इति" (बृह.उप.१।४।७). अत्रहि नामरूपव्याकरणे लौकिकमेव उदाहरणं तत्साधनाय आह. लोकेहि[गा.भे.१२] सिद्धमेव वस्तु नामरूपाभ्यां व्याक्रियतइति सृष्टिपूर्वदशायामपि तस्य सिद्धत्वमेव व्यक्तीभवतीति न असत्कार्यवादः

इति वचने ब्रह्मज्ञानेन सर्वस्य ब्रह्मत्वानुभूतेः निरूपणेन ब्रह्मोपादानकस्य मन्वादिरूपब्रह्मांशस्य अबाधो अत्र श्रूयते. तेन सुष्ठूक्तं श्रीमदाचार्यचरणेन **"आनन्दांशाभिव्यक्तौतु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तद्" — "अखण्डाद्वैतभानेतु सर्वं ब्रह्मैव नान्यथा ज्ञानाद् विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपतः"** (त.दी.नि.१।५४ — ९१)इति. भगवद्गीतायामपि विराट्स्वरूपस्य दिव्यदृष्ट्या साक्षात्कारे सर्वस्य वस्तुजातस्य भगवतः स्वरूपे अवस्थितिरूपो साक्षात्कारो जातो न पुनः सर्वस्य तत्र "नासीद् नास्ति न भविष्यति" इत्येवंप्रकारको बाधानुभवः. तेन ब्रह्मस्वरूपस्य कारणतानिरूपकवचनानामिव मोक्षजनकज्ञानस्वरूपविषयकवचनानामपि तात्पर्यविवेचनायां सत्कार्यवादः तन्मूलकः च भेदसहिष्णवभेदरूपतादात्म्यवादएव सिद्ध्यति. तं सत्कार्यवादं तावत् प्रमाणयन्ति "नच एवं सति" इत्यारभ्य "नियतावधिकत्वहानेः च" इत्यन्तेन भागेन. सत्कार्यवादपरिपन्थिनो हि असत्कार्यवादिनः. तत्र उत्पत्तेः प्राग् असत्त्वं पश्चात्तु सत्त्वम् इति न्यायवैशेषिकमतानुयायिनः, प्रतीत्यसमुत्पादवादिनश्च सौगताअपि आहुः. मायावादिनस्तु विवर्तवादिनोऽपीति उत्पत्तिनाशशालिनां कार्याणां त्रैकालिकसत्त्वं परमार्थदृष्ट्या निषेधन्ति. तत्र ब्रह्मजगतोः तादात्म्यविचारे सौगतास्तु श्रुत्यर्थमीमांसागोष्ठीबाह्याइति उपेक्षिताः. मायावादिनस्तु परमार्थतो घटादिकार्याणां त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगितायां प्रतिपन्नाअपि व्यावहारिकसत्तावतो घटस्य उत्पत्तेः प्रागपि व्यावहारिकीं

प्रामाणिकः. तृतीयस्कन्धेच "विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया, यथा इदानीं तथाच अग्रे पश्चादपि एतद् ईदृशम्" (भाग.पुरा.३।१०।१२) इति कालत्रये एकरूपामेव सर्वस्य स्थितिम् आह. इदमेव अविरोधाध्याये असद्व्यपदेशाधिकरणे (ब्र.सू.२।१।१७-२०) व्यासपादैरपि व्युत्पादितम्. "असद्वा इदम् अग्रे आसीद्" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतौ सृष्टिपूर्वदशायां यो जगतो असत्त्वेन व्यपदेशः सो अव्याकृतत्वेन धर्मान्तरेण विद्यमानत्वेऽपि व्याकृतत्वेन अविद्यमानत्वात्. "तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत" (तैत्ति.उप.२।७) इति वाक्यशेषेण तथा अवगमात्. 'इदम्' इति पदप्रयोगाद् 'आसीद्' इति प्रयोगात् च; अन्यथा, तद्विरोधापत्तेः. नित्यस्य समवायसम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वेन, कार्याभावे तदभावापत्तेः, तन्नित्यताहानेः च, असम्बद्धोत्पत्तौ जगद्दृष्टान्तेन घटादीनामपि कार्याणां नियतावधिकत्वहानेः च.

सत्तान्तु अभ्युपगच्छन्त्येव. तथाहि श्रीशङ्कराचार्याः —

> "'अतीतो घटो' — 'अनागतो घटः' इत्येतयोः च प्रत्यययोः वर्तमानघटप्रत्ययवद् न निर्विषयत्वं युक्तम्, अनागतार्थिप्रवृत्तेः च. नहि असति अर्थितया लोके प्रवृत्तिः दृष्टा, योगिनां च अतीतानागतज्ञानस्य सत्यत्वाद्. असन् चेद् भविष्यद्घटः ऐश्वरं भविष्यद्घटविषयं प्रत्यक्षज्ञानं मिथ्या स्यात्... अपिच चतुर्विधानाम् अभावानां घटस्य इतरेतराभावो घटाद् अन्यो दृष्टो यथा घटाभावः पटादिरेव... नच घटाभावः सन् पटो अभावात्मकः किन्तर्हि भावरूपएव. एवं घटस्य प्राक्प्रध्वंसात्यन्ताभावानामपि घटाद् अन्यत्वं स्याद्, घटेन व्यपदिश्यमानत्वाद् घटस्य इतरेतराभाववत्... एवञ्च सति घटस्य प्रागभावइति न घटस्वरूपमेव प्राग् उत्पत्तेः नास्ति... किञ्च अन्यत् प्राग् उत्पत्तेः शशविषाणवद् अभावभूतस्य घटस्य स्वकारणतासम्बन्धानुपपत्तिः, द्विनिष्ठत्वात् सम्बन्धस्य... तस्मात् सदेव कार्यं प्राग् उत्पत्तेः इति सिद्धम्."
>
> (बृह.उप.शा.भा.१।२।१) इति.

तस्मात् परमार्थतो विवर्तवादित्वेऽपि व्यवहारेतु तेऽपि सत्कार्यवादिनएवेति

नच *यत्र यत्प्रागभावः, तदेव कार्यं ततः कारणाद् उत्पद्यते इति नियमात्(ग.भे.१३) न नियतावधिकत्वभङ्गः* इति वाच्यं, कारणावस्थातिरिक्तस्य प्रागभावस्यैव वक्तुम् अशक्यत्वात्. कपालावस्थां पश्यतएव इह **कपाले घटो भविष्यति** इति प्रत्ययेन तथा अनिश्चयात्, तदवस्थाव्यङ्ग्यस्य तदतिरिक्तस्य प्रागभावस्य अङ्गीकारे गौरवात् च. नच *उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य सत्त्वे कर्तृव्यापारबाधप्रसक्तिः* इति शङ्क्यं, कार्याभिव्यञ्जनार्थतया सार्थक्यात्. संवेष्टितपटप्रसारणादौ तथा निश्चयात्. नच *एवम् अनुद्भूतसत्ताङ्गीकारे अदृश्य-प्रेतादि-जनित-दुःखवत् ततः क्वचिद् अर्थक्रियापत्तिः* इति शङ्क्यम्, अनुद्भूतगन्धरूपादौ व्यभिचारात्. योगेन प्राणादिनियमने जीवनमात्रस्य, नियमनत्यागेतु आकुञ्चनादिरूपकार्यस्य च दर्शनेन, अनुद्भूतदशायाम् अर्थक्रियाकारित्वाभावस्य उद्भूतदशायां च अर्थक्रियाकारित्वस्य दर्शनेन तथा निश्चयाद् इति.

तेषाम् आलोचनम् अनावश्यकं मत्वा नैयायिकानामेव पूर्वपक्षितया तन्मतं निराकर्तुं शङ्कासमाधाने कुर्वन्ति "नच यत्र" इत्यारभ्य "तथा निश्चयाद् इति" इत्यन्तेन भागेन. तदेवं श्रुतिस्मृतिसूत्रपुराणादिवचनैः असत्कार्यवादस्य अप्रामाणिकत्वावगतेः सर्वस्य सर्वदा सत्त्वात् सत्तया च ब्रह्मैक्यावगमात् ब्रह्मतत्कार्ययोः ब्रह्मतदंशयोः च तादात्म्यस्य अवश्यम् अभ्युपेयत्वेन तदनुरोधेन ब्रह्मैक्येऽपि अंशत्वनिर्वाहो न विरुद्धः इति सिद्धम्.

ननु ब्रह्मज्ञानेन अंशत्वबाधात् शाङ्करमतोक्तं मिथ्यात्वमेव कुतो न अङ्गीक्रियते? इति चेत् न, मिथ्यात्वं तावद् भ्रान्तिबाधान्यथानुपपत्त्या सिद्ध्यति. असत् चेद् "इदं रजतं" तदा भ्रमभाततयापि न प्रतीयेत. सत् चेद् "नेदं रजतं शुक्तिरियम्" इति बाधज्ञाने सति नैव बाधितं भवेत्. प्रतीयते च बाध्यते च, तस्मात् सदसद्विलक्षणम् अनिर्वचनीयं रजतं मिथ्या, इत्येवं हि मिथ्यात्वस्य सिद्धिः अभिप्रेता. तत्र इदं विवेचनीयं भवति यद् भ्रमात्मिका प्रतीतिः तावत् शुक्तिरूपपुरोवस्थितविषयदेशकालयोः रजतसत्त्वविषयिणी, सा अकस्मात् कथं बाधप्रतीतौ तद्देशकालयोः रजतसत्त्वनिषेधं परित्यज्य त्रैकालिकं निषेधप्रतियोगिनं रजतं कुर्यात्? यदितु "नेदं रजतम्" इति बाधप्रतीतिः न तद्देशकालयोः रजतसंसर्गाभावं

(सत्कार्यवादावलम्बनेन तादात्म्यवादोपपादनम्)

एवं स्थिते सत्कार्यवादे, सृष्टिदशायामपि जगज्जीवयोः सत्त्वाद्, "**एकमेव अद्वितीयम्**" (छान्दो.उप.६।२।१) इत्याद्युक्तो अभेदः, तद्भिन्नतया

गोचरयति किमुत पुरोवस्थितवस्तुनो रजततादात्म्यमेव निषेधति इति चेत् तदा "**अपिच चतुर्विधानाम् अभावानां घटस्य इतरेतराभावो घटाद् अन्यो दृष्टो यथा घटाभावः पटादिरेव... नच घटाभावः सन् पटो अभावात्मकः किन्तर्हि भावरूपएव**" (बृह.उप.शा.भा.१।२।१)इति वदतां श्रीशङ्कराचार्याणां वचनानुरोधादेव एतादृश्याः प्रतीतेः शुक्तिरजतयोः त्रैकालिकतादात्म्यनिषेधएव पर्यवसानं स्यात् न पुना रजतस्य स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिके निषेधे. यतः 'स्वप्रतिपन्नोपाधौ'इति पदेन पुरोवस्थितो देशः चेद् विवक्षितः तदा न तत्र त्रैकालिकनिषेधो सम्भवदुक्तिको, यदितु शुक्तिशकलं तदा आरोपाधिष्ठानयोः त्रैकालिके भेदएव निषेधः पर्यवस्यति.

अपिच आवरणविक्षेपरूपांशभेदाभ्याम् अविद्यायाः द्वैविध्यम् अङ्गीकृतम्; असत्त्वापादनाभानापादनभेदाभ्यां च आवरणांशस्यापि द्वैविध्यम् इति तेषाम् आविद्यकी प्रक्रिया. तत्र असत्त्वापादनावरणांशस्य यदि त्रैकालिकासत्त्वापादकत्वं नाङ्गीक्रियते चेत् का वा आवश्यकता विक्षेपणांशस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिताहारोप्यप्रदर्शकत्वे? यदितु असत्त्वापादकस्य आवरणस्यापि क्वचित् प्रतीत्यर्हस्य अपरत्र त्रैकालिकप्रतिषेधविषयत्वरूपमेव असत्त्वम् अभीष्टमिति चेद् अपरोक्षप्रमाणवृत्त्या अभानापादकावरणनिवृत्तिः परोक्षप्रमाणवृत्त्यातु असत्त्वापादकावरणनिवृत्तिः इति अभ्युपगच्छतां मते परोक्षप्रमाविषये त्रैकालिकसत्त्वप्रतीतिप्रसङ्गापत्तेः.

किञ्च नहि आरोपकाले रजतस्य त्रैकालिकी सत्ता प्रतीयते येन बाधज्ञाने तन्निषेधावश्यकता स्यात्. अप्रतीतस्य निषेधेतु प्रतिभासबाधप्रतीत्योः वैयधिकरण्यात् "प्रतीयते च बाध्यते च" इति निरूपणं सार्थकमपि न भवेत्. बाधज्ञानस्यतु यथोक्तं तद्देशकालयोः संसर्गाभावगोचरत्वं वा पुरोवस्थितविषयतादात्म्याभावगोचरत्वं वा सिध्यतीति न प्रतीतिबाधानुव्यवसायरूपायै तृतीयस्यै कोट्यै धावनौचित्यं किमपि.

तस्मात् सिद्धं यत् न भेदस्य अवास्तवत्वं नापि अभेदस्य अवास्तवत्वम्

जगज्जीवप्रतीत्यभावे पर्यवस्यन्, भेदसहनक्षममेव अभेदं साधयतीति, सृष्टिदशायां जगद्ब्रह्मणोः कार्यकारणभावाद् जीवब्रह्मणोः अंशांशिभावात् च, औपचारिको भवन्नपि न वास्तवाभेदं निहन्ति. तेन इदानीमपि भेदसहिष्णुरेव अभेदः.

इति किन्तु परस्परसहिष्णुत्वमेव. तत्र अभेदस्य स्वाभाविकत्वं भेदस्यतु ऐच्छिकत्वम् इति असकृद् आवेदितमेव. तद् उच्यते श्रीपुरुषोत्तमैः "भेदसहनक्षममेव अभेदं साधयतीति, सृष्टिदशायां जगद्ब्रह्मणोः कार्यकारणभावाद् जीवब्रह्मणोः अंशांशिभावात् च, औपचारिको भवन्नपि न वास्तवाभेदं निहन्ति. तेन इदानीमपि भेदसहिष्णुरेव अभेदः" इति.

*ननु बहुषु वचनेषु भेदनिन्दोपलब्धेः कथं भेदस्य प्रामाणिकत्वम् अप्रामाणिकत्वेतु कथं सह्यत्वं शुद्धाद्वैतमते? तथाहि श्रुतयः तावत् "**मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति. मनसैव इदम् आप्तव्यं न इह नाना अस्ति किञ्चन**" (कठोप.२।१।१०-११) "**यदा ह्येव एषः एतस्मिन् उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति**" (तैत्ति.उप.२।७) "**अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते 'अन्यो असौ—अन्यो अहम् अस्मि' इति न स वेद. यथा पशुः एवं स देवानाम्**", "**न अन्यो अतो अस्ति द्रष्टा ...एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृतो अतो अन्यद् आर्तम्**" (बृह.उप.१।४।१०, ३।७।२३) "**न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद् युष्माकम् अन्तरं बभूव**" (ऋक्संहि.१०।६।८२।७) इत्येवमाद्याइति भेदस्य प्रामाणिकत्ववादिनो अश्रौताएव* इति चेत् न, श्रीशङ्कराचार्याअपि ब्रह्मज्ञानेन भेदापगमेऽपि समुद्रतरङ्गदृष्टान्तेन अंशांशिभावम् अङ्गीकुर्वन्त्येव. तथाहि "**सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनः त्वं सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः**" (षट्प.स्तो.३) इति किं ते अश्रौताः! *ननु उपासनार्थं कल्पितः आरोपितो वा अयं भेदो न आविद्यकः. श्रुतौतु आविद्यकस्यैव पारमार्थिकत्वेन अभिमतस्य भेदस्य निन्दा इति. किञ्च "**भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतम् अद्वैतादपि सुन्दरम्**" इति न्यायेन भक्त्यर्थं कल्पितस्य द्वैतस्य न निन्द्यत्वं नापि अविद्याकल्पितत्वं वा, अविद्यानिवृत्त्युत्तरं तस्य कल्पितत्वाद्* इति चेद्, अत्र प्रष्टव्यो भवान् यद् भक्तेन भक्त्यर्थं कल्पितस्य द्वैतस्य अनाविद्यकसुन्दरत्वे चेद् भगवता लीलार्थं सङ्कल्पितद्वैतस्य कुतो न ते इति? "**सो अकामयत**

(सृष्टिदशायां भेदसहिष्णुः अभेदः तादात्म्यम्)[द्र.पृ.५५]

एवं सति नानात्व-भेददर्शनयोः भेदनिन्दाश्रवणमपि अभेदविरुद्ध-भेददर्शनएव पर्यवस्यति इति बोध्यं, "यदाह्येव एषः एतस्मिन् उदरम् अन्तरं कुरुत" (तैत्ति उप.२।७) इति श्रुतौ 'कुरुत' इति पदेन क्रियारब्धस्यैव भेदस्य[पा.भे.१४] निन्दनात्, आरम्भस्य च असतः सत्तायामेव पर्यवसानात्. अभेदविरुद्धएव क्रियमाणे भेदएव पर्यवस्यतीति अभेदाविरुद्धभेददर्शनेतु न निन्दालेशोऽपि इति बोध्यम्.

बहु स्यां प्रजायेय... इदं सर्वम् असृजत... विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च... यदिदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते" (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतौ बहुभवनसङ्कल्पोत्तरम् अविद्यापरपर्यायाविज्ञानप्राकट्यनिरूपणेन भगवत्सङ्कल्पस्य अविद्यामूलकत्वासम्भवात् च. किञ्च श्रीशङ्कराचार्यैरपि "विनोदाय चैतन्यम् एकं विभज्य द्विधा देवि! 'जीवः' 'शिवश्' चेति नाम्ना, शिवस्यापि जीवत्वम् आपादयन्ती पुनर्जीवम् एनं शिवं वा करोषि" (देवि.भुज.स्तो.४) इति शिवजीवयोः भेदस्य देव्याः लीलाकृतविनोदत्वेन प्रशंसापि आविद्यकत्वे नोपपद्येत. ननु एषापि उपासनार्थैव मिथ्या स्तुतिः चेत्, तदा आलोचयन्तु अत्र भवन्तः श्रुतिविनिन्दितस्य भेदस्य स्तुत्यत्वेन निरूपयद्भिः श्रीशङ्कराचार्यैः श्रुतिविरोधो अनुष्ठितो न वा? इति. अनुष्ठितः चेत् तत्कृतानां स्तोत्राणां कथं सह्यत्वं सह्यत्वेतु भेदस्यापि कुतो न श्रौतमतसह्यत्वम्? अथापि भेदनिन्दावचनानां का गतिः इति चेद्, आत्यन्तिकस्वाभाविकयोः भेदयोरेव श्रुतौ निन्दा न पुनः श्रुत्येकगम्यब्रह्मणा सङ्कल्पितस्य लीलात्मकस्य ऐच्छिकस्य भेदस्य इति निरूपयन्ति श्रीपुरुषोत्तमाः "एवं सति..." इत्यारभ्य "अभेदाविरुद्धभेददर्शनेतु न निन्दालेशोऽपि इति बोध्यम्" इत्यन्तेन भागेन.

* ननु सोऽयम् ऐच्छिकोऽपि भेदो "यत्र गृह्यते तयोः भिन्नत्वेन प्रतीतिः [१]अस्ति [२]न वा? अस्ति चेत् [१-क]तेनैव भेदेन [१-ख]भेदान्तरेण वा? [१-क]तेनैव चेत् तत्प्रतीतौ तत्प्रतीतिः इति आत्माश्रयापत्तेः. [१-ख]अन्येन चेत् तत्रापि पूर्वन्यायेन भेदान्तरापत्तौ अनवस्थापत्तेः. तदङ्गीकारेऽपि प्रतीतिपराहतिः, नहि अनन्ता भेदमाला कस्यापि अनुभवपद्धतिम् अध्यास्ते. किंभेदविशिष्टे किंभेदवृत्तिः इति अव्यवस्थापत्तेः

च [२]न द्वितीयः, स्वस्मादपि स्वभेदग्रहापत्तेः. भेदाभेदोदासीनतृतीयप्रकाराभावात् च न तृतीयप्रकारेण उपस्थितौ भेदग्रहः... किञ्च घटः पटो न भवति इत्यत्र आदौ घटपटयोः तादात्म्यज्ञानं वाच्यं तयोः तादात्म्यप्रतीतौ तदभावरूपस्य भेदस्य प्रत्येतुम् अशक्यत्वात्... तथाच उपजीव्यविरोधात् पश्चाद् जायमानं भेदज्ञानं न प्रामाण्यपदवीम् अश्नुवीत. तदुक्तं खण्डनकृता 'अभेदं नोल्लिखन्ती धीः न भेदोल्लेखने क्षमा तथाच आद्ये प्रमा सा स्याद् नान्त्ये स्वापेक्ष्यवैशसाद्' इति" (अद्वै.रत्न.५) इति श्रीमधुसूदनसरस्वत्युक्तैः विकल्पैः ऐच्छिकोऽपि भेदः सर्वथा प्रतीत्यनर्हएव* इति चेत्, मैवं, यादृग् अद्वैतम् इह प्रतिपिपादयिषितं तद् एकस्यैव ब्रह्मणः उत ब्रह्मजीवयोः ब्रह्मजडयोरपि? तत्र एकस्यैव ब्रह्मणो अद्वैते तात्पर्ये सति न जीवजडाभ्यां ब्रह्मणो अद्वैतसिद्धिः. अथ द्वाभ्यामपि ताभ्यां ब्रह्मणो अद्वैते तात्पर्ये सति तत्रापि तयोः अभिन्नत्वेन प्रतीतिः [१]अस्ति [२]न वा? अस्ति चेत् [१-क]तेनैव अभेदेन [१-ख]अभेदान्तरेण वा? [१-क]तेनैव चेत् तत्प्रतीतौ तयोः अभेदप्रतीतिः इति आत्माश्रयापत्तेः. [१-ख]अन्येन चेत् तत्रापि पूर्वन्यायेन अभेदान्तरापत्तौ अनवस्थापत्तेः. तदङ्गीकारेऽपि प्रतीतिपराहतिः, नहि अनन्ता अभेदमाला कस्यापि अनुभवपद्धतिम् अध्यास्ते, इत्यादिविकल्पानाम् अभेदेऽपि सम्भवादेव अभेदस्यापि प्रतीत्यनर्हतासाम्यम्.

किञ्च अद्वैतमते द्वैतस्य स्वरूपतो निरुक्त्यनर्हत्वं, प्रतीतितो निरुक्त्यनर्हत्वं; वा, सत्त्वासत्त्वाभ्यां निरुक्त्यनर्हत्वं वा?

आद्ये "जीव ईशो विशुद्धा चिद् विभागस्तु अनयोः द्वयोः अविद्या तत्कृतो बन्धः षड् अस्माकम् अनादयः" इति स्वाभ्युपगतं विभागरूपमपि द्वैतं न सिद्ध्येद् इति आत्मघातः. द्वितीये "प्रतीयते बाध्यते च तस्मात् सदसद्विलक्षणं मिथ्या" इति प्रतीत्यनिरुक्तौ क्वचिदुप्यपाधौ प्रतीत्यनर्हतया असत्त्वापत्तौ द्वैतमिथ्यात्ववादाय वितीर्णः स्यात् तिलाञ्जलिः. तृतीयेतु सत्त्वासत्त्वाभ्याम् अनिर्वचनीयत्वेऽपि व्यवहारे प्रतिभासे च द्वैतप्रतीतिः यदि अद्वैतिभिः न उपपाद्येत तदा निषेध्याभावाद् अद्वैतमपि न सिद्ध्येत्. तथाहि अद्वैतरत्नरक्षणएव तावद् "'एकः'=सजातीयभेदशून्यो — 'अद्वैतो'=विजातीयभेदशून्यो द्रष्टा" (अद्वै.रत्न.३)

इति द्वैतनिषेधं विना अद्वैतसिद्धिरपि मरुमरिचिकायते. तद् उक्तं श्रीवाचस्पतिमिश्रेण **"अनुल्लिखन्ती भेदं धीः न अभेदोल्लेखने क्षमा तथाच आद्ये प्रमा सा स्याद् अन्त्ये स्वापेक्ष्यवैशसाद् इति त्वदुत्थापिता कृत्या त्वामेव अधाक्षीद्"** (खण्डोनोद्धारे) इति. विस्तरस्तु ततएव 'परमार्थभूषणतः' च बोद्धव्यः.

सर्वथापि तादात्म्यवादस्तु अकामेनापि अद्वैतवादिना अङ्गीकरणीयएव अन्यथा **"वस्तुनः तत्समसत्ताको अन्यथाभावः परिणामः तदसमसत्ताको विवर्तः इति वा, कारणसलक्षणो अन्यथाभाव परिणामः तद्विलक्षणो अन्यथाभावो विवर्तः इति वा, कारणाभिन्नं कार्यं परिणामः तदभेदं विनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्तः इति वा विवर्तपरिणामयोः विवेकः"** (सिद्धा.लेश.१।३) इति विवेचयता श्रीकृष्णानन्दतीर्थेन अविद्याविद्यकेश्वरान्यतर-तत्कार्ययोः च समसत्ताकान्यथाभावाभ्युपगमेन उपादानोपादेयभावो, मूलाविद्यातूलाविद्ययोः अंशांशिभावोऽपि अङ्गीकृतएवेति तयोस्तयोः भेदसहनक्षमाभेदरूपः तादात्म्यवादोऽपि गलेपतितएव. अन्यथा अविद्यानिवृत्तावपि आविद्यकद्वैतानिवृत्तिप्रसङ्गापत्तेः. तस्माद् केवलाद्वैतमोहाद् सर्वविधद्वैतस्य निरुक्तेः प्रतीतेः वा खण्डनं आत्मखण्डनएव पर्यवस्यति इति न अतिरोहितम्.

नच *"**यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येव अनुपश्यति सर्वभूतेषु च आत्मानं ततो न विजुगुप्सते. यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैव अभूद् विजानतः तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः**" (ईशा.उप.६-७) इत्यत्र सर्वत्र आत्मैक्यदर्शनस्य मोहशोकनिवारकत्वोक्तेः तत्प्रतीपतया द्वैतदर्शनस्य मोहशोककारकत्वमपि* इति शङ्कनीयं, **"यो वा अयथादेवतम् अग्निं चिनुते, आ देवताभ्यो वृश्च्यते पापीयान् भवति. यो यथादेवतं, न देवताभ्यः आवृश्च्यते वसीयान् भवति"** (तैत्ति.संहि.५।७।१।१) इति कर्मणि देवताविशेषनियमवद् ज्ञानेन मुक्तिलिप्सायां द्वैतज्ञानस्य बाधकत्वेऽपि न द्वैतस्य अवास्तवत्वं विशिष्टकर्माङ्गभूतदेवतातो भिन्नायाः तस्मिन् कर्मणि अदेवत्वेऽपि न स्वरूपतो देवत्वराहित्यमिव. कर्मभक्तिसाधनयोः भगवत्सङ्कल्पितस्य द्वैतस्य उपकारकत्वसम्भवात् च. तथाहि

(परममुक्तिदशायामपि तादात्म्यस्यैव उपपन्नत्वम्)

एवञ्च परममुक्तिदशायामपि **"यथा उदकं शुद्धं शुद्धे निषिक्तं तादृगेव भवति, एवं मुनेः विजानत आत्मा भवति गौतम!"** (कठोप.४।१५) इति काठकश्रुत्या आत्मना ब्रह्मसाम्यश्रावणाद् भिन्नप्रतीत्यभावरूपएव अभेदो नतु भेदात्यन्ताभावरूपः इति सिद्ध्यति.[गा.भे.१५] अतएव मैत्रेयीब्राह्मणे **"यत्रतु अस्य सर्वम् आत्मैव अभूत् तत् केन कं पश्येद्"** (बृह.उप.४।५।१५) इत्यादिना यद् इतरज्ञानश्रावणं[गा.भे.१६] तदपि द्वैतदृष्टिनिवृत्तावेव पर्यवस्यति, नतु द्वैताभावे.

"य एतान् मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् क्षुद्रान् कामान् चलैः प्राणैः जुषन्तः संसरन्ति ते. स्वे-स्वे अधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितो विपर्ययस्तु दोषः स्याद् उभयोः एष निश्चयः... वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि धातुषु उद्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये... क्वचिद् गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपि विधिना गुणः" (भाग.पुरा.११।२१।१-१६) इति द्वैतज्ञानस्य भक्तिकर्मत्वसाधकत्वे न किञ्चिद् बाधकम्.

तस्माद् ज्ञानलभ्यायां मुक्तौ द्वैतज्ञानस्य बाधकत्वं श्रुत्वा भगवत्सङ्कल्पितभेदादपि भीताः केवलाद्वैतवादिनो भक्त्यर्थं स्वकल्पिताद् द्वैताद् न बिभ्यति इति महत् चित्रम्!

तस्माद् ज्ञानलभ्यमुक्तिकालिकभेदाभेदस्वरूपं विवेचयितुं श्रीपुरुषोत्तमाः "एवञ्च परममुक्तिदशायामपि" इत्यारभ्य "भेददर्शनाभावरूपएव अभेदो नतु भेदाभावरूपइति भेदसहिष्णुरेव अभेदः" इत्यन्तं यावत् शङ्कासमाधाने कुर्वन्ति.

*ननु **"ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः","तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय...य एतद् विदुः अमृताः ते भवन्ति अथ इतरे दुःखमेव अपियन्ति"** (श्वेता.उप.१।८, ३।८-१०) **"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत...न अनुध्यायन् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तद्"** (बृह.उप.४।४।२१) **"तम् आत्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः तेषां सुखं शाश्वतं न इतरेषाम्"** (कठोप.५।१२) इति वचनेभ्यः ऋते ज्ञानाद् न मुक्तिरिति

ज्ञाने यदि द्वैतस्य बाधकत्वं तदा मुक्तावपि बाधकत्वं कुतो न?* इति चेत् न, देवज्ञानमात्रेण यत्र सर्वपाशहानिः भवति तत्र देवभजनेन किं-किं न भवेद्! तस्मात् "तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति" इत्युक्तेरपि "तं विदित्वैव" इत्यत्र तात्पर्यकल्पना भ्रान्तिरेव.

तस्माद् ये तं विदुः ते नूनम् अमृताः भवन्ति, येतु पुनः तं विदित्वा भजन्त्यपि ते यदि भजनापराधितया म्रियेरन् तदा श्रीशङ्कराचार्यैः **"लपन् अच्युत अनन्त गोविन्द विष्णो मुरारे हरे नाथ नारायण इति यथा अनुस्मरिष्यामि भक्त्या भवन्तं तथा मे दयाशील देव प्रसीद!", "अन्तःकरणविशुद्धिं भक्तिं च त्वयि सतीं प्रदेहि विभो साम्ब सदाशिव शम्भो शङ्कर शरणं मे तव चरणयुगम्"** (विष्णु.प्रया.स्तो.१४, सुव.मा.स्तु.१४) इति भक्तिवाञ्छा न कृता स्यात्. तस्मात् तस्य विज्ञानानन्तरं यत् प्रज्ञाकरणम् उक्तं, तद् ज्ञेयत्वोपाधिना भजनीयत्वोपाधिना तदाज्ञप्तकर्मानुष्ठानाय वा स्वामित्वोपाधिना वा यथाकथञ्चिदपि प्रज्ञा ह्येव अपेक्ष्यते, न जातु अप्रज्ञा. नैतावता तद्विषयकानां स्तोत्ररूपाणां शब्दानामपि वाग्विग्लापनत्वं वक्तुं युक्तं निजाचार्यविरचितानामेव सप्तत्यधिकस्तोत्राणां वाग्विग्लापनत्वरूपदोषदुष्टत्वापत्तेः. तस्मादेव **"तम् आत्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः तेषां सुखं शाश्वतं न इतरेषाम्"** इति वचनस्यापि **"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति तस्य अहं न प्रणश्यामि सच मे न प्रणश्यति", "समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितम् ईश्वरं न हिनस्ति आत्मना आत्मानं ततो याति परां गतिम्"** (भग.गीता.६।३०,१३।२८) इति भगवद्वचनाभ्यां सह एकवाक्यताविमर्शेतु न केवलम् आत्मस्थत्वेनैव अनुदर्शनं किमुत सर्वत्र अवस्थितत्वेन दर्शनं श्रेयसे इति स्वीकार्यम्. तत्र ज्ञानिनां कृते आत्मनीव, भक्तानां कृते भगवन्मूर्त्यादौ कर्मिणां कृते विहितकर्मण्यपि तदनुदर्शनं कुतो न शाश्वतसुखाय भवेद्? इति विचारणीयम्. तस्मात् श्रीमदाचार्यचरणाः निरूपयन्ति **"अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुः तथा चातुर्मास्यानि सोमः च क्रमात् पञ्चविधो हरिः तत्साधनं स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यत्. प्राकृतं रूपम् एतद्धि नित्यं काम्यन्तु वैकृतं, ज्ञानिनः तदभिव्यक्तौ कर्तुः मोक्षः क्रमाद् भवेद् अन्यथा स्वर्गसौख्यन्तु**

एतदग्रे द्वितीये मैत्रेयीब्राह्मणे(पा.भे.१७) **"यद्वा एतद् न पश्यति पश्यन् वै तद् द्रष्टव्यं न पश्यति, नहि द्रष्टुः दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वाद् नतु तद्द्वितीयम् अस्ति ततो अन्यद् विभक्तं यत् पश्येद्"** (बृह.उप.४।३।२३) इत्यादिभिः अन्यादर्शनि पश्यतएव अदर्शनस्य द्वितीयत्वाभावस्य विभागाभावस्य अन्यत्वाभावस्य च हेतुतया श्रावणेन(पा.भे.१८) तथा निश्चयात्. अग्रेच **"यत्रैव अन्यदिव स्याद्"** (बृह.उप.४।३।३१) इत्यादिना वैलक्षण्यहेतुकम् अन्यदर्शनम् अनूद्य **"यत्रतु अस्य सर्वम् आत्मैव अभूद्"** (बृह.उप.४।५।१५) इत्यादिना स्वस्य द्रष्टृत्वाविभागेन(पा.भे.१९) "विज्ञातारम् अरे केन विजानीयाद्"

द्विरूपं तत् क्रमाद् भवेद्. वाक्यशेषात्तु आत्मसुखं प्रसिद्धेः लोक उच्यते. यन्न दुःखेन सम्भिन्नं नच ग्रस्तम् अनन्तरम् अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं 'स्व'पदास्पदं... अक्षय्यं 'सर्वलोका'ख्यम् आत्मरूपं नच अन्यथा" (त.दी.नि.२।२-११) इत्यत्र **"'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इत्यत्र 'सर्वान् लोकान् पशुबन्धयाजी अभिजयति' इत्यत्रापि यद् 'अक्षय्य'शब्देन 'सर्वलोक'शब्देन उच्यते तद् आत्मसुखमेव वाक्यशेषोक्तम्"** (त.दी.नि.प्र.२।११) **"ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् आत्मनैव सुखप्रमा सङ्घातस्य विलीनत्वाद् भक्तानान्तु विशेषतः सर्वेन्द्रियैः तथाच अन्तःकरणैः आत्मनापि हि ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते"** (त.दी.नि.१।५०-५१) इति. तस्मात् कर्मज्ञानभक्तिरूपाणां त्रयाणामपि मार्गाणां यथायथं मोक्षप्रदत्वं स्वीकार्यमेव अन्यथा तत्तन्मार्गीयफलनिरूपकाणां वचनानां बाधितार्थकत्वे सर्वेष्वपि मार्गेषु अनाश्वासः प्रसज्येत.

तस्माद् श्रीमद्भागवते **"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमपि उत दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः"** (भाग.पुरा.३।२९।१३) इति मुक्तेरपि बहुविधत्वोक्तेः न ब्रह्मात्म्यैक्यभावापत्तिरेव मुक्तिः इति भ्रमितव्यम्. तस्माच्च नैकविधासु मुक्तिषु श्रूयमाणासु न भेदात्यन्ताभावः साधीयानिति. मुण्डकोपनिषद्येव तावत् **"तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यम् उपैति," "कर्माणि विज्ञानमयः च परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति," "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषम् उपैति दिव्यम्"** (मुण्ड.उप.३।२,६,८) इति ब्रह्मणि मुक्तानां जीवानाम्

(बृह.उप.४।५।१५) इत्यनेन ज्ञानकरणाभावं हेतुत्वेन वक्ति इत्यतोऽपि तथा निश्चयात्. अन्यथा पूर्वब्राह्मणएव मैत्रेयीमोहनिवृत्या पुनः द्वितीयब्राह्मणं न वदेद्. अतः तत्र यः सन्दिग्धो अर्थः तन्निश्चायनार्थमेव द्वितीयब्राह्मणमिति भेददर्शनाभावरूपएव अभेदो नतु भेदाभावरूपइति भेदसहिष्णुरेव अभेदः.

(अभेदोपपत्त्यर्थम् असत्कार्यताश्रवणनिषेधः)

यत्तु *''बहु स्याम्'' (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतौ सृष्ट्यारम्भे एकस्य बहुत्वश्रवणात् पूर्वं जगदाद्यभावएव श्रुत्यभिमतो नतु कार्यस्यापि सत्त्वम्. तथा सति **'इदं सर्वम् असृजत'** (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतिविरोधापत्तेः. अतः सृष्टेः पूर्वम् असत्त्वाद् अभेदविरोध्येव स इति अर्धवैनाशिकमतमेव साधीयः*, तद् मन्दं **''तद्ध एके आहुः असदेव इदम् अग्रे आसीद्''**

अवस्थानमपि क्वचित् साम्यभावापत्त्या, क्वचिद् एकीभावापत्त्या, क्वचित्तु समुद्रे नदीव स्वनामरूपप्रहाणात्मना लीनतारूपमपि श्रावितम् इति. सर्वविधश्रुतिवचनानां सामञ्जस्याय तादात्म्यवादएव श्रेयान् न आत्यन्तिको द्वैतवादो नापि द्वैतात्यन्ताभावरूपः आत्यन्तिको अद्वैतवादो वेति सुष्ठूक्तं ग्रन्थकृता ''भेदसहिष्णुरेव अभेदः'' इति.

यत्तु कैश्चिद् इह **''भेदन्तु प्रतिषेधामो नतु अभेदं विदध्महे न भेदं नापि अभेदं हि प्रब्रूमः पारमार्थिकम्. अनिर्वाच्यम् अभेदं च भेदवन् मन्महे वयं सैद्धान्तिकानां यत्नेन निरुक्तिः लोकतुष्टये''** (अद्वै.परि.१३।८-९) इति उच्यते, तत्र द्वैताद्वैतयोः उभयोः वस्तुतो अपारमार्थिकत्वं अभिमतं चेत् तदा यथा लोकतुष्टये अभेदो निरुच्यते तथैव लोकतुष्टये भेदः कुतो न निरुच्यते? तस्माद् ''**अनुभवतः एकत्वाध्यासएव व्यवहारतस्तु तादात्म्याध्यासः इत्यपि व्यपदेष्टुं शक्यते. देहात्मनोः 'अहम्' इति अभेदव्यवहारस्य 'मद्देहः' इति भेदव्यवहारस्य च सद्भावात्. नच एकत्वमेव तादात्म्यम् इति वाच्यं, भेदाभेदसहम् अन्योन्याभावविरोधि तादात्म्यं भेदविरोधि एकत्वम् इति तयोः विविक्तत्वात्**'' (विव.प्रमे.वर्ण.१।२६) इति अङ्गीकृतत्वेऽपि कदाचिद् भेदस्य सत्त्वासत्त्वाभ्याम् अनिर्वाच्यत्वं, कदाचित्तु स्वरूपतो अनिर्वाच्यत्वम् इति. कदाचित् प्रत्यक्षस्य भेदाघटितविकल्पातीतसन्मात्रग्राहित्वं भेदस्यतु वितथमनोविलासरूपत्वम्, कदाचित्

(छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिना अनूद्य **''कुतः खलु, सौम्य!, एवं स्याद्''** (छान्दो.उप.६।२।२) इति श्रुत्यैव तन्निषेधात्. नच *तत्र कार्यसत्तायाएव निषेधो नतु कारणसत्तायाः[पा.भे.२०] **''कथम् असतः सद् जायेत''** (छान्दो.उप.६।२।२) इति श्रुत्या तथा निश्चयाद्* इति वाच्यं, पूर्वं कार्यस्य असत्त्वे **''तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीद्''** (बृह.उप.१।४।७) इति श्रुतिविरोधापत्तेः[पा.भे.२१]. अत्र 'तर्हि' इत्यनेन सृष्टिपूर्वकालं लक्ष्यीकृत्य 'इदमा' निर्दिष्टस्य जगतः तदानीम् अव्याकृतत्वं वदति. यदि असत्त्वम्

प्रत्यक्षगृहीते भेदे श्रुतीनाम् अनुवादकत्वरूपम् अप्रामाण्यम्, अभेदेतु अगृहीतार्थग्राहक-त्वरूपं प्रामाण्यम्, एवं परस्परं विरुद्धं बहुभाषणेन यद् भगवत्पादश्रीशङ्कराचार्याः सौगतमताय प्राहुः ''**...इतरेतरविरुद्धम् उपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतम् आत्मनो असम्बद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्येयुः इमाः प्रजाः इति**'' (ब्र.सू.भा.२।२।३२) इति तत् स्मार्यतइति सुगतवादनीतिमेव अनुसरन्ति केवलाद्वैतवादिनोऽपि! यदि सन्मात्रं समस्तद्वैतकल्पनारहितं प्रत्यक्षेणैव गृह्यते चेत् तत्रापि श्रुतेः अनुवादकत्वरूपम् अप्रामाण्यं गले पतितमेव. यदि भेदस्य स्वरूपतो लक्षणतः प्रतीतितः प्रत्यक्षप्रमाणतो वापि असिद्धत्वं तदा भेदबोधकश्रुतीनाम् अनुवादकत्वाभावेन स्वार्थे प्रामाण्यम्. किञ्च भेदस्य सर्वथैव असिद्धौ ब्रह्मणो मायातोऽपि भेदो न सिध्येत मिथ्यात्वस्य च अत्यन्तासतोऽपि वा. अथ ब्रह्ममाययोः मिथ्यात्वासत्त्वाभ्यां भेदसाधनाय यत्किमपि लक्षणप्रमाणगर्भितं वचनम् उपादीयेत चेत् तदा भेदभ्रूणस्य निरुक्त्यनर्हतारूपिण्याः वन्ध्यायाः गर्भे अवस्थितिद्योतनाद् भेदएव वन्ध्यापुत्रीयेत्. *ननु भेदः चेत् पारमार्थिकः तदा उपादानोपादेययोरपि तेन पारमार्थिकेन भवितव्यम्. तयोः पारमार्थिको भेदस्तु उपादानरूपे ब्रह्मणि उपादेयरूपस्य जगतः प्रागभावं विना नैव उपपद्येत!* इति चेद्, मैवं, न्यायमते नित्यद्रव्यसमवेतानां गुणकर्मसामान्यानां प्रागभावाभावेऽपि स्वसमवायिना भेदाङ्गीकारादेव भेदस्य प्रागभावातन्त्रत्वात्. नच *नित्ये प्रागभावाप्रतियोगिनि ब्रह्मणि उपादेयतया उत्पद्यमानस्य जगतः प्रागभावप्रतियोगितयापि आत्यन्तिको भेदो दुरपह्नवः* इति वाच्यं, संसर्गाभावेषु अन्योन्याभावस्य अन्योन्याभावे च संसर्गाभावानाम् अभावः स्वीक्रियते न वा? आद्ये घटात्यन्ताभावे घटान्योन्याभावस्य यो अभावो घटान्योन्याभावे च घटात्यन्ताभावस्य यो अभावः तस्य घटाभावाभावरूपत्वेऽपि स घटरूपो

अभिप्रेयाद् 'इदमा' न निर्दिशेत्. अव्याकृतत्वमपि न वदेत् स्वरूपस्यैव अभावात्. अतो ''बहु स्याम्'' (छान्दो.उप.६।२।३) इत्यत्रापि[पा.भे.२२] बहुत्वादेः अव्याकृतस्य 'स्याम्' इत्यनेन व्याकृतत्वमेव उच्यते नतु असतः सत्ता. सृजनमपि नामरूपव्याकरणमेव. अन्यथा प्रागिव सृष्टिदशायामपि व्यवहाराभावप्रसङ्गात्.

(तस्मात् तादात्म्यस्य सदातनत्वम्)

एवं सिद्धे सर्वदा सत्त्वे अद्वैतश्रुत्यविरोधाय तदानीमपि परापरभावघटितएव ब्रह्मत्वेन रूपेणैव अविरोधः इदानीमिव इति मन्तव्यः. एतावान् परं विशेषो यद् इदानीम् अविद्यावलिप्ताल्पबुद्धि[पा.भे.२३]त्वात् न प्रतीयते, तदानीन्तु करणग्रामलयाद् इति. एवं परममुक्तावपि परापरभावघटितो भेदसहनक्षमएव अभेदः. ब्रह्मस्वरूपस्यैव तथात्वात्.

न चेद् तदा सिद्धान्तहानिः, घटरूपत्वेतु घटात्यन्ताभावघटान्योन्याभावयोरपि घटरूपता अवश्याभ्युपेतव्या स्यात्, स्वरूपसम्बन्धेन तत्र घटाभावाभावरूपस्य घटस्य सत्त्वात्. यत्र अधिकरणे घटान्योन्याभावः तत्र घटाभावाभावरूपस्य घटस्य स्वरूपेण विद्यमानतया न आत्यन्तिकभेदसिद्धिः. तेन न क्वचिदपि सतः पदार्थस्य असत्ता सम्भवति. यथाच उच्यते भगवता **''न असतो विद्यते भावो न अभावो विद्यते सतः''** (भग.गीता.२।१६) इति.

अथ उत्पत्तिः नाम सत्तालाभः इति अर्थे स्वीक्रियमाणेऽपि **''अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत! अव्यक्तनिधनान्येव''—''मया ततम् इदं सर्वं जगद् अव्यक्तमूर्तिना''** (भग.गीता.९।४) इति वचनाभ्यां सृष्टेः प्राक् अव्यक्तमूर्तिरूपोपादानतया जगतो अव्यक्तसत्त्वमेव इति अङ्गीकार्यम्. मध्येच तत्र उपादेयतया व्यक्तसत्तालाभो अन्तेच पुनः अव्यक्तमूर्तौ भगवति लीनतया अव्यक्तसत्त्वम् इति अङ्गीकारे न कस्यापि शास्त्रवचनस्य असङ्गतिः. तेन सुष्ठुक्तं ग्रन्थकृता ''बहुत्वादेः अव्याकृतस्य 'स्याम्' इत्यनेन व्याकृतत्वमेव उच्यते, नतु असतः सत्ता. सृजनमपि नामरूपव्याकरणमेव. अन्यथा प्रागिव सृष्टिदशायामपि व्यवहाराभावप्रसङ्गाद्'' इति. ''एतावान् परम्''इत्यत्र ''न प्रतीयते'' इति

अभेदो नाम भेदसहिष्णवभेदः इति शेषः. ''तदानीन्तु करणग्रामलयाद्'' इत्यस्य सायुज्यमुक्तौ सृष्टिप्राक्काले प्रलये वा जीवानां करणग्रामाभावाद् भेदानुभूतेः अशक्यत्वेन भेदसहिष्णवभेदस्यापि अप्रतीतिः इति अर्थः. *ननु शास्त्रार्थनिबन्धे **''सच्चिदानन्दरूपन्तु ब्रह्म व्यापकम् अव्ययं...सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जितम्''** (त.दी.नि.१।६५-६६) इत्यत्र देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदराहित्यरूपं द्वैतवर्जितत्वं स्वीकृतं तत् सृष्टिप्राक्काले महाप्रलये परममुक्तावपि यदि अंशांशिभावस्वीकृतौ स्वगतद्वैतरूपमेव सद् ब्रह्मणः त्रिविधपरिच्छेदराहित्यम् अपाकुर्याद्* इति चेत् न, शरीरावयवेषु करचरणादिरूपम् अंशत्वमिव शरीरत्वमपि यथा अनुस्यूतं भाति तथा सच्चिदानन्दरूपब्रह्मणः सदंशचिदंशानन्दांशरूपेषु जडजीन्तर्यामिषु त्रिष्वपि ब्रह्मत्वस्य सर्वदा अनुस्यूतत्वेन ब्रह्मणो अपरिच्छिन्नत्वे न काचित् क्षतिः इति **''त्रिष्वपि भगवान् अनुस्यूतः त्रिरूपः च भवतीति तैः निरूपितं द्वैतं भेदः तद्वर्जितम्''** (त.दी.नि.प्र.६६) इति तत्रैव निरूपणात्.

नच *जडजीवान्तर्यामिकृतभेदवर्जित्वे अंशांशिभावोऽपि नोपपद्येत* इति वाच्यं, सच्चिदानन्दाद् ब्रह्मणो व्युच्चरितेषु सच्चिदानन्दात्मकेष्वेव अंशेषु चिदंशानन्दांशतिरोधानेन तदन्तर्नियामकत्वधर्माविर्भावेन च जडत्वजीवत्वान्तर्यामित्वरूपाणाम् त्रयाणाम् आविर्भावाभ्युपगमाद् न तैः निरूपिता आत्यन्तिकस्वगतभेदापत्तिः शक्यशङ्का. एतावान् परं विशेषो यत् सर्वभवनसमर्थेन ब्रह्मणा ब्रह्मणि प्रकटितेषु ब्रह्मात्मकेषु रूपान्तरेषु यद्यपि न सर्वज्ञस्य ब्रह्मणः तिरोहितातिरोहितयोः मध्ये कस्यचिदपि वस्तुनो धर्मिरूपस्य धर्मरूपस्य वा बोधो दुर्लभः तथापि अब्रह्मज्ञानां जीवात्मनां कृते तद्बोधो नैव सुलभः. तद् उक्तं ग्रन्थकृता ''यद् इदानीम् अविद्यावलिप्ताल्पबुद्धित्वात् न प्रतीयते, तदानीन्तु करणग्रामलयाद्'' इति. तदेतद् उक्तं श्रीमद्भागवतेऽपि **''आभासः च निरोधः च यतः च अध्यवसीयते स आश्रय परं ब्रह्म परमात्मा इति शब्द्यते, यो अध्यात्मिको अयं पुरुषः सोऽसावेव आधिदैविकः यः तत्र उभयविच्छेदः पुरुषोहि आधिभौतिकः, एकम् एकतराभावे यदा न उपलभामहे त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः''** (भाग.पुरा.२।१०।७-९)इत्यत्र सृष्टेः प्राक् महाप्रलये दृश्यानां जडानां सच्चिदानन्दरूपे ब्रह्मणि अव्यक्तमूर्तौ हि अव्यक्ततयैव समवस्थानेन तिरोहितता. तयाच द्रष्टुरपि

अतएव दशमस्कन्धे यत्र भगवता श्रीवसुदेवं प्रति अखण्डब्रह्मज्ञानोपदेशः कृतः, तत्र वसुदेवोक्तम् अङ्गीकृत्य, **"अहं यूयम् असौ आर्या"** (भाग.पुरा.१०।८२।२३) इत्यनेन सर्वेषां तथात्वम् उक्त्वा, ब्रह्माण्डानन्त्यम् आरोपितज्ञानदृष्टिं च निवारयितुम् **"आत्माहि एकः स्वयञ्ज्योतिः"** (भाग.पुरा.१०।८२।२४) इत्यनेन सर्वत्र आत्मैक्यं नानात्वदृष्टेः च औपाधिकत्वेन भ्रान्तत्वं निरूप्य, **"खं वायुः ज्योतिः आपो भूः"** (भाग.पुरा.१०।८२।२५) इति द्वितीये खादिपञ्चभूतदृष्टान्तेन नानात्वस्य वास्तवत्वम् उपाधिव्यंग्यत्वं च गदति. अन्यथा पूर्वश्लोकएव नानात्वदृष्टेः गुणोपाधिकत्वेन भ्रान्तत्वे बोधिते ततएव नानात्वस्य निवृत्तत्वात् खादिपञ्चमहाभूतदृष्टान्तेन पुनः नानात्वप्राप्तिं न स्थापयेद्. अतो अखण्डब्रह्मवादेऽपि अंशादिनानात्वस्य विद्यमानत्वात् परापरभावादि-भेदसहिष्णुरेव अभेदो भगवदभिमतः इति बोध्यम्.

तिरोभूतता भेदग्राहककरणग्रामाभावात् च. सायुज्यमुक्तौतु भेदग्राहककरणग्रामलयादेव द्रष्टृतिरोधानं तेनच दृश्यतिरोधानम्. तथापि तादृगवस्थायामपि त्रितयं, दृश्यद्रष्टृभावापन्नान् अंशान् आत्मानं च अंशिनम् इति त्रितयमपि, यो वेद, तस्य स्वाश्रयाश्रयस्य परमात्मनः वेदनस्य सर्वथा अभ्रान्तत्वाय तदानीमपि तेषाम् अंशानां केनचिद् रूपेण अवस्थानम् आवश्यकमेव इति अर्थः.

*नन् **"सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषयएव"** (विव.प्रमे.वर्ण.१।३२-ब) इति सिद्धान्तानुरोधेन तदानीं द्वैताभासनिरोधवशाद् अज्ञाततया तत् सर्वं साक्षिचैतन्यविषयम् इति अङ्गीकारे का बाधा? परमार्थव्यवहारान्यतरप्रमाणवृत्तिविषयस्यैव यथायथं पारमार्थिकव्यावहारिकान्यतरसत्त्वम्. नहि अविद्यावृत्तिविषयस्य तथातथाविधसत्त्वनियमः, एकतराभावप्रयुक्तान्यतरानुपलब्धेः कण्ठतः उक्तत्वाद्* इति चेद् न, यदि हि अनुपलब्धिविषयः एकतराभावो, न तदा सर्वसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि अभावस्य अविद्यावृत्तिभास्यत्वम्, अविद्यावृत्तेः प्रमाणवृत्तितो भिन्नत्वाभ्युपगमाद् अनुपलब्धेः च प्रमाणवृत्तिषु अन्तर्गणनात् च. प्रमातृणाम् तदा अभावात् च नापि एकतराभावहेतुकी अन्यतरानुपलब्धिरपि वक्तुम्

किञ्च **"इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा"** (बृह.उप.२।४।६) इत्यन्तेन सर्वस्य ब्रह्मत्वे बोधिते कथं सर्वस्य ब्रह्मत्वम् इति आकाङ्क्षायां दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैः अवान्तरशब्दाग्रहणं दुन्दुभ्यादिशब्दग्रहणेनैव अवान्तरसर्वशब्दग्रहणवद् आत्मग्रहणेनैव तदभिन्नावान्तरसर्वग्रहणम् अग्निधूमदृष्टान्तेन ब्रह्मणः सकाशाद् वेदादिसर्वोत्पत्तिं च उक्त्वा **"स यथा सर्वासाम् अपां समुद्र एकायनम्"** (बृह.उप.२।४।११) इत्यादिभिः बहुभिः दृष्टान्तैः सर्वाधारत्वं निरूपयति. यदि सृष्ट्यभावदशायां सर्वस्य एकरूपत्वमेव स्यात् तदा दुन्दुभिदृष्टान्तादीन् समुद्रादीन् च[पा.भे.२४] न वदेद्, एकेनैव दुन्दुभिशब्ददृष्टान्तेन सर्वस्य ब्रह्मरूपतायाः, एकेनैव समुद्रदृष्टान्तेन ब्रह्मणः सर्वाधारतायाश्च सिद्धेः. अतः सृष्ट्यभावदशायामपि नानात्वाविरुद्धमेव स्वरूपैक्यं बोधयति. पुनः सैन्धवघनदृष्टान्तेन सृष्टिदशायामपि नानात्वाविरुद्धमेव स्वरूपैक्यम्. **"एवंवा अरे इदं महद् भूतम्"** (बृह.उप.२।४।१२) इत्यादिना प्रेत्यसञ्ज्ञाभावकथनेन पूर्वसञ्ज्ञातस्यैव बोधनात्.

उचिता. पूर्वोदाहृतभगवत्पादीयबृहदारण्यकभाष्यवचनानुरोधेन सर्वज्ञेश्वरज्ञानस्य अभ्रान्तत्वाय सर्वेषामपि वस्तूनां त्रैकालिकसत्त्वाभ्युपगमस्य च अपरिहार्यता. 'अभावानुपलब्ध्योः' अव्यक्तसत्त्वतया व्यक्ततानुपलब्धितया च उट्टङ्कनीयत्वेन तथाविधतात्पर्यविषयतैव. तस्मात् त्रितयवेत्तृतया स्वाश्रयाश्रयरूपस्य परमात्मनः त्रैकालिकज्ञानविषयत्वेन सर्वेषामपि वस्तूनां त्रैकालिकं सत्त्वम् अवश्यम् अभ्युपेयम्. तद् उच्यते अस्मदाचार्यैरपि **"...कार्यस्य नाशे कार्यता न उपपद्यते कार्यस्य नष्टत्वात्. अतः कश्चन पदार्थो वक्तव्यो यः कार्येषु स्थिरो भवति यस्य नष्टत्वं धर्मः... सो अनश्वरः सर्वदा स्थिरः स एकः च सर्वकार्यानुस्यूतो वक्तव्यः. तमेव आश्रित्य कश्चिद् आह 'नहि असन् घटादिः न घटादिः' इति... घटाभावसमये यस्तु घटव्यवहारं साधयति अन्यथा सद्व्यवहारो बाधितार्थविषयकः स्यात्... एवं धर्मधर्मिव्यवहारः सद्विषयकएवेति सो अवश्यमेव अङ्गीकर्तव्यः"** (सुबो.१०।८२।१२) इति. तथा दशमेऽपि **"यथा सर्वत्र भौतिकेषु पृथिव्यादिः एकएव नतु कार्यवैलक्षण्येन कारणभूतायाः पृथिव्याः नानात्वं वैलक्षण्यं वा कल्प्यते पृथिवीगुणत्वेनैव तत्सिद्धेः. एवं सच्चिदानन्दधर्मतारतम्येन ऐश्वर्यादितार-**

म्येन वा नानात्वम् आत्मनः उपपद्यतइति न स्वरूपे भेदः तदनुरोधेन कल्पनीयः...अतः स्वेच्छया सएव सर्वरूपेण तिष्ठतीति...एषएव अखण्डाद्वैतवादः'' (सुबो.१०।८२।२५) इति. इह ''न स्वरूपे भेदः'' इति स्वरूपे तादात्म्याघटको तदघटितो वा आत्यन्तिको भेदो न इति अभिप्रायः. तेन धर्मानुस्यूतधर्मितया धर्मधर्मिभावात्मको भेदो, गुणानुस्यूतगुणितया च गुणगुणिभावात्मको भेदो, नामरूपाकृत्यनुस्यूतसद्द्रव्यतया नामरूपाकृतिसद्द्रव्यात्मको भेदो धर्मिगुणिरूपद्रव्याभेदविघातको न भवति. तद् उक्तं ''स यथा सैन्धवघनो अनन्तरो अबाह्यः कृत्स्नो रसघनएव एवं वा अरे अयम् आत्मा अनन्तरो अबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः'' (बृह.उप.४।५।१३) इति श्रुतौ. तस्माद् अखण्डब्रह्मवादे हि तादात्म्यवादेन भेदसहिष्णवभेदवादेन वा सर्वविधशास्त्रवचनसामञ्जस्यम् उपपद्यतएव. तद् उक्तं ग्रन्थकृता ''भेदसहिष्णुरेव अभेदो भगवदभिमतः'' इति.

* ननु पूर्वं ''यथा अमित्रो न मित्रं न मित्राभावः किन्तु मित्रविरुद्धसम्पद् एवम् अभेदोऽपि न भेदो न भेदाभावः किन्तु भेदविरुद्धसम्पद्'' इति अभेदस्य व्युत्पत्तिं प्रदर्श्य इदानीन्तु पुनः ''नानात्वाविरुद्धमेव स्वरूपैक्यम्'' इति तयोः अविरुद्धत्वमपि प्रतिपाद्यते इति किं केन सम्बध्यते? * इति चेद्, अत्र ब्रूमो, यदा 'विरुद्धसम्पद्' इति प्रतिपादनं तदा सहानवस्थायित्वरूपा इतरेतराभावरूपता प्रतिषेध्या. यदातु इतरेतराविरुद्धता प्रतिपाद्यते तदातु विरुद्धयोरपि सहावस्थानार्हता प्रतिपिपादयिषिता भवति इति प्रतिपादितत्वेन न कश्चिद् विरोधः.

येषान्तु इह तादात्म्येन साकं विरोधो ''न खलु अनन्यत्वम् इति अभेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधामः'' (भाम.२।१।१४) इति तेषां मते ब्रह्मसूत्रद्वितीयाध्यायीयप्रथमपादस्य त्रयोदशानामपि अधिकरणानां सर्वथा असङ्गतिरेवेति तत्रत्य भाष्यावलोकनकारिणां न तिरोहितमिव किञ्चिद्.

तथाहि — [१] प्रथमे अधिकरणे तावत् सांख्यस्मृतिप्रामाण्यानुरोधेन जगतः प्रकृत्युपादानकत्वसमर्थनाय ब्रह्मोपादानकत्वम् आक्षिप्तं, तत्र यदि ''सर्वज्ञः सर्वेश्वरो

जगतः उत्पत्तिकारणं मृत्सुवर्णादयइव घटरुचकादीनाम्'' (ब्र.सू.शां.भा.२।१।१) इति ब्रह्मणः परिणाम्युपादानत्वाङ्गीकृत्याक्षेपौ ब्रह्मणो विवर्ताधिष्ठानत्वेतु न कथमपि सङ्गच्छेते. नच सांख्यैः जगतो मायोपादानकत्वे वा ब्रह्मणो विवर्तोपादानत्वे कश्चन आक्षेपः कृतोऽस्ति नापि तस्य परिहारो ब्रह्मणः परिणाम्युपादानत्वोपपादनेन विवर्तोपादानत्वसाधकः स्यात्.

ततो [२] 'योगप्रत्युक्त्यधिकरणे'ऽपि ''एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता'' (तत्रैव.२।१।२) इति भाष्यकाराः वदन्ति. तत्रापि जगत्कारणस्य ईक्षणकर्तृत्व-मोक्षहेतुत्वादीनि श्रौतलिङ्गानि यदि प्रधानस्य कारणत्वे नोपपद्येरन् कथन्नु सदसद्विलक्षणायाः मायायाः परिणाम्युपादानत्वे हि उपपद्येरन् इति समानो दोषः.

[३] 'न विलक्षणत्वाधिकरणे'तु भाष्यकाराः निरूपयन्ति ''रूपाद्यभावाद्धि न अयम् अर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरो लिङ्गाद्यभावात् च न अनुमानादीनाम् आगममात्रसमधिगम्यएवतु अयम् अर्थो धर्मवद्...यदपि श्रवणव्यतिरेकेण मननं विदधच्छब्दएव तर्कमपि आदर्तव्यं दर्शयति नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्य अत्र आत्मलाभः सम्भवति, श्रुत्यनुगृहीतएव हि अत्र तर्को अनुभवाङ्गत्वेन आश्रीयते'' इति उक्त्वा ब्रह्मजगतोः वैलक्षण्यहेतुकायाः असत्कार्यापत्तेः परिहाराय '''इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा'...इत्येवमादिभिः श्रुतिभिः अविशेषेण त्रिष्वपि कालेषु कार्यस्य कारणानन्यत्व श्राव्यते'' इति उक्तवन्तः. तदिदं कार्यकारणयोः अनन्यत्वं भेदात्यन्ताभावरूपं तादात्म्यरूपं वा? आद्ये ब्रह्मजगतोः परिणाम्युपादानोपादेयभावव्याहतिः द्वितीये विवर्ताधिष्ठानत्वासङ्गतिः, उत्तरत्र 'भोक्त्रापत्त्यधिकरणो'क्तस्य समुद्रतरङ्गदृष्टान्तस्यापि असङ्गतिः च.

[४] 'शिष्टापरिग्रहाधिकरणे' भाष्यकाराः कथयन्ति ''परमगम्भीरस्य जगत्कारणस्य तर्कानवगाह्यत्वं, तर्कस्य अप्रतिष्ठितत्वम्'' इति सति चैवं निरंशस्य निरवयवस्य अंशेन परिणामो विरुद्धइति विवर्ताधिष्ठानत्वकल्पना जगत्कारणस्य तर्कनिमित्तैव परमगाम्भीर्यनिरसनेन तर्कावगाह्यत्वसाधिका स्वीकृतिः, न श्रौती.

[5] 'भोक्त्रापत्त्यधिकरणे' जडचेतनात्मकस्य कार्यप्रपञ्चस्य ब्रह्मोपादानकत्वे भोक्तृभोग्ययोः अविभागापत्तिः इति आक्षेपएव तावद् विवर्तवादे अप्रसक्तः तस्य परिहारस्तु समुद्रतरङ्गदृष्टान्तमूलकः ततोऽपि अप्रसक्ततरः इति.

[6] 'आरम्भणाधिकरणे'तु कारणानन्यत्वं न कार्यकारणतादात्म्यरूपं किन्तु कारणस्य भेदात्यन्ताभावोपलक्षितत्वरूपम् इति निर्विशेषाद्वैतवादिनाम् अभ्युपगमः. उपनिषदितु एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य दृष्टान्ततया "**वाचारम्भणं 'विकारो(='मृण्मयं'-'लोहमयं'-'कार्ष्णायसम्' इति)' नामधेयं = 'मृत्तिका'-'लोहमयं'-'कृष्णायसम्' इत्येव सत्यम्**" (छान्दो.उप.६।१।४-७) इति यद् निरूपितं तत्र कार्यकारणयोः मध्ये नैकतरस्य सत्यत्वासत्यत्वे कश्चन विचारः किन्तु कार्याणां स्वकारणविकारताबोधकं यद् नाम तद् न सत्यं किन्तु कारणस्य यद् मूलं नाम तदेव सत्यनाम इत्येव प्रतिपादनीयं प्रतिभाति. तत्र कार्याणां मिथ्यात्वं कारणानामेव सत्यत्वम् इति कारणस्य भेदात्यन्ताभावोपलक्षितत्वान्वेषणमिह अकाण्डताण्डवप्रदर्शनमेव. श्रुत्यर्थव्याख्याने भाष्यकारकृतः 'वाचारम्भण'पदेन साकम् 'एव'काराध्याहारो निर्हेतुकः. मृत्तिकायाएव सत्यत्वविवक्षायां 'मृत्तिकैव सत्या' इति प्रयोगः स्यात्. तदभावम् आलोच्य "**वागालम्बनमात्रं नामैवं केवलं न विकारो नाम वस्तु अस्ति परमार्थतो, 'मृत्तिकेत्येव'तु=मृत्तिकैव सत्यं वस्तु अस्ति**" (छान्दो.उप.भा.६।१।४) इत्यत्र 'मात्र'-'एव'-'वस्तु'पदानि अध्याहृत्य स्वाभिमतार्थोपपादनं शक्यं कृतम्. अन्यथा अश्रौतपदानाम् अनध्याहारे न कथमपि स्वाभिप्रेतविवर्तोपादानतासिद्धिप्रत्याशा. तस्मात् विवर्ताधिष्ठाने ब्रह्मणि अधिकरणासङ्गतिः इत्येका कथा, अपरातु ततोऽपि दारुणी "**अविद्या तत्कृतो बन्धः**" इति वदतां मते अविद्यायाएव व्यावहारिकसत्यत्वं साधयेत न पुनः आविद्यकबन्धस्येति आविद्यकबन्धनिवृत्त्यर्थं ब्रह्मजिज्ञासापि व्यर्थैव भवेत्. नच अविद्यानिवृत्त्यैव इष्टसिद्धिः इति कल्पनीयं, जीवन्मुक्तिसिद्ध्यर्थं अविद्यानिवृत्त्युत्तरमपि विक्षेपानुवृत्तेरपि अभीष्टतानिरसनप्रसङ्गापत्तेः. इह भगवत्पादश्रीशङ्कराः आहुः "**ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धौ सत्यां यत् तत्र अफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि तद् ब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते फलसंनिधौ अफलं तदङ्गम् इतिवद्**" - "**व्यवहाराभिप्रायेणतु स्याद्**

लोकवद् इति महासमुद्रस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति" (तत्रैव.२।१।१४) इति तत्र ब्रह्मज्ञानेन सत्यपि भेदापगमे "**सामुद्रोहि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः**" (यथापूर्वोद्धृतिः) इतीदृशीनां स्तुतीनामपि असमञ्जसतैव. किञ्च "**यथाच कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति एवं कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति**" (तत्रैव.२।१।१६) इति निरूपणन्तु ब्रह्मणि जगतः त्रैकालिकसत्त्वनिषेधप्रतियोगितारूपेण मिथ्यात्वेन न कथमपि सङ्गच्छते. "**नामरूपव्याकृतं हि वस्तु 'सच्'छब्दार्हं लोके प्रसिद्धम् अतः प्राङ्नामरूपव्याकरणाद् असदिव आसीद् इति उपचर्यते**" (तत्रैव.२।१।१७) इत्यपि स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिनि जगति कथन्तरम् उपपद्येत? किञ्च "**सत्त्वाच्चावरस्य**" (ब्र.सू.२।१।१६) इति सूत्रे भाष्यकाराः "**इतश्च कारणात् कार्यस्य अनन्यत्वं यत् प्राग् उत्पत्तेः कारणात्मनैव कारणे सत्त्वम् अवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते... यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत् ततः उत्पद्यते यथा सिकताभ्यः तैलम्. तस्मात् प्राग् उत्पत्तेः अनन्यत्वाद् उत्पन्नमपि कारणाद् अनन्यदेव कारणात् कार्यम् इति अवगम्यते. यथाच कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति एवं कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति. एकञ्च पुनः सत्त्वम् अतोऽपि अनन्यत्वं कारणात् कार्यस्य**" . सति चैवं कारणस्य ब्रह्मणः पारमार्थिकं सत्त्वं तस्मात् कार्यस्य द्वैतप्रपञ्चस्यापि पारमार्थिकेन सत्त्वेन भवितव्यम् आसीत् किन्तु तथा अनङ्गीकारादपि सूत्रभाष्ययोः स्वसिद्धान्तवैपरीत्यं सुस्पष्टमेव. तस्मादेवम्भूतेषु भाष्यवचनेषु उपलभ्यमानेषु आरम्भणाधिकरणस्य सर्वथैव असङ्गतिः निर्विशेषाद्वैतवादे.

[7] 'इतरव्यपदेशाधिकरण'स्य भाष्ये "**श्रुतेः प्रामाण्याद् विकारस्य च वाचारम्भणमात्रत्वात् स्वप्नदृश्यभाववैचित्र्यवत् च इति अभ्युच्चयः**" इति प्रतिपादितं किन्तु "**वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवद्**" (ब्र.सू.२।२।२९) इत्यत्र स्वप्नजागरितप्रत्ययोः वैधर्म्यस्य स्वाभ्युपगतत्वेन वदतोव्याघातोऽपि स्पष्टएव.

[8] 'उपसंहारदर्शनाधिकरणे' पुनः "**ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणममानम् अपेक्षतएव बाह्यं साधनम्**" इति आशङ्क्य तस्य समाधानतया "**परिपूर्णशक्तिकन्तु ब्रह्म न तस्य अन्येन केनचित् पूर्णता सम्पादयितव्या**"-"**यथा लोके देवाः**

पितरः ऋषयः इत्येवमादयो महाप्रभवाः चेतनाअपि सन्तो अनपेक्ष्यैव किञ्चिद् बाह्यं साधनम् ऐश्वर्यविशेषयोगाद् अभिध्यानमात्रेण स्वतएव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि रथादीनि च निर्मिमाणः उपलभ्यन्ते मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्याद्'' इति भाषितम्. सति चैवं मायासाचिव्येन जगत्कारणतोपपादानं भगवदैश्वर्यनिरसनपूर्वकं स्वारूढशाखोच्छेदनमेव. मायायाः ब्रह्माबाह्यत्वेतु ब्रह्मणो अपारमार्थिकत्वं सदसद्विलक्षणत्वरूपं मिथ्यात्वं वा, मायायाः वा त्रिकालाबाध्यत्वरूपं पारमार्थिकत्वं वज्रलेपायितं स्यात्. मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यानुरोधाभ्युपगमेतु देवतादिनिर्मितानां शरीरप्रासादरथादीनां न देवतासत्तातो न्यूनसत्ताकत्वमिति तद्दृष्टान्तसाम्येन ब्रह्मणः पारमार्थिकत्वमिव प्रपञ्चस्यापि पारमार्थिकत्वं ध्रुवं सिद्ध्येत.

९ 'कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणे' पूर्वोक्तसङ्गतिनिरूपणे ''चेतनम् एकम् अद्वितीयं ब्रह्म क्षीरादिवद् देवादिवत् च अनपेक्ष्य बाह्यं साधनं स्वयं परिणममानं जगतः कारणम् इति स्थितम्. शास्त्रार्थपरिशुद्धयेतु पुनः आक्षिपति'' इति भाषितम्. तत्र आरम्भणाधिकरणेतरव्यपदेशाधिकरणयोः यथाभाषितार्थानुरोधाद् भेदात्यन्ताभावोपलक्षिते ब्रह्मणि मायया मिथ्याभासः प्रपञ्चः इत्यस्यैव पक्षस्य स्थितत्वाद् एतादृशी शङ्कैव नोदेति चेत् कुतः शास्त्रार्थपरिशुद्धये शङ्कासमाधाने? नहि यथा क्षीरादि स्वसमानसत्ताकेन दध्यात्मना विक्रियते तथा स्वसमानसत्ताकेन जगदात्मना ब्रह्मापि विक्रियते इति अद्वैतवादिनां मतम्. नापि अनितरसचिवाः देवादयो स्वरूपाद् अप्रच्युताः यथा आत्मना अनेकानि रूपाणि आविर्भावयन्ति, स्वसमानसत्ताकानि; तथा, पारमार्थिके ब्रह्मणि मायासाचिव्येन जायमानानां रूपाणां पारमार्थिकत्वम् अद्वैतिनाम् अभीष्टम्. नापिच शुक्तिशकलस्य रजतात्मना विवर्ते, कृत्स्नं वाकृत्स्नं वेति विकल्पावसरो यौक्तिको, ब्रह्मणोऽपि शुक्तिशकलेनेव जगदात्मना विवर्ते निरवयवत्वहानेः न काचन यौक्तिकी सम्भावना वक्तुं युक्ता. तस्माद् भाष्यकाराणां ''कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्यरूपेण परिणामः प्राप्नोति निरवयवत्वात्. यदितु ब्रह्म पृथिव्यादिवत् सावयवम् अभविष्यत् ततो अस्य एकदेशः पर्यणंस्यद् एकदेशः च अवास्थास्यत. निरवयवन्तु ब्रह्म श्रुतिभ्यो अवगम्यते... सावयवत्वेच अनित्यत्वप्रसङ्गः'' इति आक्षेपः तस्यच समाधानं ''शब्दमूलञ्च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं

न इन्द्रियप्रमाणकं तद् यथाशब्दम् अभ्युपगन्तव्यम्. शब्दश्च उभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयति अकृत्स्नप्रसक्तिं निरवयवत्वं च. लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशात् शक्तयो विरुद्धानेककार्यविषयाः दृश्यन्ते. ताअपि तावद् न उपदेशम् अन्तरेण केवलेन तर्केण अवगन्तुं शक्यन्ते, अस्य वस्तुनः एतावत्यः एतत्सहायाः एतद्विषयाः एतत्प्रयोजनाः च शक्तयः इति. किमुत अचिन्त्यस्वभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना शब्देन न निरूप्येत! तथाच आहुः पौराणिकाः 'अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तान् तर्केण योजयेत्. प्रकृतिभ्यः परं यत् च तद् अचिन्त्यस्य लक्षणम्' इति. तस्मात् शब्दमूलएव अतीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः'' इति सर्वथा एतत् समाधानं शब्दैकगम्ये विरुद्धधर्माश्रये ब्रह्मणि परस्परविरुद्धधर्मयोः अभ्युपगमे तर्कविरोधम् उद्भाव्य तस्य निरवयवत्वन्तु पारमार्थिकं जगदात्मना परिणामः च अपारमार्थिकः इति मतं मायावाददृष्ट्या ब्रह्मवाददृष्ट्या चेति उभयथापि गजस्नानानुकार्येव प्रतिभाति.

१० 'सर्वोपेताधिकरणे' सर्वविधधर्मशक्तिरूपादीनां अत्यन्ताभावनिरूपणं ''मम माता वन्ध्या'' इति निरूपणवद् किं स्वतोव्याहतं न! भवत्येव.

११ 'न प्रयोजनवत्त्वाधिकरणे' प्रपञ्चप्रयोजनपर्यनुयोगः तस्य लीलात्वेन पर्यनुयोगानर्हता इति समाधानमपि किं केन सम्बध्येत! नहि रज्जुः शुक्तिः वा कस्मात् प्रयोजनात् सर्पात्मना रजतात्मना वा विवर्तते इति पृच्छन् कोऽपि बुद्धिमत्सु परिगणनीयो भवति. तत्समाधानतया च लीलयैव तदुभयं भ्रमात्मना भाति इति वदन् ''आम्रान् पृष्टे कोविदारान् व्याचष्टे'' इति न्यायभाग् न भवेत् किमु!

१२ 'वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणे'ऽपि तथैव अप्रसक्तचिन्तारूपे शङ्कासमाधाने इति न अतिरोहितमिव किञ्चिद् अत्र पश्यामः. यस्मात् नहि रजतात्मना विवर्तमानं शुक्तिशकलं रङ्कं प्रति विषमं वा, सर्पात्मना विवर्तमाना वा रज्जुः द्रष्टरि भयजनकस्य सर्पस्य दण्डेन मारणीयताम् आभासयति इति निर्घृणत्वेन केनचिद्

बुद्धिमता उपालब्धव्या भवति!

[13] 'सर्वधर्मोपपत्त्यधिकरण'स्य भाष्ये भगवत्पादश्रीशङ्कराचार्याणां निर्धर्मके ब्रह्मणि **"प्रदर्शितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्माः उपपद्यन्ते"** इति प्रतिपादनमेव तावद् न उपपद्यते. अन्यत्तु सर्वम् उपपद्येतापि इति महान् विरोधाभासः.

सर्वेष्वपि एतेषु अधिकरणेषु ब्रह्मणा सह जडजीवयोः तादात्म्याङ्गीकारमूलकः समानसत्ताकः उपादानोपादेयभावः अंशांशिभावः च अभ्युपगम्यमानो न केवलं सर्वमपि सौत्रं समाधानम् अपितु शङ्काक्षेपयोरपि प्रसक्ततामपि निर्वोढुम् अर्हति. तस्माद् ब्रह्मवादे तादात्म्यवादपुरस्कृतो भेदसहनक्षमाभेदवादो न केवलं ब्रह्मसूत्रद्वितीयाध्यायप्रथमपादस्य किन्नाम समग्रस्यापि ब्रह्मजिज्ञासारूपशास्त्रस्य जीवातुभूतएव. तदिदम् **"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"** (ब्र.सू.१।१।१) इति प्रतिज्ञाय तद् जिज्ञास्यं ब्रह्म पुनः किंल्लक्षणकं किम्प्रमाणकम् इति आकाङ्क्षायां **"जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वाद्"** (ब्र.सू.१।१।२) इति सूत्रयता महर्षिणा बादरायणेन शास्त्रप्रमाणकं तद् ब्रह्म जगज्जन्मस्थितिलयहेतुः इति लक्षितम्. तस्माद् जिज्ञास्यब्रह्म-ज्ञेयब्रह्मणोः मिथो भेदं विना न निर्विशेषाद्वयब्रह्मसिद्धिरिति तत्रापि भेदस्तु गलेपतितएव. किञ्च भाष्यकाराः **"अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टइति न एतावता शब्दप्रमाणके अर्थे गौणी कल्पना न्याय्या सर्वत्र अनाश्वासप्रसङ्गाद्"** (ब्र.सू.शां.भा.१।१।७) इति स्वीकृत्यापि सर्वथा शास्त्रप्रमाणैकगम्ये ब्रह्मजीवैक्ये ब्रह्मजगदैक्ये च ईदृशेऽपि विषये श्रुतेः **"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं... तत्त्वमसि"** (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यस्याअपि अमुख्यार्थवृत्तिं विना स्वमतं न उपपादयन्ति. यदितु जीवजगतोः ब्रह्मतादात्म्यं कल्प्यते चेत् विनैव अमुख्यवृत्त्याश्रयं तच्छास्त्रैकगम्यम् ऐक्यं मुख्ययैव वृत्त्या उपपद्यते इति महदेव अस्य तादात्म्यवादस्य श्रुतिप्रामाण्यसंरक्षणे कृत्यम्!

✲ ननु नैयायिकैः यत्र समवायसम्बन्धो अङ्गीक्रियते तत्र शुद्धाद्वैतवादिभिः 'तादात्म्यं' स्वीक्रियते. तस्यच भेदसहिष्णवभेदरूपता च परिभाष्यते. [1]तथात्वे

सति धर्मधर्मिणोः तादात्म्ये दूरात् प्रत्यक्षविषयीभूते वस्तुनि पद्वपटुनी कुतः उपपद्येयाताम्? [2]धर्मधर्मिणोः तादात्म्ये धर्मिप्रत्यक्षे तत्तादात्म्यापन्नानां सर्वेषामपि धर्माणां ग्रहणापत्त्या धर्मिणः स्फुटावगतिरेव प्रसज्येत. [3]तस्माद् धर्मिग्रहप्रयुक्तः कस्यचिद् धर्मस्य ग्रहणम्, अन्यस्यतु पुनः कस्यचिद् धर्मस्य अग्रहणप्रयुक्तैव धर्मिग्रहे अस्पष्टतापिच इति व्यवस्थापि नोपपद्येत. नहि धर्मिग्रहणेन सर्वेऽपि तस्य धर्माः नियमेन गृह्यन्तएवेति न धर्मधर्मिणोः तादात्म्यं वक्तुं शक्यं धर्मधर्मिभावोच्छेदप्रसङ्गादेव. नच [*]घटघटत्वयोः तादात्म्याभावे भेदाविशेषाद् घटपटयोरपि धर्मधर्मिभावो भवतु[*] इति शङ्कनीयं, [4]भेदाविशेषेऽपि धूमवह्न्योरेव कार्यकारणभावो न पुनः मेघवह्न्योः वस्तुस्वभावनैयत्याद्, एवमेव भेदाविशेषेऽपि घटघटत्वयोरेव धर्मिधर्मभावो न घटपटयोः इत्यस्यापि अवश्यम् अङ्गीकार्यत्वात्. [5]विलक्षणाकारबुद्धिवेद्यत्वेनैव भेदबुद्धेः उदयाद् धर्मस्य क्वचित् समवायिनि समवेतत्वबुद्ध्यनुरोधाद् धर्मिणश्च समवायित्वबुद्ध्यनुरोधात् च भेदः सर्वथा अभ्युपगन्तव्यएव. तस्माद् विलक्षणा बुद्धिः हि धर्मधर्मिणोः वैलक्षण्ये प्रमाणं, वस्तुवैलक्षण्यं विना विलक्षणबुद्ध्यनुपपत्तेः ✲ इति चेद्.

अत्र पृच्छामो : [1]धर्मधर्मिणोः भेदेऽपि दूरात् प्रत्यक्षविषयीभूते वस्तुनि पद्वपटुग्रहणे कथम् उपपद्येते? भेदाविशेषात् सर्वेषामपि धर्माणां का वा विनिगमना कस्यचिद् धर्मस्य ग्रहणे अपरस्य च अग्रहणे? यतोहि धर्मिग्रहणेन धर्म्यपटुग्राहकाः केचन धर्माः गृह्यन्ते इति हेतोः आहोस्विद् भूयसां धर्माणां ग्रहणेन धर्मिणः पटुग्रहणं भवति अल्पीयसान्तु ग्रहणेन न तथा इत्यत्रापि उभयोः भेदाविशेषाद् विनिगमनाभावः समानएव! नच [*]संयोगेन समवायेन वा गृहीते धर्मिणि तद्धर्माणामपि संयुक्तसमवाय-संयुक्तसमवेतसमवाय-समवेतसमवाय-विशेषणविशेष्य-भावान्यतमस-म्बन्धेन ग्रहणस्य शक्यतैव विनिगमना[*] इति वाच्यं, सर्वेषामपि एतेषां सम्बन्धानां धर्मधर्मिभेदघटितत्वाविशेषेण पद्वपटुग्रहणभेदे विनिगमनागमकत्वात्. तस्माद् न धर्मधर्मिभेदस्य तत्तादात्म्यस्यापि वा पद्वपटुग्रहणनियामकत्वं किमुत दूरत्वसामीप्य-सादृश्यवैसादृश्य-पूर्वदर्शनजन्यसंस्कारोद्बोधनानुद्बोधनादीनामेव ह्युपाधीनां पद्वपटुग्रहणनि-यामकत्वं कल्पनीयम्. तस्माद् धर्मधर्मिणोः तादात्म्ये न कापि बाधा.

[2]धर्मधर्मिणोश्च भेदेऽपि एकग्रहणेन अपरग्रहणे अङ्गीक्रियमाणे घटग्रहणेन

पटोऽपि गृह्यतां का बाधा? *ननु उक्तं सम्बन्धो हि तत्र नियामकः* इति चेत् न, धर्मधर्मिणोः भेदे अङ्गीक्रियमाणे नैयायिकानां मते सप्ताधिकपदार्थापत्त्या वैशेषिकानां वा मते षडधिकपदार्थापत्त्या स्वमतव्याघातएव बाधकः. तथाच उक्तं न्यायकन्दलीकारैः **''येतु धर्मान् व्यतिरिक्तान् इच्छन्ति तेषाम् एकस्मिन् समस्तवस्तुव्यापिनि 'अस्ति' इति प्रत्ययहेतौ अस्तित्वे कल्पिते द्रव्यादिषु सत्तावैयर्थ्यम्. अथ अस्तित्वं प्रतिवस्तु भिद्यते तदा तत्कल्पनावैयर्थ्यं, सत्तायाः स्वरूपसत्तायाः च 'सद्' इति प्रत्ययोपपत्तेः. येषान्तु भावस्वरूपमेव अस्तित्वं न तेषां व्यर्था सत्ता, स्वरूपस्य अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वाभावात्; नापि अस्तित्वम् अनर्थकं निःस्वरूपे सत्तायाः समवायाभावाद् इति उभयम् उपपद्यते''** (न्या.क.उद्दे.प्रक.).

नच कन्दलीकारैरेव *समवायनिरूपणे **''एकात्मकत्वे हि एकमेव वस्तु स्यात् नोभयं, परस्परात्मकत्वाभावलक्षणत्वाद् उभयरूपतायाः. नच तदेकं वस्तु परमार्थतः परस्परविलक्षणेन रूपेण तयोः आकारयोः प्रतिभासनात्. विलक्षणाकारबुद्धिवेद्यत्वस्यैव भेदलक्षणत्वाद्''** (तत्रैव) इत्यपि उपपादितत्वात् तादात्म्यं न सम्भवदुक्तिकम्* इति वाच्यं, षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यनिरूपणे **''यद्यपि धर्माः षट्पदार्थेभ्यो न व्यतिरिच्यन्ते किन्तु तएव अन्योन्यापेक्षया धर्माः धर्मिणः च भवन्ति''** (तत्रैव) इत्यस्यापि अङ्गीकाराद् धर्मधर्मिणोः तादात्म्यं सर्वथा अकामगलेपतितमेव आभाति.

[३] यत् पुनः उक्तं ''तस्माद् धर्मिग्रहप्रयुक्तः कस्यचिद् धर्मस्य ग्रहणम्, अन्यस्यतु पुनः कस्यचिद् धर्मस्य अग्रहणप्रयुक्तैव धर्मिग्रहे अस्पष्टतापि च इति व्यवस्थापि'' इति तदपि तादात्म्यस्य आत्यन्तिकैकत्वे कल्पयितुं शक्येत; तादात्म्यन्तु नात्यन्तिकभेदरूपं नाप्यात्यन्तिकाभेदरूपमिति न कापि बाधा.

[४] यच्चापि उक्तं ''वस्तुस्वभावएव कार्यकारणभावइव धर्मधर्मिभावरूपे भेदेऽपि नियामकः'' इति तदपि असारं, यस्माद् वस्तुस्वभावस्य नियामकत्वे अवश्याभ्युपगन्तव्ये सएव तिष्ठतु किम् अन्तर्गडुना आत्यन्तिकेन भेदेन अभेदेन वा! इति.

[५] *ननु उक्तं विलक्षणाकारबुद्धिहेतुतया वस्तुवैलक्षण्यं भेदे तत्त्वम्* इति चेद्, अत्र ब्रूमः, तादात्म्यस्य भेदसहनक्षमाभेदरूपत्वेन समान-विलक्षणोभयाकारबुद्ध्योः नियामकत्वाभ्युपगतेः न काचित् क्षतिः.

तस्मात् कार्यकारणयोः तादात्म्यं स्वीकुर्वाणानां शुद्धाद्वैतवादिनां मते यथा विलक्षणाकारबुद्धिगोचराणां कार्याणां सौवर्णकटककुण्डलादीनां भेदो समानाकारबुद्धिगोचरस्य तदैकोपादानस्य सुवर्णत्वेन च अभेदः तथा समानाकारबुद्धिगोचरयोः राजतसौवर्णयोः द्वयोः कटकयोः कटकत्वेन अभेदेऽपि तदुपादानभूतयोः विलक्षणाकारबुद्धिगोचरयोः स्वर्णरजतयोः कारणयोः भेदोऽपि भणितुं शक्यइति, नात्यन्तिको भेदो वाभेदः इह पादप्रसारं लभते. तथैव अवयवावयविभावेऽपि विलक्षणाकारबुद्धिगोचराणां करचरणकर्णादीनाम् अवयवानां मिथो भेदेऽपि अवयविनः शरीरस्य एकस्य एकाकारबुद्धिगोचरतया अभेदो यथा तथा सर्वेषामपि मनुजानां करचरणकर्णाद्यवयवानां वानरकरचरणकर्णाद्यपेक्षया समानाकारबुद्धिगोचरतया अभेदोऽपि न नैवानुभूयते. तथैव बाल्यकौमार्यकैशोर्ययौवनवार्धक्यावस्थासु एकस्यैव शरीरस्य अवयविनो भेदोऽपि अनुभूयतएव. तदेतद् आत्यन्तिकभेदाभेदान्यतरवादिनां मते तादात्म्याङ्गीकाराभावात् कथन्तरम् उपपद्येत! गुणगुणिनोश्चापि मिथो भिन्नानां गवाश्वभल्लूकगजादीनां नैल्यस्य नीलत्वेन समानाकारबुद्धिगोचरत्वेन ऐक्यमिव विलक्षणाकारबुद्धिगोचराणां गोत्वाश्वत्वादीनां धर्माणाम् अनैक्यमिव च समस्तानामपि व्यस्तानां पशूनाम् एतेषां पशुत्वेन पुनः समानाकारबुद्धिगोचरतापि केन वारयितुं शक्या? तदिदं सुष्ठूपपादितं महाभाष्यकारैः :

> **''कथं पुनः ज्ञायते भेदकाः गुणाः? इति, एवंहि दृश्यते लोके—एको अयम् आत्मा उदकं नाम, तस्य गुणभेदाद् अन्यत्वं भवति, अन्यद् इदं शीतम्/अन्यद् इदम् उष्णम् इति. ननु च भोः अभेदकाअपि गुणाः दृश्यन्ते तद् यथा देवदत्तो मुण्ड्यपि जट्यपि शिख्यपि स्वाम् आख्यां न जहाति. तथा बालो युवा वृद्धो दम्यो वलीवर्दः इति. उभयम् इदं गुणेषु उक्तं भेदकाः अभेदकाः इति. किं पुनः अत्र न्याय्यं? अभेदकाः गुणाः**

इत्येव न्यायम्... आश्रीयमाणो गुणो भेदको भवति. तद् यथा 'शुक्लम् आलभेत' 'कृष्णम् आलभेत' तत्र यः शुक्लम् आलभते नहि तेन यथोक्तं कृतं भवति."—"इह कदाचिद् गुणो गुणिविशेषको भवति. तद् यथा 'पटः शुक्लः' इति. कदाचिच्च गुणिना गुणो व्यपदिश्यते 'पटस्य शुक्लः' इति, तदा सामानाधिकरण्यं गुणगुणिनोः" (पातं.म.भा. १।१।३।१ - १।४।२।२१) इति.

तस्माद् महाभाष्यकाराणामपि गुणगुणिनोः तादात्म्यमेव सम्मतम् इति प्रतिभाति. एवमेव कर्मद्रव्ययोः जातिव्यक्त्योः भावाभावायोरपि सर्वत्र भेदसहिष्णवभेदरूपं तादात्म्यं विना न निस्तारः क्वापि. *ननु गुणलक्षणभाष्ये "**सत्त्वे निविशते अपैति पृथग्जातिषु दृश्यते आधेयः च अक्रियाजः च सो असत्त्वप्रकृतिः गुणः**" (पात.म. भा.४।१।४४) इत्यत्र कण्ठतो गुणस्य 'असत्त्वप्रकृतिता' उक्तेति नैवम्* इति चेत्, सत्यं "**आश्रीयमाणो गुणो भेदको भवति**" इति उक्तत्वादेव तादात्म्यान्तर्भूतभेदाश्रयणेन गुणनिरूपणे गुणस्य द्रव्याद् भिन्नत्वं यथा तथैव तदन्तर्भूताभेदाश्रयणेन गुणनिरूपणेतु गुणद्रव्ययोः अभेदोऽपि वक्तुं शक्यएव. लीलार्थं बहुत्वाविर्भावे अङ्गीकृते गुणद्रव्योरपि बहुत्वेऽबहुत्वे च का क्षतिः! तादात्म्यस्यैव सर्वसाधकत्वोपलम्भात् च. तद् उक्तं श्रीमद्भागवते "**आद्यो अवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन् मनः च द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः**" (भाग.पुरा.२।६।४१) इति भगवतएव द्रव्यात्मकत्वं गुणात्मकत्वं चापि. भगवद्दृष्ट्यातु सर्वं सर्वात्मकं लीलार्थप्रकटितभेददृष्ट्या सर्वं मिथो भिन्नात्मकं च तद् आह श्रुतिः "**सएव इदं सर्वम्**" - "**सर्वं सर्वमयम्**" (छान्दो.७।२५।१ - नृसिं.उ.ता.९) इति.

ननु भावाभावयोः तादात्म्यं कथम्? उच्यते नैयायिकैरपि भूतलेतु संयोगेन घटावयवेषुतु पुनः समवायेन घटो वर्तते इत्येवं भावो अङ्गीकृतः. तत्रैव च पुनः भूतले समवायेन स्वावयवेषुतु पुनः संयोगेन घटाभावोऽपि अभ्युपगतएवेति घटतदभावयोः सामानाधिकरण्योपगमादेव भावाभावयोरपि तादात्म्यं भेदसहिष्णवभेदरूपम्

(उक्तस्य अर्थस्य उपनयः)

तच्च ज्ञानं भेदाविरुद्धसम्पदात्मकम् अभेदमेव बोधयति इति प्राग् उपपादितम् अतो न कोऽपि संशयः.

(निगमनम्)

एवं सति "**तद्गुणसारत्वाद्**" (ब्र.सू.२।३।२९) इत्यत्र ब्रह्मांशे जीवे ब्रह्मत्वव्यपदेशः औपचारिकः. सच मुक्तावपि तुल्यः पूर्वोक्तसत्कारणतावादसिद्धस्य भेदस्य अनपायाद् इति. एवं प्रलयदशायां जडस्यापि बोध्यम्. एवं ब्रह्मणो निरंशत्वेऽपि सांशत्वं विरुद्धधर्माश्रयत्वाद् उपपन्नम्. एवं जगतो ब्रह्मत्वेऽपि कार्यत्वमपि इति सर्वं सुस्थम्.

अङ्गीकार्यमेव. *ननु सम्बन्धेभेदेनैव एतत्सर्वोपपत्तेः तादात्म्यन्तु अन्यथोपपन्नम्* इति वाच्यं, मैवं, "**द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः**" इति वदतां सप्तस्वपि पदार्थेषु पदार्थत्वेन समानाकारबुद्धिगोचरतायाः उपलम्भाद् सर्वेषाम् ऐक्यमपि अकामगलेपतितमेव. *ननु द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादिरूपैः वैलक्षण्यस्यापि उपलम्भाद् भेदोऽपि अङ्गीकरणीयएव* इति चेत् चिरं जीवतु भवान् भेदसहनक्षमाभेदाङ्गीकारात्!

इदमिह विशेषतो अवधेयम् : "**एकमेवाद्वितीयं... तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**" (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुत्या सर्वभवनसमर्थेन ब्रह्मणा बहुत्वस्य व्यवस्थया सृष्टौ प्राकट्याद्येव यद्यपि भेदविज्ञानव्यवहारयोः असम्भवता बाधो वा लोपो वा ब्रह्मज्ञानाद् न भवति; तथापि, ज्ञानिनां ब्रह्मसायुज्ये तत्कृते तथैव महाप्रलयेतु सर्वेषां कृतेऽपि "**परे अव्यये सर्व एकीभवन्ति**" (मुण्ड.उप.३।२।७) इति श्रुत्यनुरोधात् च एकीभावो सिद्ध्यत्येव. ततोहि प्राक् सर्वभेदस्य साक्षादनुभूतेः अशक्यत्वेऽपि श्रुतिप्रतिपादितस्य ऐक्यस्य शाब्दबोधस्तु द्वैताबाधको अबाधितः परोक्षानुभूतिरूपो न वेदान्तविदां कृते अतिरोहितो नाम.

वस्तुतस्तु "सौवर्णं कुण्डलम्" इति तादात्म्याभिधायकं वचनमेव, यतः सुवर्णाद् आत्यन्तिकभिन्नं चेत् सुवर्णकर्मकक्रियया कुण्डलम् अन्वितं न स्याद्

(सदसद्भ्यामनिर्वाच्यं द्वैतं न श्रुतिगोचरम्।। [(१७तमपृष्ठीयकारिके द्वे)]
तादात्म्यन्तु सदद्वैतश्रुत्युक्तं चाभ्युपेयते।।३।।
भेदस्स्वाभाविकोऽत्यन्तोऽथवा न श्रुतिगोचरः ।।
कार्यकारणभावेऽपि तथाचांशांशिनोरपि।।४।।
स्मृतिसूत्रपुराणेष्वप्यखिलं हि तदात्मकम्।। [(२७तमपृष्ठीयकारिका)]
मिथ्यात्वन्तु क्वचित्तस्याऽतथात्वेन निरूप्यते।।५।।
निर्णीतन्तु स्वरूपं हि भेदाभेदविभेदकम्।। [(उपसंहारकारिका)]
श्रीमदाचार्यकृपया हृद्यारूढं यथोदितम्।।६।।)

इति श्रीमद्-वल्लभनन्दन-चरणदासदासेन पीताम्बरतनुज-पुरुषोत्तमेन कृतः
अवतारवादाल्यां भेदाभेदस्वरूपनिर्णयो नाम चतुर्थो वादः
सम्पूर्णताम् अगात्

अथ आत्यन्तिकाभिन्नं चेद् कार्यद्रव्यं न स्यात्. तथा ''नीलो घटो'' इत्यपि तथा, यतो नैल्यं घटाद् आत्यन्तिकभिन्नं चेद् घटकर्मक्रियया अन्वितं न स्याद् आत्यन्तिकाभिन्नं चेद् गुणरूपं न स्यात्. ''नीयमानो घटो'' इति वचनमपि तथा. यतोहि नयनं घटाद् आत्यन्तिकभिन्नं चेद् घटध्वंसे ध्वस्तं न स्याद् आत्यन्तिकाभिन्नं चेद् घटः कदाचिदपि स्थातुं न शक्येत. ''घटस्य भावो घटत्वं'' वचनमपि तादात्म्यबोधकमेव. यस्माद् घटाद् आत्यन्तिकभिन्नः चेत् तस्य भावः घटोत्पत्तिनाशनियतो न स्याद् अथ आत्यन्तिकाभिन्नः चेद् धर्मरूपो वा न स्यात्. ''स्वावयवसमवेतो घटः'' इत्यपि वचनं तादात्म्यं साधयति, यतोहि घटः स्वावयविभ्यः आत्यन्तिकभिन्नः चेद् तेभ्यो अवयवेभ्यो अन्यत्रापि उपलभ्येत अथ आत्यन्तिकाभिन्नः चेद् घटाकारानापन्नेष्वपि अवयवेषु जलाहरणं सम्भवेत्. ''घटप्रागभाववती मृत्तिका'' इति वचनञ्चापि तथा. यतः सा मृत्तिका घटप्रागभावाद् आत्यन्तिकभिन्ना चेद् घटनिर्माणाय नियततया न तां कश्चन अपेक्ष्येत अथ तत्प्रागभावतः आत्यन्तिकाभिन्ना चेद् घटो नैव तत्र प्रादुर्भावम् आप्नुयाद्. ''घटाभाववद् भूतलं'' वचनमपि तादाम्यएव प्रमाणं, यस्माद् घटाभावतो भूतलम् आत्यन्तिकभिन्नं चेद् अत्यन्ताभावः ततो पृथगपि उपलभ्येत अथ

आत्यन्तिकाभिन्नं चेत् तत्र कदापि घटसद्भावो न सम्भवेत्. ''पटभिन्नो घटः'' इत्यत्रापि तादात्म्यं विना न गतिः, पटभेदोहि न तावद् घटाद् आत्यन्तिको भिन्नः तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपितानुयोगिताकत्वासम्भवाद्, नापि आत्यन्तिकाभिन्नः पटभेदनिरूपणाभावे घटनिरूपणाशक्यत्वप्रसङ्गात्. ततश्च इत्येवमादिभ्यः सर्वेभ्यः अभेदान्वयबोधकेभ्यो वचनेभ्यः तादात्म्यबोधएव जायमानो अनुभूयते. तथैव ''सुवर्णस्य कुण्डलं'' ''घटे नीलिमा नतु नैल्यमेव घटः'' ''नयनंहि क्रिया घटद्रव्ये जायते नतु नयनमेव घटद्रव्यं'' ''समवायेन घटे घटत्वसत्त्वेऽपि

संयोगेन घटे घटत्वाभावोऽपि'' ''मृत्तिकायां घटप्रागभावसत्त्वेऽपि न त्रैकालिकघटात्यन्ता-भावो'' इत्येवमादिभेदबोधकवचनेभ्यो भेदोऽपि गम्यमानः सर्वेष्वपि भेदसहिष्णवभेदरूपं तादात्म्यमेव गमयति इति निष्प्रत्यूहम्.

तस्मात् सिद्धमिदं यद् आह ग्रन्थकारः ''तच्च ज्ञानं भेदाविरुद्धसम्पदात्मकम् अभेदमेव बोधयति'' इति. ग्रन्थान्ते उपसंहारकारिकाम् अदृष्ट्वा मया योजिता ''श्रुतिस्मृती''त्यादिकारिका इयम्.

पदवाक्यप्रमाणादि- शास्त्राभ्यासबलान्नहि।
लिखितं लिखितं यत्तु निजाचार्यकृपाबलात्।।
दुष्टं चेत् तत्कृपापात्रक्षुद्रताहेतुकं मतम्।
अदुष्टत्वेतु सैवैका कृपा सामर्थ्यवर्षिणी।।

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्रीपुरुषोत्तमचरणकृपाधनेन श्याममनोहरेण
विरचिता 'शुद्धाद्वैतप्रकाशिका'ख्या भेदाभेदस्वरूपनिर्णयविवृतिः
सम्पूर्णा

पाठभेदावली

१.''एकत्वेनैव बहुत्वकार्यसम्भवाद् न वैयर्थ्यम्'' इति ख-ग पाठयोः. २.'निन्दाश्रवणेन' इति मुद्रितपाठः '...श्रावणेन' इति ख-ग-घ पाठेषु. ३.'श्रावणम्' इति घ. ४.'औपचारिकएव' इति मु.पा. ५.''धर्माणापि ब्रह्मत्वपि'' इति घ. ६.''सुषुप्तीच्छायाम्'' इति घ. ७.''तथाच अभेदप्रतियोगिनाम्'' इति मु.पा.

अशुद्धः प्रतिभाति. ८."पूर्वकाले तस्य सद्रूपतां ब्रह्मरूपतां जगत्कारणत्वं च" इति घ. ९."अतोहि" मु.पा.. १०.'तथाच' इति ख-घ. ११."तद्बहुभवन..." इति मु.पा. १२."लोकेच" इति ख-ग-घ. १३.'नियमाद्' इति घ पाठे नोपलभ्यते. १४.'क्रियारब्धस्यैव' इत्यस्मात् परं 'भेदस्य' इति मुद्रिते पाठे नोपलभ्यते. १५."प्रतीत्यभावरूपः" इति क-ख-ग पाठेषु. १६."इतराज्ञानश्रवणम्' इति ख-घ. १७.'द्वितीये' इति मु.पाठे नोपलभ्यते. १८."हेतुतया श्रवणेन" इति ख-घ. १९."द्रष्टृत्वाविभागेन' इति घ पाठानुरोधेन 'द्रष्टृविभागेन' इति अन्येषु. २०."नच तत्र कारणसत्तायाएव निषेधो नतु कार्यसत्तायाः" इति क-ख-ग पाठास्तु अशुद्धाएव प्रतिभान्ति. २१.'श्रुतिविरोधापत्तेः' इति मु.पाठे नोपलभ्यते. २२."'बहु स्याम' इत्यात्रापि बहुत्वादेः अव्याकृतस्य 'स्याम' इत्यनेन" इति एतावान् अंशो ख-ग-घ पाठेषु उपलभ्यते मुद्रिते पाठे नोपलभ्यते. २३."अविद्याबलिष्ठाल्पबुद्धि" इति ख. २४."दुन्दुभिदृष्टान्तादीन् समुद्रादीन् नानादृष्टान्तान् न" इति मु.पा. गृहीतस्तु ख-ग-घ पाठानानुरोधात्.



।। अ व ता र वा दा व ल्यां ।।

पञ्चमः

।। सृष्टिभेदवादः ।।

(मङ्गलाचरणेन उपक्रमः)

यो लीलया किल गवामवनाय गोत्रं
हस्तेऽतिकोमलतमे कृपया दधार।।
यद्रूपमेतदखिलं यत आस यस्मात्
सद्वद् विभाति तमजं शरणं प्रपद्ये।।१।।

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकलमलेभ्यो नमः ।।

सृष्टिभेदप्रकाशिका

आनन्दात्मकमुत्तमं निजवपुर्लीलार्थमाविष्करो-
त्यानन्दांशनिगूहनेन हि पुनश्चिद्रूपजीवांशकान्।
सद्रूपाँस्त्रिगुणात्मकप्रकृतिजान् कांश्चित्पुनर्मायिकान्
यस्तं नैकविधं सदैकमजरं श्रीमद्व्रजेशं भजे।।

अथ प्रारिप्सितग्रन्थनाम्नैव उद्दिष्टस्य विषयस्य स्वरूपं निर्दिशन्तः प्रमाणं चापि सूचयन्तः आहुः **यो लीलया** इति. अत्र भगवल्लीलायाः तत्त्वार्थदीपनिबन्धीयशास्त्रार्थप्रकरणकारिकोक्ताः त्रयोऽपि पक्षाः संगृहीताः वेदितव्याः. तत्र आनन्दांशम् अतिरोभाव्य सच्चिदानन्दे ब्रह्मणि प्रकटिता "यः क्रीडति" इति प्रथमकल्पोक्ता क्रीडा **य** इत्यारभ्य **दधार** इत्यन्तेन भागेन सूचिता. द्वितीय-

प्रकारिका क्रीडातु **''यो जगद् भूत्वा क्रीडति''** इत्येवंरीतिका **यद्रूपम्''** इत्यारभ्य **यत आस** इत्यन्तेन अंशेन सूचिता, उपादेयभूतस्य जडजगतो अंशभूतानां च चिद्रूपजीवानां तावत् स्वोपादानेन स्वांशिना च ब्रह्मणा साकम् उपादेयोपादानभावात्मकस्य अंशांशिभावात्मकस्य च 'तादात्म्या'ख्यस्य सम्बन्धस्य अङ्गीकारात्. तेन ब्रह्मणो अभिन्ननिमित्तोपादानता उभयत्र. तत्र **यद्रूपम्** इत्यादिना अंशितोपादानते खलु अभिप्रेते **यतः** इत्यादिनातु निमित्ततापादानतेअपि इति विवेकः. क्रीडायाः तृतीयस्तु यः प्रकारो **''यतो जगत् क्रीडति''** इत्येवंरीतिकः सचेह **यस्मात् सद्वद् विभाति** इत्यंशेन सूचितः. अस्मिन् प्रकारे ब्रह्मणो न सदंशेन उपादानता नापि आनन्दांशेन. ननु चिदंशं विना भानासम्भवेन तेन अंशेन प्रतीयमाना उपादानता कुतो नाङ्गीक्रियते? तत्रैतद् रहस्यं : नेयं तावत् चिदंशस्य अनौपाधिकी उपादानता किमुत चिदंशधर्मभूतायाः व्यामोहकमायायाः इह उपाधित्ववशादेव. चिदंशे तद्देशकालयोः विद्यमानस्य सतो अभानं तत्र च अविद्यमानस्य अन्यस्य धर्मिणो वा अन्यथाभूतस्य धर्मस्य वापि भानमिति व्यामोहः. तदिदं द्विविधं व्यामोहनकार्यं, तद्देशकालयोः आविर्भूतस्य सद्वस्तुनः आच्छादनेन तदा-तत्र च अनाविर्भूतस्य आविर्भूततयेव प्रतिभासनेन च सिद्धयति. तस्माद् इयं सृष्टिः निरुपादानिकापि न निरधिष्ठानिकेति विवर्तरूपा 'आन्तरालिकी' इति उच्यते. इन्द्रियार्थयोः अन्तरालएव व्यामोहिकया मायया तस्याः उत्पादितत्वात्. तेन सुष्ठूक्तं **यस्माद्** अधिष्ठानभूतात् सदंशरूपब्रह्मणएव **सद्वद्** विवर्ते सत्तायाः मिथ्यानुगमो **विभाति** इति. एवं सृष्टित्रैविध्यनिरूपणेन तत्र उपनिषद्गीताब्रह्मसूत्रभागवताद्यात्मकं प्रमाणमपि सूचितं भवति. तथाहि उपनिषत्सु तावत् **''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म''** (तैत्ति.उप.२।१) **''स ब्रह्मा स शिवः स इन्द्रः सो अक्षरः परमः स्वराट्''** (महाना.उप.११।१३) **''एकः तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिः च...न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः''** (कठोप.२।१०-११) **''सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति... स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत...सच्च त्यच्च... विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवद्''** (तैत्ति.उप.२।६) **''...अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति''** (बृह.उप.२।१।२०) **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, स आत्मा, तत् त्वम् असि''**

(आरम्भवादेन आक्षेपोपक्रमः)

(न जगद् ब्रह्मरूपं स्याद् उत्पत्तेः प्राग् अभावतः ।।
परमाणुसमारब्धं कर्ता तस्येश्वरो यतः ।।२।।)

*ननु अस्य जगतो भगवद्रूपत्वम् अत्र यद् उक्तं तद् अनुपपन्नं,

(छान्दो.उप.६।८।७) इत्येवमादीनि वचनानि ब्रह्मणः क्रीडात्रैविध्यप्रतिपादकान्येव. भगवद्गीतायामपि **''पश्यामि देवान् तव देव! देहे सर्वान् तथा भूतविशेषसङ्घान् ब्रह्माणम् ईशं कमलासनस्थम् ऋषीन् च सर्वान् उरगान् च दिव्यान्''** (भग.गीता.११।-१५). तथैव ब्रह्मसूत्रेष्वपि **''जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्''** (ब्र.सू.१।१।२) **''भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः च एवम्''** (ब्र.सू.१।१।२५) **''अन्तर्याम्यधिदेवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्''** (ब्र.स.१।२।१८) **''वाक्यान्वयात्''** (ब्र.सू.१।४।१९) **''प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाद्''** (ब्र.सू.१।४।२३) **''आत्मकृतेः परिणामाद्''** (ब्र.सू.१।४।२६) **''मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येन अनव्यक्तस्वरूपत्वात्... पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो हि अस्य बन्धविपर्ययौ''** (ब्र.सू.३।२।३-५) इत्येवमादिसूत्राणां तात्पर्यपर्यालोचने हि क्रीडात्रैविध्यं तत्रापि निष्प्रत्यूहं सिद्ध्यति. श्रीमद्भागवतन्तु साकल्येन एतदेव प्रतिपादयितुं **''आभासश्च निरोधश्च यतश्च अध्यवसीयते स आश्रयं परं ब्रह्म परमात्मा इति शब्द्यते''** (भाग.पुरा.२।१०।७) **''यो अस्य उत्प्रेक्षकः आदिमध्यनिधने यो अव्यक्तजीवेश्वरो यः सृष्ट्वा इदम् अनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः यं सम्पद्य जहाति अजाम् अनुशयी सुप्तः कुलायं यथा तं कैवल्यनिरस्तयोनिम् अभयं ध्यायेद् अजस्रं हरिम्''** (भाग.पुरा.१०।८७।५०) इति आधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकाविद्यकानां सर्वेषामपि क्रीडार्थं परिगृहीतानां नामरूपकर्मणां भगवत्त्वं भगवदंशत्वं भगवदुपादानकत्वं वा क्वचिद् भगवदधिष्ठानकत्वं वा घण्टाघोषेण निरूपयति.

तस्यैतस्य श्रुत्यादिशास्त्रव्याख्यानरूपस्य खलु ब्रह्मवादस्य परमाण्वारम्भवादः प्रकृतिपरिणामवादो मायाविवर्तवादः च इति त्रयो वादाः श्रुतिप्रामाण्यवादिभिः एकदेशिभिः प्रतिपक्षतया पुरस्क्रियन्ते. यदृच्छावादः, प्रतीत्यसमुत्पादवादः, स्वभाववादः चेति ये बाह्यानां वादाः तेतु इह ग्रन्थकारैः उपेक्षिताएव, तैः श्रुतिप्रामाण्यानङ्गीकाराद् ब्रह्मणश्च श्रुत्यादिशब्दैकगम्यत्वात् च. **''द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीवएव**

कार्यद्रव्यत्वात्, सावयवत्वेन तदनुमानात्. नच भगवत्समवेतत्वेन तदुपपत्तिः,

---

च वासुदेवात्परो ब्रह्मन् नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः'' (भाग.पुरा.२।५।१४) इति भागवताद्युक्तदिशया ब्रह्मात्मकानां द्रव्याद्यन्यतमानान्तु अवान्तरकारणताभ्युपगमेऽपि न दोषः कश्चन. तेषु ब्रह्मवादप्रतिपक्षिषु तावद् आरम्भवादेन आदौ पूर्वपक्षम् उत्थापयन्ति ननु इत्यादिना. इह ''न जगद्...ईश्वरो यतः'' इति मद्योजिता कारिकापि पठनीया.

ननु कोऽयम् अपराधविशेषः परमाण्वारम्भवादस्य येन सएव प्रधानमल्लनिबर्हण-न्यायेन आदावेव निराक्रियते? तद्धेतुस्तु श्रीमद्भिः भाष्यकृद्भिरेव ''**सांख्यमतस्य वैदिकप्रत्यासन्नत्वात् केषाञ्चित् शिष्टानां परिग्रहोऽपि अस्ति. अणुमायाकारणवादास्तु सर्वथा न शिष्टैः परिगृह्यन्ते**'' (ब्र.सू.भा.२।१।१२) इति स्फुटीकृतएव. * ननु तथात्वे आरम्भवादविवर्तवादयोः मध्ये प्रकृतिपरिणामवादस्थापनस्य को हेतुः * इति चेद्, अत्र ब्रूमः स हेतुः विवर्तवादिभिः संक्षेपशारीरककृद्भिः ''**विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिः वेदान्तवादे परिणामवादो व्यवस्थिते अस्मिन् परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः**'' (संक्षे.शारी.२।६१) इति निरूपितो अस्ति. अत्र अयं विशेषः : आरम्भवादे कार्यकारणयोः आत्यन्तिको भेदः, कारणसामग्र्यां प्रागभावस्य अभ्युपेतत्वात् कार्यकारणयोः च मिथः तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाभावप्रतियोगिरूपत्वा-दपि. ततः प्रकृतिपरिणामवादे प्रकृतिविकाररूपाणां कार्याणां अनाविर्भावतिरोभावकाल-योः प्रकृतौ अव्यक्तसत्त्वोपगमात् विकृतिप्रकृत्योः च मिथः व्यक्तत्वाव्यक्तत्वरूपावस्था-भेदेऽपि तयोः आत्यन्तिकभेदानभ्युपगमात् च द्वितीयत्वम्. तथापि सांख्यानां प्रकृतिः नहि स्वतो विकृतिभावम् आपद्यते. परतः खलु पुरुषसांनिध्यादेव सा परिणमतइति प्रकृतिपुरुषयोः पुनः आत्यन्तिको भेदः तैः अङ्गीक्रियते. विवर्तवादिमतेतु प्रकृतिस्थानापन्नायाः मायायाः अविद्यायाः वा स्वाधिष्ठानेन ब्रह्मणा नात्यन्तिको भेदो नवा आत्यन्तिको अभेदोऽपि वा, तस्याः सदसद्विलक्षणत्वाङ्गीकारात्. ततः प्रकृतिपुरुषयोः आत्यन्तिकभेदनिरासके हि विवर्तवादे अविकृतस्यैव ब्रह्मणो अधिष्ठानत्वं मायायास्तु निखिलद्वैतरूपविकृत्युपादानत्वं किल अङ्गीकृतमिति तृतीयत्वम्. तदुपादानत्वमपि पुनः तद्वदेव सत्त्वासत्त्वाभ्याम् अनिर्वचनीयम् इतितु अन्या कथा. तत्रैवं सति ब्रह्मवादिनां वाल्लभानाम् अयम् अभिप्रायो यद् मा भूद् मायायाः

तत्समवेतत्वस्यैव असम्भवात्, प्रत्यक्षबाधात्. नच * सर्वस्य जगतः प्रत्यक्षाभावात् तद्बाधएव पराहतः * इति वाच्यम्, अनुमानेनापि बाधात्. ''*सर्वं जगत् स्वावयवसमवेतं कार्यद्रव्यत्वाद् घटवद्*'' इति प्रयोगात्. नच * स्वावयवसमवेतत्वेऽपि घटादीनां पार्थिवत्ववद् ब्रह्मसमवेतत्वं न दुर्घटम् * इति वाच्यम्, असम्भवात्, परमाणुष्वेव पर्यवसानात्.

(आरम्भवादोपपत्तयः)

तथाहि— ''*प्रपञ्चः स्वल्प-परिमाण-द्रव्यारब्धो, महत्त्वे सति कार्यद्रव्यत्वाद्, घटवद्*'' इति अनुमानेन सिद्धे स्वल्पपरिमाणद्रव्यारब्धत्वे तदवयवानामपि त्रसरेणुपर्यन्तानां तेनैव न्यायेन स्वल्प-परिमाण-द्रव्यारब्धत्व-सिद्धिः. तथा तदारम्भकानां द्व्यणुकानामपि महद्व्यारम्भकत्वेन स्वल्प-परिमाण-द्रव्यारब्धत्व-सिद्धिः. तदारम्भकास्तु परमाणवो अनारब्धाएव, तदारम्भ-साधक-न्यायाभावात्. सिद्धे एवं परमाणुजन्यत्वे जगत् सर्वं स्वस्वावयवेष्वेव समवैष्यति, न ब्रह्मणि.

(आरम्भवादीया सृष्टि-प्रक्रिया)

तस्य एषा प्रक्रिया — अनादौ संसारे जीवात्मनां भोग्यादृष्टेन द्वयोः परमाण्वोः क्रियया संयोगे सति द्व्यणुकम् उत्पद्यते. तस्य परमाणू समवायिकारणम्. तत्संयोगः असमवायिकारणम्. अदृष्टादि निमित्तकारणम्. ततः द्व्यणुकानां

उपादानत्वं मा भूच्च तस्याः सत्त्वासत्त्वाभ्याम् अनिवर्चनीयत्वमपि. भवतादेव खलु ''**सत्त्वेव, सोम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**'' (छान्दो.उप.६।२।३) इति श्रुतिसिद्धस्य इदमा निर्दिष्टस्य प्रपञ्चस्य स्वाविर्भावात् प्राक् सदेकरूपत्वं तस्यैव च पुनः **अद्वितीयस्य** प्रकृतिपरमाणुमायादृष्टकालाद्युपाधिरहितस्य अविकृतस्य स्वेच्छयैव बहुत्वेन परिणामइति अविकृतपरिणामवादः चरमः. सच ब्रह्मणि ब्रह्मात्मकस्य सर्वभवनसामर्थ्यस्य अङ्गीकारं विना न कथमपि निर्वहतीति मध्ये प्रकृतिपरिणामवादनिरासपूर्वकमेव मायाविवर्तवादनिर-सनमपि स्वारसिकीमेव क्रमोपात्तताम् आवहतीति अलम्.

त्रयाणां क्रियया संयोगे सति त्र्यणुकम् उत्पद्यते. तस्य द्व्यणुकानि समवायिकारणं शेषं पूर्ववत्. एवं त्र्यणुकैः चतुरणुकं, ततः स्थूलं, तैः स्थूलतरं, तैः स्थूलतमम्. एवं क्रमेण महती पृथिवी, महत्यः आपः, महत् तेजः, महान् च वायुः उत्पद्यते. नच परमाणूनां ब्रह्मांशत्वमपि शक्यवचनं, व्यापकत्वव्याकोपात्, ''निष्कलं...' (श्वेता.उप.६।१९) श्रुतिविरोधात् च. कार्यगतरूपादयस्तु समवायिकारणगतेभ्यो रूपादिभ्यो जायन्ते. ''*कारणगुणाः हि कार्यगुणान् आरभन्ते*'' इति न्यायात्. आकाशादयस्तु असमवेताएव, तदारम्भकावयवानाम् अशक्यवचनत्वेन तदुत्पत्तेरपि तथात्वात्. अतः कालदृष्टान्तेनापि न सांशत्वसिद्धिः. ''**सर्वे निमेषा जज्ञिरे**'' (महाना.उप.१।८) इत्यादिश्रुतिस्तु उपाधौ पर्यवस्यन्ती उपचरितार्थैव. किञ्च द्रव्यारम्भकत्वं स्पर्शवत्त्वेन मूर्तत्वेनापि केचिद् आहुः, ब्रह्मणितु न उभयमिति, अनारम्भकत्वाद् उपादानत्वमपि तत्र अशक्यवचनम्. अतः जगत्स्वरूपविचारे ब्रह्मस्वरूपविचारे च न कथमपि जगतो भगवद्रूपत्वम्. एवञ्च कार्यस्थितिरपि स्वस्वावयवेष्वेव. तेषामेव तत्तत्प्रागभावाधिकरणत्वात्(पा.भे.१). अतएव तत्तद्घटादिकं प्रति तत्तत्कपालत्वादिना विशिष्टकार्यकारणभावोऽपि युज्यते.

(आरम्भवादीया प्रलयप्रक्रिया)

प्रलयेतु प्रागभावदशायामिव कार्यस्य असत्त्वमेव. प्रलयोऽपि, भोग्यादृष्टोपरमे, सञ्जिहीर्षोः ईश्वरस्य सञ्जिहीर्षया, परमाणुषु विभाजिकयाक्रियया विभागात्, संयोगे नष्टे, द्व्यणुकनाशात्, तन्नाशे च त्र्यणुकादिनाशक्रमेण, पृथिव्यादिनाशात्.

(तत्र श्रुतिसमन्वयप्रकारः)

''इदं सर्वं यदयमात्मा'' (बृह.उप.२।४।६) इत्यादयः श्रुतयस्तु अयोग्यत्वाद् अबोधिकाः सत्यः, ईश्वरस्य जगद्विष्टम्भकत्वेन आत्मविष्टभ्यपुरुष-देहवद्, अस्मिन् जगति आत्मत्वं; ब्रह्मणि देहावष्टम्भकात्मवत् सर्वत्वं वा उपचरन्ति. ''तस्माद्वा एतस्माद्'' (तैत्ति.उप.२।१।५) इत्यादयोऽपि तथा.

तस्मात् न अस्य भगवद्रूपत्वं मुख्यवृत्त्या शक्यवचनम्. नापि भगवदुपादानकत्वम्. अतएवच न सद्वद् अवभास्यत्वमपि. ईश्वरजन्यत्वन्तु स्यात्. *जन्यकृत्यजन्यं(पा.भे.२) क्षित्यादिकं सकर्तृकं नवा? * इति सन्देहे, ''*तथाभूतं क्षित्यादि सकर्तृकं जन्यत्वात्, यद्यद् जन्यं तत्तत् सकर्तृकं यथा घटः, सकर्तृकत्वव्याप्य-जन्यत्ववत् च इदम्, तस्मात् सकर्तृकम्*'' इति अनुमानसिद्धत्वात्. नच *''*तथाभूतं क्षित्यादिकं न सकर्तृकं शरीराजन्यत्वाद्, यद्यत् शरीराजन्यं तत्तत् न सकर्तृकं, यथा गगनं, प्रत्यग्रजायमानाङ्कुरादिकं वा, शरीराजन्यं च क्षित्यादि, तस्मात् न सकर्तृकम्*'' इति प्रतिपक्षसद्भावात् पूर्वोक्तम् अयुक्तम् * इति शङ्कनीयं, जन्यत्वेन कर्तृजन्यत्वेन(पा.भे.३) यः कार्यकारणभावः तस्य, श्रुतीनां च, अनुकूलतर्कत्वेन अङ्कुरादावपि तथात्वेन दोषाभावाद्, जन्यत्वादेव च गगनदृष्टान्तेन प्रतिपक्षानुत्थानात्, सिद्धेच एवं कर्तृजन्यत्वेन तदुपादानगोचरापरोक्ष-ज्ञानचिकीर्षा-कृतिमान् ईश्वरएवेति तन्निमित्तकत्वमात्रं साधीयः * इति कणभक्षाक्षचरणानुयायिनो वदन्ति.

(ब्रह्मवादिना आरम्भवादनिरासाय परमाणुलक्षणनिरसनम्)

(महत्त्वणवारब्धतासिद्धिः सतोऽभावनिवारणात्॥
ब्रह्मोपादानकत्वाद्धि ब्रह्मरूपं सदेव तत्॥३॥)

तत्र उच्यते — भवेद् एतद् एवं, चेत् परमाणुषु कारणत्वं सम्भवति, तदेवतु न सम्भवति.

तथाहि — ''*भौतिकत्वे सति नित्यो गतिमान् परमाणुः*'' इतिहि परमाणुलक्षणम्. तत्र किं नाम भौतिकत्वम्? नच भूतसम्बन्धित्वं तत्,

---

आरम्भवादनिरासिकायाः उत्तरपक्षसंग्रहकारिकायाः मूले अनुपलम्भाद् मया अत्र योजिता. इह आलोच्ये परमाणुलक्षणे 'भौतिकत्वं'तु ''पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाश-मिति भूतानि'' (गौ.न्या.सू.१।१।१३) इति सूत्रसिद्धम्. तेषु भूतचतुष्टयाणूनां गतिशीलत्वन्तु उदयनाचार्यैः न्यायकुसुमाञ्जलौ ''**तमिमम् अर्थम् आगमः संवदति विसंवदतितु परेषां विचारं** 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् सं

सर्गादौ तदितरस्य पृथिव्यादिभूतस्य अभावेन लक्षणासम्भवात्. आकाशम् आदाय समर्थने मनसि अतिव्याप्तेः. सर्गाद्यनङ्गीकारे परमाणूनामेव असम्भवेन सिद्धान्तभङ्गात् च. नच भूतसमवायित्वं तत्, सर्गादौ तदितरभूताभावेन असम्भवग्रासस्य उक्तत्वात्. योग्यताम् आदाय लक्षणसमर्थने भवतु वा तथा, तथापि पुराणेषु योगशास्त्रे च मानससृष्टेः स्मरणात् मनसोऽपि तथात्वेन तत्र अतिव्याप्तेः दुर्वारत्वात्. इष्टापत्तौ परमाणूनां पञ्चविधत्वापत्तेः. पूर्ववत् मनसोऽपि सावयवत्वापत्तौ तस्यापि नित्यत्वभङ्गात् च, अन्यथा तद्विरोधाद्, इष्टापत्तौ शब्दप्रामाण्यत्यागेन सिद्धान्तभङ्गापत्तेः च इति उभयतःपाशारज्जुः.

बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः द्यावाभूमी जनयन् देव एकः'... **परमाणुरूपप्रधानाधिष्ठेयत्वम्. तेहि गतिशीलत्वात् 'पतत्र'व्यपदेशाः, पतन्तीति. 'संधमति'-'संजनयन्' इति च व्यवहितोपसर्गसम्बन्धः. तेन संयोजयति समुत्पादयन् इति अर्थः''** (न्या.कु.स्त.५) इत्यत्र अङ्गीकृतमेवेति. **सर्गादौ तदितरस्य** इति, भूतसम्बन्धितया हि भौतिकत्वे अभिप्रेते परमाणुद्वयसंयोगोत्तरकालीनो हि सर्गः इति अभ्युपगमेन, सम्बन्धस्य च द्विनिष्ठत्वेनापि स्वेतरपरमाणुरूपेण भूतेन साकं सर्गादौ सम्बन्धाभावेनैव भूतसम्बन्धस्य वक्तुम् अशक्यत्वेन निखिलभूतचतुष्टयाणुषु लक्षणासम्भवएव. ननु सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगिरूपस्य विभोः आकाशस्य अजन्यत्वेन सर्गादावपि सत्त्वेन तत्सम्बन्धितया भौतिकत्वं कुतो नोपपद्येत? इति चेत् न, आकाशस्य विभुत्वेन सकलमूर्तद्रव्यसंयुक्ततया मनसापि संयुक्तत्वेन मनसश्च भौतिकत्वानभ्युपगमादेव तत्र लक्षणातिव्याप्तिः. ननु भूतत्वन्तु बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वं वा आत्मावृत्तिविशेषगुणवत्त्वं वेति तादृग्गुणात्यन्ताभावानधिकरणत्वरूपमेव भौतिकत्वं भवतु का हानिः इति चेत् न, त्र्यणुकारब्धद्रव्येषु बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वेऽपि परमाणुषु तदनभ्युपगमादेव. ननु उक्तमेव आत्मावृत्तिविशेषगुणात्यन्ताभावानधिकरणत्वमपि इति चेत् न, तस्यापि मनसि अतिव्याप्तत्वेन दोषतादवस्थ्यात्. तद् आहुः ''योग्यताम् आदाय लक्षणसमर्थने'' इत्यादिना ''मनसोऽपि तथात्वेन तथा'' इत्यन्तेन भागेन. ''तथात्वेन तथा'' इति कारणत्वेन दोषतादवस्थ्यम् इति अर्थः. इह 'पुराणेषु' **''ब्रह्मा लोकपितामहः प्रजा ससर्ज... दैहिकीः मानसीः''** (भाग.पुरा.३।१०।१) इत्येवमादिवचेनषु. * ननु परमाणुभ्यः कार्योत्पत्त्यनङ्गीकारे भवदभ्युपगता मानसप्रजासृष्टिरपि बाधिता स्याद्, मनसोऽपि परमाणुत्वाभ्युपगमाद् * इति चेत् न, मानसी

अथ कणादस्मृतिश्रद्धाजाड्याद् अस्तु वा यत्किमपि लक्षणं, तथापि द्व्यणुकवद् मध्यमपरिमाणद्रव्यारम्भकत्वेन तेषामपि आरब्धत्वम् अनिवार्यमेवेति नित्यत्वं दुर्वचमेव. नच यत्र विश्रान्तिः सएव परमाणुः, सिद्धान्तभङ्गापत्तेः. अनवस्थाभयात् तदादरणे ततएव आरम्भवादत्यागस्य औचित्यात् च.

सृष्टिर्हि चिन्तामण्यादिभ्यइव सामर्थ्यविशेषादेव नतु सजातीयमनःसंयोगेनेति.

* ननु किमनेन लक्षणविमर्शनायासेन यावता न्यायमञ्जरीकृद्वचनं जागरूकम् अवतिष्ठते! तथाहि ते खलु आहुः **''त्रयी हि गतिः अस्य घटादेः कार्यस्य [१]निरवयवत्वमेव वा [२]अवयवानन्त्यमेव वा [३]परमाण्वन्तता वा. तत्र [१]निरवयवत्वम् अनुपपन्नम्, अवयवानां—पटे तन्तूनां घटे च कपालानां—प्रत्यक्षम् उपलम्भात्. [२]अनन्तावयवयोगित्वमपि न युक्तं, मेरुसर्षपयोः अनन्तावयवयोगित्वाविशेषेण तुल्यपरिमाणत्वप्रसङ्गात्. तस्मात् [३]परमाण्वन्ततैव हि युक्तिमती''** (न्या.मं.आ.८) * इति. तदिदम् असाम्प्रतं यतोहि यथैव युक्तिः तथैव श्रुतिरपि इह जागर्ति! तथाहि **''यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरो... यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं, यः सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति''** (बृह.उप.३।७।१५) **''यस्माद् न अणीयो न ज्यायो अस्ति कश्चित्...अणोः अणीयान्''** (श्वेता.उप.३।९-२०) इति. तस्मात् परमाणोरपि अणीयस्त्वएव ब्रह्मणः तदन्तर्वर्तित्वे सति तन्नियामकत्वम् उपपद्यते नच अन्यथा. नच * कुसुमाञ्जलिकारैरपि अन्तःस्थितिस्वरूपमेव **''आवेशो ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नवतः संयोगः''** (न्या.कु.स्त.५) इति व्याख्यातमेव * इति वाच्यं, कण्ठोक्तश्रुतायाः सर्वान्तःस्थितेः अपलापापत्तेः. एतेन परमाण्वन्तःस्थितिरपि अङ्गीकार्यैव. ननु यदि परमात्मा परमाणुषु अभ्यन्तरे तिष्ठति चेत् तिष्ठतु नाम किम् एतावता? अत्र ब्रूमः तिसृणां गतीनां मध्ये द्वयोः गत्योः अन्यथैवोपपत्तेः अन्यथानुपपत्तिः हि अपगच्छति. तथाहि प्रथमन्तु तावद् यद् न्यायभाष्यकारैः प्रतिपादितं **''यतश्च न अल्पीयो अस्ति तं परमाणुं प्रचक्ष्महे''** (न्या.भा.४।२।१६) इति तदेव तावत् श्रुत्या सामञ्जस्यं न आवहति. तथैव **''जालसूर्यमरीचिस्थं यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः''** इत्यपि न सम्भवदुक्तिकं, यस्माद् **''बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः''** (श्वेता.उप.५।९) इति वचनोक्तजीवात्मपरिमाणपर्यालोचनेतु तादृग्रजःषष्ठांश-

किञ्च कार्यस्य शरीरादेः पाञ्चभौतिकत्वेन जलादयः संयुक्ताअपि भवन्तीति पञ्चत्वदशायां तेऽपि पृथग्भूताः परमाणुत्वम् आपद्येरन् तथा सति मृतकादिः[पा.भे.४] न दृश्येत. अतः परमाणुकारणवादः प्रत्यक्षविरुद्धः. किञ्च द्रव्यारम्भकत्वमपि न रूपवत्त्वेन, वायुपरमाणुषु व्यभिचारात्. नापि मूर्तत्वेन मनसि व्यभिचारात्. किन्तु स्पर्शवत्त्वेन इति भवतां मतम्. तदापि मनसि व्यभिचारो दुर्वारः, संयोगस्य मनसि अङ्गीकारात्, तस्य च स्पर्शानतिरेकात्.

भागाद् नूनम् अणीयसो जीवस्य अल्पतरं हि परिमाणं सिद्ध्यति. ततश्च "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानम् अन्तरो यमयति" (श.प.१४।५।३०) इति श्रुत्युक्तरीत्या परमात्मनस्तु ततोऽपि अल्पतमत्वं निष्प्रत्यूहम्. तस्मात् समानसंख्याकैः चणककणैः तण्डुलकणैः च निर्मितयोः संघातयोः यथा न समाने परिमाणे तथा अनन्तसंख्याकैरपि तथा. ततो मेरुसर्षपयोरपि असंख्याकाअपि अवयवाः भवेयुः, भवन्तु तेच न्यूनाधिकपरिमाणवन्तो येन आनन्त्येऽपि तुल्यपरिमाणप्रसङ्गो न भवेदेव. तस्माद् न युक्तिमती परमाण्वन्तता इति श्रौतसिद्धान्तपर्यालोचनेन सिद्ध्यत्येव.

तदेतत् प्रतिपादयन्ति "अथ कणादस्मृतिश्रद्धाजाड्याद् अस्तु वा यत्किमपि लक्षणम्" इत्यनेन. अत्र एतद् वेदान्तशास्त्ररहस्यं वेदितव्यं यद् अस्मिन् तन्त्रे न परमाणुपरिमाणाङ्गीकारे कश्चन विरोधः. तथापि अब्रह्मात्मकानां नित्यानां भौतिकपरमाणूनामेव जगदारम्भकत्वं जगतः च स्वोत्पत्तेः प्राग् असत्त्वं उत्पत्त्यनन्तरं च स्वसमवायिकारणाद् ऐकान्त्येन भिन्नत्वन्तु नैव अङ्गीक्रियते. "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म... तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः...वायुः... अग्निः... आपः... पृथिवी...पुरुषः" — "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" — "ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्" (तैत्ति.उप.२।१ — छान्दो.उप.३।१४।१-६।८।७) इत्याद्यनेकश्रुतिभ्यो जगतः कण्ठतो निरूपितायाः ब्रह्मोपादानकतायाः ब्रह्मात्मकतायाः च परमाण्वारम्भवादे अन्यथाव्याख्यानाद् सएव वादो अप्रामाणिकः इति मन्यते. तस्माद् अनुपदमेव न्यायवैशेषिकाभ्युपगतपरमाणुलक्षणसदृशं श्रीमद्भागवतानुसारि परमाणुलक्षणमपि प्रतिपादयन्त्येव विधान्तरेण. "किञ्च द्रव्यारम्भकत्वमपि...वायुपरमाणुषु व्यभिचाराद्" इति, वायौ द्रव्यारम्भकत्वे अभ्युपगतेऽपि रूपवत्त्वाभावदर्शनात् कार्यकारणभावभङ्गः इति अर्थः. तेन इह अनैकान्तिकत्वरूपो हेतुदोषो न उट्टङ्कनीयः.

लोके स्मृतौ च संयुक्तएव स्पृष्टव्यवहारदर्शनात्. शब्देच तथा हृदयावच्छेदेन महा-गुली-यन्त्र[पा.भे.५]-शब्द-जन्य-स्पर्शस्य अनुभवाद् इति अन्यत्र विस्तरः. अतः स्पर्शवत्त्वेन आरम्भकत्वमपि तथा.

(ब्रह्मवादानुसारेण परमाणुलक्षणोपपादनम्)

नच परमाणुलक्षणासम्भवः, 'सद्विशेषचरमत्व'स्य तल्लक्षणस्य सत्त्वात्. विभाजकाघातासहिष्णुत्वस्य चरमपदार्थत्वात्. नच *अत्र मानाभावः, "चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा परमाणुः स विज्ञेयो नृणाम् ऐक्यभ्रमो यतः" (भाग.पुरा.३।११।१) इति तृतीयस्कन्धवाक्यस्यैव मानत्वात्. अतएव न तत्संयोगाद् द्रव्योत्पत्त्यङ्गीकारः. दूषणान्तरस्य तर्कपादे[पा.भे.६] (ब्र.सू.भा.२।२।-११-१७) उपपादनात् च.

इह श्रीमद्भागवततृतीयस्कन्धीययोः द्वयोः कारिकयोः श्रीमदाचार्यचरणविवक्षिताभिप्रायस्फुटीकरणार्थं सुबोधिनीव्याख्यातांशः ततः उद्धृत्य विलिख्यते :

चरमः सद्विशेषाणाम् अनेको असंयुतः सदा।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणाम् ऐक्यभ्रमो यतः।।
सतएव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत्।
कैवल्यं परममहान् अविशेषो निरन्तरः।।

'चरम'इति, 'सतः'=कार्यस्य घटादेः 'विशेषाणाम्'=अवयवानां मध्ये यः 'चरमः'=यस्य पुनः अवयवो नास्ति अतिसूक्ष्मत्वाद् विभाजकाघातं न सहते स चरमः. सोऽपि सजातीयैः समुदायावस्थां न प्राप्तः तद् आह 'अनेकः' इति. कार्यावस्थां च न प्राप्तो 'असंयुतः' इति. 'सदा' इति कदाचित् संयोगं प्राप्तो भवत्येवेति लक्षणम् असम्भव्येव स्यात्. 'अनेक'त्वञ्च न एकसंख्याभावः, यत्र तिष्ठति तत्र सजातीयाः बहवएव तिष्ठन्तीति अनेकत्वम्. भौतिके सति नित्यो गतिमान् परमाणुरिति परमाणुलक्षणे क्रियमाणे परमाणुभ्यः कार्योत्पत्तिः इति मतं स्यात्. सिद्धान्तेतु स्थूलादेव सूक्ष्मोत्पत्तिः स्वसमानावयवस्थूलांशः कार्यजनकइति. यद् अनेकावयवैः योजनं पटादौ तत्कार्पासादेः स्थूलस्यैव दीर्घावस्थां प्राप्तस्य

आकृतिविशेषसम्पादानार्थं खण्डशो योजनं समुदायस्यैव च उपादानत्वम्. एवं कुण्डलप्रतिमावपि तावत् समुदायस्यैव उपादानत्वम् अन्यथा अनेककार्यं स्यात्. एकस्य एकमेव उपादानम् इति निश्चयः. कार्यस्य पाञ्चभौतिकत्वाद् जलादयः संयुक्ता भवन्तीति तेऽपि ततः पृथग्भूताः परमाणुत्वम् आपद्येरन्. भगवांश्च सर्वत्र उपादानमिति चरमत्वं च तस्य उपपद्यतइति तद्व्यावृत्त्यर्थम् 'अनेकः' इति, सतु एकएव. असम्भवव्यावृत्त्यर्थमेव 'सदा'. परमाणुः 'विज्ञेयः'=विशेषेण तत्र ज्ञानमपि विधीयते, कुयुक्त्या सो अन्यथा न मन्तव्यः इति अर्थः. तस्य परमाणोः स्वरूपम् उक्त्वा कार्यम् आह 'नृणाम् ऐक्यभ्रमो यतः' इति, 'नृणां'=जीवानां यैः परमाणुभिः कृत्वा आत्मना सह देहैक्यस्य भ्रमो भवति. ऐक्यभ्रमहेतवः परमाणवएव, तेहि अतिसूक्ष्माः धर्माधर्माभ्यां संस्कृताः जीवे सम्बध्यन्ते तदा देहभावम् आपद्यन्ते. अतएव ते दुष्टाः कालस्य उपाधिभूताः, तत्सम्बन्धे जीवस्य नाशएव. अतएव तेषां भ्रमजनकत्वम्. पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्तिपक्षम् आश्रित्य भ्रमात् केचिद् आहुः तत् सोढव्यम्. एतदर्थमेव कालावयवत्वेन निरूपणमिति 'भ्रम'पदप्रयोगः. मनस्तु परमाणुपरिमाणमेव नतु परमाणुः. परमाणवस्तु चतुर्विधाएव अन्यथा पञ्चविधाः परमाणवः स्युः कार्यं च ततः स्यात् परमाणुत्वात्. अतो नित्यगतिमत्त्वं न लक्षणं 'तद् एजति तद् नैजति' इति श्रुत्या नित्यो भगवान् परमाणुः स्यात्. भौतिकत्वञ्च तेषां साधनीयम्. स्मृतिश्च श्रुत्या बाधितेति वैशेषिकादीनां लक्षणं बाधितमेव. प्रकृतेच अनुपयोगः. एवं परमाणुलक्षणम् उक्त्वा परमहतो लक्षणम् आह 'सतएव' इति, 'सतः'=कार्यमात्रस्य सम्पूर्णस्य ब्रह्माण्डस्य 'स्वरूपावस्थितस्य' नतु प्राकट्येन अवस्थितस्य 'कैवल्यम्'=एकता, तत् 'परममहान्' इति लक्ष्यम्. 'पृथिवीमात्रं परममहान्' इति पक्षं निषेधति 'अविशेषः' इति, नास्ति अयं 'पृथिवी/जलम्' इति वा विशेषो, विशेषबुद्ध्यविषयः. 'निरन्तरो'=भेदशून्यः च. 'सतएव' इति स्वाप्निकव्युदासः. 'पदार्थस्य' इति वेदव्युदासः. 'स्वरूपावस्थितः' इति कार्यव्युदासः. ब्रह्माण्डस्थितो भगवान् परममहान् इति उक्तं भवति. सर्वोऽपि पदार्थः सर्वत्र नैकबुद्ध्यारूढो

(षड्भावविकाराणां स्वरूप(१-६)विचारेण कार्यस्य द्रव्यान्तरतानिरसनम्)

(१-२)तर्हि कुतः कथं च उत्पत्तिः ? स्थूलादेव कारणाद् विभागेन उत्पत्तिः इति वदामः, श्रुतिपुराणादौ तथैव दर्शनात्. नच अनुगत-कार्य-कारण-भाव-विरहो, जन्यद्रव्यत्वेन स्व(पा.भे.७) योग्यावयव-वस्थूलांशत्वेन कारणतानुगमात् :—

(क)नच **पटादौ सूक्ष्मैरेव तन्तुभिः स्थूलस्य कार्यस्य दर्शनाद् व्याभिचारः** शङ्क्यः. तत्रापि समुदायस्यैव उपादानत्वेन तं छित्त्वा यन्त्रात् पटः उद्ध्रियतइति तत्रापि स्थूलादेव सूक्ष्मस्य समानस्य वा उत्पत्तेः तदभावात्.

(ख)एवं सूत्रादावपि कार्पासादेः स्थूलस्यैव दीर्घावस्थाप्राप्त्यर्थं, ततः आकृतिविशेषसम्पादनार्थं च खण्डशो अवयवयोजने तत्सङ्घाः(पा.भे.८) ज्ञेयाः. तेच अवयवाः स्थूलादेव कार्पासादेः विभज्य ततः संयुज्यन्ते.

(ग)तथैव कुण्डलप्रतिमादावपि सुवर्णमण्यादिसमुदायस्यैव कारणत्वम्.

(घ)यत्र पुनः लोहदारुदन्तनिर्यासादिभिः पर्यायेण अवयवयोजनं मञ्जूषादौ; गृहादौ च इष्टकादिभिः तत्रापि तत्तदवयवसमुदायाद् अवान्तरावयव्युत्पत्तिः तत्समुदायात् च महावयव्युत्पत्तिः इति पटन्यायएव.

(ङ)एवमेव कञ्चुकादयो विज्ञेयाः.

विशेषकल्पनाशून्यो प्रमात्रपेक्षभेदशून्योऽपि, यावान् सूर्येण प्रकाश्यते स सर्वो मिलितः परममहान्(सुबो.३।११।१-२).

एतेन सिद्ध्यति यत् स्वेभ्यो अणीयसोऽपि परममहतो भगवतः सच्चिदानन्दरूपस्य परब्रह्मणएव भौतिकपरमाणवोऽपि क्वाचन सूक्ष्मावस्था यतो अधिका सूक्ष्मावस्था सदंशभूते भौतिकरूपे न सम्भवति. नचैतावता अभौतिकेऽपि तद् न सम्भवतीति भ्रमितव्यम्. उपपादितञ्च ततोऽपि सूक्ष्मतरौ मनोजीवात्मानौ इति. भगवांस्तु ततोऽपि सूक्ष्मतमो भवत्येव इति च. इह विशेषजिज्ञासायां सुबोधिनीप्रकाशो अवलोकनीयः.

(च)यत्रतु घटादिभङ्गेन दन्तशृंगादीनां तक्षणेन वा पात्रीचषकादीनाम् उत्पत्तिः, तत्र विभागएव व्यापारो निमित्तस्य, उपादानन्तु संश्लिष्टावयवसमाजएव.

(छ)एवञ्च गर्भादिष्वपि बीजरजःसमुदायस्यैव उपादानता मान्धात्रादावपि पुंसवननीरादिकमेव रजःस्थानीयमिति अदोषः.

(ज)एतेन अण्डजोद्भिज्जाअपि व्याख्याताः.

(झ)स्वेदजास्तु स्थूलादेव स्वेदाद् उत्पद्यन्ते. अतएव प्रथमं सूक्ष्मत्वम्.

(३-४)वृद्धिरपि सजातीयसंवलनात्मिका स्थूलादेव. अतएव आहारे परिणते तत्तद्योग्यावयव-समुदायादेव तद्धातूत्पत्तिः. श्रुतिश्च ''अन्नम् अशितं त्रेधा भवति'' (छान्दो.उप.६।५।१) इत्यादिः. वृद्धम् अपक्षीणं च न द्रव्यान्तरं, तत्त्वेन अप्रत्ययात्, प्रत्यभिज्ञानुपपत्तेः च, पातिव्रत्यादि-हान्यापत्तेः च.

(५)विपरिणतन्तु दध्यादि, दुग्धान्तञ्च (दुग्धादि-दध्यन्तं च!), न समुदायजमिति द्रव्यान्तरमेव. तथैव पुत्रादिरपि. रजतादियोगजे दध्नितु रजतादिकं निमित्तमेव. तत्रापि कारणतौल्यमेव, नतु सूक्ष्माद् उत्पत्तिरिति न दोषः.

समुदायस्तु न द्रव्यान्तरं तथात्वेन प्रत्ययाभावात्. अतः एकस्य एकमेव उपादानम् इति निश्चयो; अन्यथा, अनेकं कार्यं स्यात् , कारणगुणानामेव कार्यगुणजनकत्वेन कारणगतैकत्वे प्रत्येकम् एकत्वारम्भेण अनेकैकत्वानां शक्यवचनत्वाद्, अनारम्भे हेत्वभावाद्, अन्यथा द्वित्वादेरपि अनुत्पत्तिप्रसङ्गात्. नच *अत्र पुञ्जात् पुञ्जोत्पत्तिः इति भ्रमितव्यं, सामुदायिकस्य पुञ्जरूपत्वाभावात्.

(६)*ननु स्थूलात् सूक्ष्मोत्पत्तौ विभागाद् उत्पत्तिः इति नाशः कुतः स्याद्?* इति चेत्, संयोगाद् इति वदामः. पाकजप्रक्रियायां तेजःसंयोगेनैव द्व्यणुकादिनाशस्य भवतापि अङ्गीकारात्. मुद्गर-खड्गादि-संयोगेन घटशरीरादिनाशस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् च.

वस्तुतस्तु प्रथमम् अन्तिमं च कार्यं विभागात्, ''असतः सद् ये ततक्षुः'' (तैत्ति.आर.१।११।१) इति श्रुतेः, विभाजकाघातासहिष्णोः परमाणुत्वात् च. अवान्तरन्तु यथासम्भवम् उभाभ्याम् उत्पद्यते, नश्यति च. अतएव जलसंयोगाद् वह्निनाशः, कपालविभागाद् घटनाशः, तक्षणाद् दन्तचषकाद्युत्पत्तिः, तन्तुसंयोगात् च पटस्य, इति न कोऽपि क्वापि शङ्कालेशः. तस्मात् न परमाणुकारणवादः साधीयान्.

(अथ आरम्भवादनिरासः)

तथैव आरम्भवादोऽपि, असतः सत्तापादकत्वात्. नच *सा न दुष्टा इति वाच्यं, कार्यस्य अनियतावधिकत्वप्रसङ्गात्.

तथाहि — यदि घटादिकं पूर्वम् असदेव पश्चात् कारणेन आरभ्यते तदा प्रागभावदशायां तस्य शशशृंगादितुल्यत्वाद् उत्पत्तिरेव न स्यात्. यतः कुतश्चन वा उत्पद्येत. वटबीजाद् इक्षवोऽपि उत्पद्येरन्. नच *गोमयाद् वृश्चिकोत्पत्तिदर्शनाद् अदोषः* इति वाच्यम्, अतिप्रसङ्गापत्त्या पाषाणादौ अनुद्भूतगन्धादेरिव गोमयादौ वृश्चिकादेः अनुद्भूतसत्तायाः आवश्यकत्वात्. अन्यथा मयूरादेरपि उत्पत्त्यापत्तेः. नच *उपादाननिष्ठस्य कार्यप्रागभावस्य तन्नियामकत्वात् न तदावश्यकत्वम्* इति वाच्यं, कार्योत्पत्त्यनुकूलया कारणावस्थयैव नियमसम्भवे तदतिरिक्तप्रागभावसत्तायामेव मानाभावात्. नच *''इह कपाले घटो नास्ति'' इति प्रतीतिरेव तत्र मानम्* इति वाच्यं, तस्याः घटत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाव-विषयतया घटसंसर्गाभावसामान्यत्वेन प्राग-भावात्मक-विशेषानवगाहित्वात्. नापि ''इह कपाले घटप्रागभावः'' इति प्रतीतिः तत्र मानं तस्याएव अभावात्. तथा आग्रहेऽपि असार्वजनीनत्वेन प्रतिवाद्यनादरणीयत्वात्.

''असतः सद् ये...''इति श्रुतौ 'असच्'छब्देन जगत्कारणम् अव्यक्तावस्थापन्नम् उच्यते. 'सच्'छब्देन व्यक्तदशापन्नं जगद् उच्यते. यैःइति ब्रह्मणः मानसपुत्ररूपैः मरीचिवशिष्ठप्रमुखैः सप्तर्षिभिः इति अर्थः. तदेतद् उक्तं सायणभाष्ये (तैत्ति.आर.साय.भा.१।११।१) अस्याः श्रुतेः व्याख्याने.

किञ्च उक्तप्रतीत्या आपाद्यमानः प्रागभावः किं घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकः एकः; उत, तत्तद्घटप्रतियोगिको नैकः ? न आद्यः, सर्वेषु घटोपादानेषु तत्सत्त्वात् सर्वेभ्यः कपालेभ्यः सर्वघटोत्पत्त्या नियमभङ्गापत्तेः. न द्वितीयो, अभावज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधीनतया तदानीं प्रतियोगिज्ञानाभावेन तत्प्रतीत्यनुदयापत्तेः. नच *घटत्वेन रूपेण प्रतियोगिज्ञानसत्त्वात् तदुदयो निर्बाधः* इति वाच्यं, तथा सति इह *घटत्वावच्छिन्नप्रागभावः** इति तस्याः आकारात् प्रागभावस्यापि सामान्यत्वापत्त्या पूर्वविकल्पीयदूषणापत्तेः. अतः तद्ग्राहकमानाभावात् सामयिकात्यन्ताभावेनापि प्रतीतिनिर्वाहात् च न तत्सिद्धिः.

(एकस्यैव कार्यकारणरूपावस्थाभेदे शङ्कासमाधाने)

ननु कारणावस्थयापि न नियमसिद्धिः. तथाहि कारणावस्था, नाम, कारणस्य फलोपधानदशा. तथाच येभ्यः कारणेभ्यः यत् कार्यम् उत्पद्यते तत् कार्यं प्रति तेषां यदि कारणत्वेन फलोपधानं तदा वटबीजादपि इक्षूत्पत्तिप्रसङ्गः. यदिच कारणविशेषरूपेण कपालत्वादिना तथात्वं, तदापि एतेभ्यः कपालेभ्यः एतद्घटोत्पत्तिनियमासम्भवः, तज्जातीयं प्रति तस्यापि सामान्यत्वात्. अथ एतत्कपालत्वादिना तथात्वं, तदा विनिगमनाविरहः, बहुकपालजन्यं घटं प्रति तावत्सु तथात्वं कल्पनीयमिति गौरवग्रासः चेति न तथापि(पा.भे.९) इति चेत् मैवं, सत्कार्यवादे कार्यस्य कारणे सतएव ततो अभिव्यक्तेः यत्र यत्कार्यसत्ता ततएव तदुत्पत्तिरिति सुखेनैव नियमसम्भवात्. नच *बहुकपालजन्ये घटादौ गौरवग्रासः, समुदायस्यैव तत्र कारणत्वात्. एकस्य एकमेव कारणम् इति प्रागेव उक्तत्वात्.

(प्रागभावनिरासाय शङ्कासमाधाने)

नच *प्रागभावानङ्गीकारे उत्पन्नस्य पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः, कार्ये स्थितावपि कारणावस्थायां सत्त्वाद्* इति वाच्यं, कालोपाधीनां क्रमिकत्वेन निमित्तसामग्रीप्रविष्टस्य कालोपाधेः तदानीम् अभावेन निमित्तसामग्रीविघटनादेव

तदभावसिद्धेः. *ननु यत्र पक्वे घटे स्पर्श-रूप-रस-गन्धानां पाकजानाम् उत्पत्तिः, तत्र उपादानस्य निमित्तसामग्र्याः च विद्यमानत्वाद् विलक्षण-स्पर्शरूपादि-प्रागभावं विना न निर्वाहः* इति चेत् न, तादृश-विपरिणामस्य स्पर्शादि-स्वभावादेव सिद्धेः. ननु यत्र पक्वे(पा.भे.१०) स्वभावस्य धर्मत्वेन तत्(पा.भे.११) कल्पनेऽपि प्रागभावापेक्षया लाघवात्. एवम् अव्याप्यवृत्तिसंयोगादेः तत्तदवच्छेदेन उत्पत्तावपि स्वभावस्यैव नियामकत्वं बोध्यम्.

ननु प्रागभावानङ्गीकारे कारणशरीरप्रविष्टस्य पूर्ववर्तित्वस्य कथं ग्रहणम्. तस्य प्रागभावावच्छिन्नसमवर्तित्वरूपतया प्रागभावग्रहाधीनत्वाद् इति चेत्, मा एवं, कार्य-विषयकाग्रिम-जननज्ञानेनैव तद्ग्रहणसम्भवात्, तादृशज्ञानस्य च लोकप्रवाहादेव सम्भवात्. प्रागभावग्रहाधीनत्वाङ्गीकारेतु प्रागभावस्यापि कारणत्वेन तन्निष्ठपूर्ववर्तित्वस्यापि प्रागभावाघटिततया प्रागभावज्ञानाधीनज्ञानकत्वेन आत्माश्रयापत्तेः. तस्मात न कारणावस्थातिरिक्तः प्रागभावः.

(ध्वंसाभावनिरासाय शङ्कासमाधाने)

नवा ध्वंसोऽपि अतिरिक्तः, कार्यस्थितिप्रतिकूलां कारणावस्थां पश्यतएव ''इह घटो ध्वस्तः'' इत्यादि प्रत्ययात्. नच *अभावमुखप्रतीतिः बाधिका* इति वाच्यं, तमसि भावमुखप्रतीतेरिव अत्र अभावमुखप्रतीतेरपि अबाधकत्वात्. नच *ध्वंसानङ्गीकारे नष्टस्य पुनःउन्मज्जनापत्तिः* इति वाच्यं, तादृगवस्थायाः सत्त्वेन निमित्तविघटनेन च तथा आपादयितुम् अशक्यत्वात्. यत्रच अवस्थातिरोभावो निमित्तान्तरसमवधानं वा तत्र उन्मज्जनेऽपि बाधकाभावः. अतएव ताम्रादिघटेषु भङ्गोत्तरमपि निमित्तान्तरेण पुनसन्धानमपि युज्यते. नच *तद् घटान्तरमेव इति युक्तम्, प्रत्यभिज्ञाबाधापत्तेः. आश्रमवासिक-पर्वस्थ-कुरुपाण्डव-सैन्यस्य, कश्यप-कृत-तक्षक-दग्ध-वट-तरूज्जीवनस्य, भारतादौ दर्शनात् तादृशस्थले पदार्थान्तरत्वाङ्गीकारे ''एकां रात्रिं विहृत्य एवं ते वीराः ताः च योषितः आमन्त्र्य अन्योन्यम् आश्लिष्य ततो जग्मुः यथागतम्'' (म.भा.१५।४१।११) इत्यादि-वाक्योक्त-विहारादीनां विरोधापत्तेः, तक्षककृत-कश्यपनिवर्तन(भाग. पुरा.१२।६।११-१२)स्यापि वैयर्थ्याद्यापत्तेः च. नच

प्रागभावध्वंसादि-शब्दाभिलाप-बाधः, 'कार्य'-'कारणा'दिशब्दवद् एतयोरपि सापेक्षवृत्तिकत्वेन अवस्थाम् अपेक्ष्य मुखेनैव अभिलापोपपत्तेः. तस्माद् ध्वंसोऽपि न अवस्थातिरिक्तो अतः ध्वंसदशायामपि कार्यस्य सत्त्वमेव नतु असत्त्वम्. प्रतीत्यभावस्तु सौक्ष्म्यादेवेति न आरम्भवादोऽपि युक्तिसहः.

आविर्भावतिरोभाववादे वक्ष्यमाणेन उत्पत्ति-स्वरूप-विचारेणापि तथा. तेन निर्मूलएव.

(अथ ब्रह्मोपादानतोपपादनम्)

अतः "**सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद्**" (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिश्रुतेः ब्रह्मणएव मूलकारणत्वम्. ततश्च "**एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुः ज्योतिः आपः पृथिवी विश्वस्य धारिणी**" (मुण्ड.उप.२।१।३) इति श्रुतेः साक्षाद् वा, "**एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः**" (तैत्ति.उप.२।१।१) इति श्रुतेः परम्परया वा, ब्रह्मणएव जगद् उत्पद्यते. नच *आकाशोत्पत्तिः न सम्भवति निरवयवत्वाद्* इति वाच्यं, बुद्धिकर्मादिवद् उपपत्तेः. नच *"द्रव्यत्वे सति" इति विशेषणात् न दोषः* इति वाच्यं, परमाणौ उक्तरीत्या व्यभिचारात्. "*आकाश*(पा.भे.१२)*-काल-दिङ्-मनः-परमाणवो जन्याः विकारत्वाद्, विकाराः लौकिक-पृथग्व्यवहार-विषयत्वाद्, आत्मान्यत्वे सति विभक्तत्वाद् वा, घटादिवद्*" इति प्रत्यनुमानसत्त्वात् च. एतेनैव "*अस्पर्शद्रव्यत्वात् पृथिव्यादिविधर्मद्रव्यत्वाद्*" इति प्रतिसाधनमपि निरस्तम्, अप्रयोजकत्वात्. अवयवचिन्तातु न कार्यैव. स्थूलादेव सूक्ष्मोत्पत्तेः श्रुतिसिद्धत्वात्, तस्यच अवयवित्वात्.

नच * "**निष्कला...**" (श्वेता.उप.६।१९)दिश्रुतिविरोधो, विरुद्धधर्माश्रयत्वात्. उत्पत्तिप्रलयौ च कूर्माङ्गन्यायेन सञ्चरप्रतिसञ्चरौ इति सदेव कार्यम् उत्पद्यमानं च भगवत्येव तिष्ठतीति भगवानेव समवायी. समवायोऽपि तादात्म्यमेव नतु अतिरिक्तः, तस्य सम्बन्धत्वेन द्विनिष्ठत्वात्, प्रतियोग्यन्तराभावेन सृष्ट्यादौ त्वया तस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्, तस्यापि वृत्तिनियामकसम्बन्धसापेक्षत्वेन तदभावादपि अशक्यवचनत्वात् च, अनपेक्षत्वे, तद्वत्, कार्यस्यापि तं विना शक्यवचनत्वात् च.

(अनीश्वरसांख्याभिमतप्रकृतिपरिणामवादेन पूर्वपक्षः)

(प्राकृतं जगदेतद्धि प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका॥
पुरुषाणान्तु सान्निध्यात् क्षुब्धा सैव विवर्तते॥४॥)

अत्र अनीश्वरसांख्याः *मास्तु परमाणुभ्यः सृष्टिः; तथापि, भगवतो न सम्भवति, प्रधानाद् जगद् जायतइति, श्रुतेः(तौ!) 'ब्रह्मा'दि-पदानामपि प्रकृतिवाचकत्वात्. "**एतस्माद् जायते प्राणः**" (मुण्ड.उप.२।१।३) इतितु अहंकारपरा, प्राणाद्युत्पत्तेः ततएव अङ्गीकारात्, पुराणादिष्वपि तथैव दर्शनात्. एवञ्च "**अजाम् एकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः जनयन्तीं सरूपाः, अजो ह्येको जुषमाणो अनुशेते जहाति एनां भुक्तभोगाम् अजो अन्यः**" (महाना.उप.९।२) इति श्रुतेः लोहित-शुक्ल-कृष्ण-वर्णोपलक्षित-रजः-सत्त्व-तमः-साम्यावस्थारूपा प्रकृतिरेव कर्त्री. उपादानमपि सैव इति अनुमानात् सिद्ध्यति.

तथाहि—कार्यस्य भौतिकत्वात् तत्कारणानां भूतानां तद्गुणानां च सिद्धिः वादिप्रतिवादिनोः तुल्या. तानि स्थूलान्येव नतु परमाणुरूपाणि जन्यानि च इत्यपि उक्तरीत्यैव सिद्धम्. आकाशोऽपि जन्यः उक्तश्रुतेः. कालस्तु न उपाधिभिन्नः चिरक्षिप्रादिव्यवहारस्य ततएव सिद्धेः. दिशस्तु श्रोत्राधिष्ठातृत्वाद् इन्द्रियान्तर्गता आकाशान्तर्गता वा. "**दिक्कालौ आकाशादिभ्यः**" (कापि.सू.२।१२) इति सूत्रात्. मनोऽपि जन्यम् आकाशवत्. इन्द्रियाण्यपि तथा, नश्वरभावत्वेन वादिप्रतिपत्त्यभावात् च. गुणानां तन्मात्रात्वं, तद्भूतजनकत्वं च पुराणादिभ्यः सिद्धम्. इन्द्रियाणि गोलकाद् भिन्नानि कार्यलिङ्गकानुमानसिद्धानि "*रूपादिग्रहणं सकारणकं कार्यत्वात्. कार्यं जन्यत्वाद्*(पा.भे.१३)*. जन्यम् अनित्यत्वाद् घटवद्*" इति अनुमानेन रूपादिग्रहणस्य

मूले पूर्वपक्षसंग्रहकारिकायाः अनुपलम्भाद् मया योजिता सा इहापि पठनीया.

कारणसिद्धौ गोलकसद्भावेऽपि तत्तदिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानाद् इन्द्रिय सिद्धिः. मनसोऽपि संकल्परूपात् कार्यात् सिद्धिः. एतेषां सकारणकत्वं च अनुमानादेव सिद्धम्. ''*द्विविधेन्द्रियाणि तन्मात्राणि च सकारणकानि कार्यत्वात्. यदेवं तदेवं घटवत्. यन्नैवं तन्नैवं स्वस्वमतप्रतिपन्ननित्यवस्तुवद्*'' इति प्रयोगात्. एवं बाह्याभ्यन्तरेन्द्रियैः तन्मात्रैश्च कार्यैः सामान्यतः कारणे सिद्धे तस्य अहंकारत्वेन परिच्छित्तिः[पा.भे.१४]. तथैव महतः. तेनच प्रकृतेः.

यद्वा ''*महदादिकार्यं सुखदुःखमोहगुणकद्रव्यजन्यं, कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहगुणकत्वात्, स्त्र्यादिवत्*''. नच ✽सुखादेः अन्तरेव अनुभवात् स्त्र्यादीनां सुखा[पा.भे.१५]दिगुणकत्वे मानाभावः शङ्क्यः, 'चन्दनसुखं' 'स्त्रीसुखम्' इत्यादिप्रत्ययात्. एवं सिद्धे सुखादीनां बाह्यत्वे गुरुत्ववत् तेषां कार्यगुणरूपेण स्थितेः निर्बाधत्वात्. विषयेषु त्रिगुणकार्येषु सुखादिसिद्धेः अप्रत्यूहत्वात् च. नच ✽स्त्र्यादीनां सुखादिनिमित्तत्वमेव नतु तदात्मकत्वं, प्रतीतेः तथापि सम्भवाद्✽ इति वाच्यं, ''*विमताः सुखदुःखमोहात्मकाः सुखदुःखमोहनिमित्तत्वात्. यदेवं तदेवम्. यथा एका स्त्री रूप-यौवन-शीलादिशालिनी, भर्तुः मनसः सुखस्य, सपत्नीमनसो दुःखस्य, काम्यन्तरमनसो मोहस्य, निमित्तम्. तत्तत्प्रति तेन-तेन रूपेण उद्भूतत्वात् तद्वत्. यन्नैवं तन्नैवम्. केवलचेतनवद्*'' इति अनुमानेनापि तेषु सुखादिसिद्धेः. एवञ्च सिद्धे तेषां त्रिगुणकार्यत्वे अनवस्थाभयेन क्वचिदवस्थितेः आवश्यकत्वात् प्रकृतौ पर्यवसानं सृष्टेः, गुणवैषम्यजन्यत्वाद् वैषम्यस्य च. प्रकाशसुखादिफलोपहितः सत्त्वादिव्यवहारयोग्यो यः कारणगुणपरिणामः तद्रूपत्वाद् अविषमा गुणाएव प्रकृतिः. एतेषु संयोगविभागादिमत्तया उपादनतया च द्रव्यत्वेऽपि, पुरुषोपकरणत्वेन पारार्थ्याद् गुणानां पारार्थ्यनियमाद् गुणत्वव्यवहारः. तथा प्रयोगः — ''*विमतं परार्थं संघातत्वाद् घटादिवत्. यन्नैवं तन्नैवं पुरुषवत्*''. नच प्रकृत्यनित्यत्वापत्तिः ''अजा...''(महाना.उप.९।२)श्रुत्यैव बाधात्. अस्याञ्च प्रक्रियायां पूर्वोक्ताः श्रुतयो मन्वादिस्मृतयः पुराणानि च अनुग्राहकः तर्कः. पुरुषस्तु न कर्ता, असङ्गत्वाकर्तृत्वयोः तत्र श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात्. तस्मात् न भगवतः सृष्टिः ✽ इति आहुः.

(उक्तसांख्यमतनिरासः)

तन्न युक्तं श्रुतात्मत्वचेतनत्वविरोधनात्।।
प्रकृतौ मूलहेतुत्वस्याऽसिद्धेरनुमानतः ।।५।।

तथाहि — **''आत्मैव इदम् अग्रे आसीद्''** (बृह.उप.१।४।१) इत्यादिश्रुतिषु 'आत्मा'दिपदव्याकोपेन प्रकृतौ मूलकारणत्वस्य अशक्यवचनत्वात्. नच ✽'आत्म'पदम् अहंकाराद्यन्यतरद्(वाचकम्!)✽ इति शङ्क्यं, तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशविरोधात्, **''तद् ऐक्षत''** (छान्दो.उप.६।२।३) इत्यादिसृष्टिप्रकरणस्थ-चेतन-लिङ्ग-बोधकश्रुति-विरोधात् च. केवलानुमानेन साधने तन्मात्रादि-महदन्तानां कथमपि सिद्धेः, श्रुतिस्मृत्योः प्रक्रियानुग्राहकत्वेन प्रामाण्याङ्गीकारे, ताभ्यामेव सिद्धायाः चेतनकारणतायाः त्यागायोगात्, **''आसीज् ज्ञानम् अथो ह्यर्थः एकमेव अविकल्पितं यदा, विवेकनिपुणा!, आदौ कृतयुगे युगे तद् मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहत्. तयोः एकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः, सा उभयात्मिका, ज्ञानन्तु अन्यतमो भावः पुरुषः सो अभिधीयते''** (भाग.पुरा.११।२४।२) इति, **''प्रकृतिर्हि अस्य उपादानम्, आधारः पुरुषः परः, सतो अभिव्यञ्जकः कालो, ब्रह्म तत्त्रितयन्तु अहम्''** (भाग.पुरा.११।२४।१९) इतिच एकादशस्कन्धीय-भगवद्वाक्ये स्वस्यैव तत्तद्रूपत्वकथनात्. नच **''प्रधानाद् जगद् जायते''** (?) इति श्रुतिविरोधः, श्रुतेः सावधारणत्वाभावात् महत्तत्त्ववद् अवान्तरकारणत्वेनापि उपपत्तेः.

एतेनैव **''अजाम् एकाम्...''** (महाना.उप. ९।२) इत्यपि व्याख्याता ज्ञेया. तत्रापि प्रकरणेन भगवच्छक्तेरेव अनुग्रहात्, श्वेताश्वतरे शक्तिम् उपक्रम्य अस्य पाठाद् वाक्यस्य साधारणत्वात्. नच अत्र मानाभावः **''यद् अग्नेः रोहितं रूपं तेजसः तद्रूपं, यत् शुक्लं तद् अपां, यत् कृष्णं तद् अन्नस्य''** (छान्दो.उप.६।४।१) इति श्रुत्यन्तरे तेषां तेजआदिरूपत्वकथनात् तद्[पा.भे.१६]रूपत्रयवतः सतएव ईक्षितुः तत्र अभिप्रेतत्वाद् अत्रापि तदुक्तेः शक्यवचनत्वात्. बृहदारण्यकेऽपि **''अणोः अणीयान् महतो**

महीयान् आत्मा'' (कठोप.२।२०) इति उपक्रम्य अस्य पाठात्. कर्तृत्वस्य चैतन्यसामानाधिकरण्यं लोके दृष्टम् इति अनुमानेनापि साधने चेतनस्यैव तथात्वसिद्धेः जडायां तस्यां तदभावस्यैव सिद्धेः, उपादानत्वमपि न सर्वदा तस्याः. कालस्यापि उपादानत्वात्. कालम् उपक्रम्य ''**गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषो अप्रतिष्ठितः पुरुषः तदुपादानम् आत्मानं लीलया असृजद्**'' (भाग.पुरा.३।१०।११) इति तृतीयस्कन्धवाक्यात्. अतएव कालोऽपि अतिरिक्तः, ''**प्रकृतेः गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य, मानवि!, चेष्टा यतः स भगवान् कालः इति उपलक्षितः**'' (भाग.पुरा.३।२६।१७) इति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात् च कालः उपाधिभ्यो अतिरिक्तो गुणक्षोभकत्वादपि सिद्ध्यति, सृष्ट्यादौ उपाधीनां सूर्यपरिस्पन्दादीनाम् अभावात्. स्वतो वा स्वभावतो वा क्षोभे तस्य सार्वदिकत्वापत्तेः, सञ्चरप्रतिसञ्चरापलापप्रसङ्गात्. जन्यत्वन्तु कालस्यापि वाक्यादेव सिद्धम्; अतएव तस्य प्रलयोऽपि व्यवहारमात्रशरणस्य, तदभावे तत्सत्तायामपि मानाभावात्. नच *''**सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद्**'' (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुतौ 'अग्र'पदेन कालस्यापि उक्तत्वात् तस्य नित्यत्वं* शङ्क्यं, बोधनार्थमेव तथा उक्तेः, अन्यथा ''**सो अनुवीक्ष्य नान्यद् आत्मनो अपश्यद्**'' (बृह.उप.४।४।१) इति श्रुत्यन्तरविरोधापत्तेः.

तस्माद् ब्रह्म चेतनं, जगतः उपादानं, निमित्तं, कर्तृ च इति श्रुतिभ्यएव मन्तव्यम्.

(मायावादिनः पूर्वपक्षः)

(न सन्नासन्न सदसन्मिथ्या मायिकमेव तद्॥
ब्रह्मण्यारोपितं ब्रह्मज्ञाननाश्यन्तु तन्मतम्॥६॥)

अत्र केचिद् एकदेशिनः, जगतो ब्रह्मरूपत्वं तत्परिणामत्वं वा असहमानाः, मायावादम् अङ्गीकुर्वन्तः सत्कार्यवादं पूर्ववद् दूषयित्वा परिणामवादस्यापि

''अतएव तस्य'' इति, कालस्य इति अर्थः. ''तदभावे तत्सत्तायाम्'' इति, व्यवहाराभावे कालसत्तायम् इति अभिप्रायः. न **सन्नासन्न**...इत्यादिकारिका मदीया.

विकल्पासहत्वम् एवं मन्यन्ते : तथाहि स द्वेधा :—

(१)मीमांसकप्रतिपन्नः प्रवाहानादित्वम् आदाय एकः.
(२)प्रकृतिः नित्या पुरुषसम्बन्धेन परिणमति इति सादित्वम् आदाय अपरः.

(मायावादिकृतप्रवाहानादिताखण्डनम्)

तत्र न आद्यः. सत्कार्यवादानुरोधेन हेतौ कार्यसत्तायाः अवश्यम् अङ्गीकार्यत्वात्. तथा सति पूर्वापरभावाभावेन कार्यकारणभावस्य अनिर्वाच्यतया व्यवस्थाविरहप्रसङ्गात्. नच *कार्यस्य सत्त्वेऽपि निमित्तवशाद् बहिर्भावे प्रतीतिविशेषम् आदाय कार्यस्य सादित्वे कार्यकारणभावोपपत्तेः न अव्यवस्था* इति वाच्यम्, एकस्मात् फलाद् अनेकबीजोत्पत्तौ तेभ्यः च अनेकफलोत्पत्तौ एकस्मिन् फले तावतां बीजानां फलानां च सत्त्वात्, तत्तत्फलत्वेन तत्तद्बीजत्वेन कार्यकारणभावे नियामकाभावात्, क्रमासङ्गत्या एकस्य अनेकफलोत्पत्तौ एकस्य अनेकतायां सूक्ष्मस्य स्थूलतायां (च) हेतोः निर्वक्तुम् अशक्यत्वेन च तस्याः दुरुपपादत्वात्. यदिच बीजफलयोः हेतुत्वे हेतुहेतुमत्ता तदा तन्निर्वाहाय पूर्वापरभावो अवश्यम् अभ्युपेयः. अन्यथा सव्येतरगोविषाणवद् हेतुहेतुमत्ता न स्यात्. अङ्गीकृतेच क्रमे फलपाकोत्तरं तत्र बीजदर्शनात् फलत्वेन बीजत्वेन कारणकार्यभावनिश्चयः, नतु बीजत्वेन फलत्वेन. अतः कार्यकारणभावासिद्ध्या बीजावापोत्तरं च भूयसा अनेहसा फलसम्भवात् मध्ये सन्देहेन क्वचिद् व्यभिचारदर्शनेन च फलार्थिना न बीजम् उप्येत. यदिच व्यभिचारस्य क्वाचित्कत्वाद् बीजावापस्य दर्शनात् च बीजफलयोरपि हेतुहेतुमद्भावः प्रसिद्धएव इति अङ्गीक्रियते, तदापि पूर्वोक्तरीत्या क्रमवैपरीत्यापत्तिः, अन्योन्याश्रयाद् अनुत्पत्तिप्रसङ्गः, इष्टापत्तौच प्रत्यक्षबाधः प्रसज्येत. किञ्च ''*शक्तस्य शक्यकरणं*'' हि सत्कार्यवादे युक्तिः, सापि अनुपपन्ना, पश्चाद्भाविनः शक्यस्य कार्यस्य शक्ते कारणे पूर्वं सत्त्वेन सिद्धत्वात्. शक्तस्य शक्यकरणाभावे अशक्तिप्रसक्तेः. ततश्च कार्यानुत्पादस्य

असत्कार्यवादस्य वा प्रसङ्गात्. एवं सहज[पा.भे.१७]शक्त्यभावे कार्यकारणभावाभावात् 'कारणा'दिपदेषु[पा.भे.१८] तत्तदभिधायिकायाः पदशक्तेरपि अपायात्. तथाच सति लौकिकवैदिकव्यवहारोच्छेदापत्तौ प्रयोजनाभावाद् आधेयशक्तेरपि मुधात्वापातात् च. नच *पूर्वपूर्वकर्मणां नियामकत्वाङ्गीकारेण क्रमादिसम्पत्त्या न कश्चिद् दोषः* इति वाच्यं, तेषामपि जडत्वेन नियामकान्तरसापेक्षत्वात्. नच जीवात्मनां नियामकत्वं, तथासति दुःखजनकानां विषादीनाम् अनुत्पत्तिप्रसङ्गात्.

अतः तन्मते ईश्वरानङ्गीकारात् नियमनस्य असम्भवदुक्तिकत्वं, शक्तेः ज्ञातुम् अशक्यत्वं च. नच *"*फलहेतुप्रवाहो अनादिः प्रवाहत्वाद् बीजाङ्कुरवद्*" इत्येवं क्रमस्य अनादित्वं* साधयितुं शक्यं, तदापि हेतोः साध्यसमत्वाद् अनादित्वासिद्धेः. कथं साध्यसमता? इति चेद्, उच्यते — यत्र गोधूमादिबीजनाशे वेणुगोधूमैः गोधूमानां, लुलायशृंगात् कदल्याः, काशाद् इक्षोः च अङ्कुरोत्पत्तिः तादृशगोधूमादिभ्यश्च पुनः वंशाङ्कुराद्यनुत्पत्तिः दृष्टा तत्र हेतुत्वसन्देहसम्भवात्. नच *व्यतिरेकव्याप्तिम् आदाय* सन्देहनिवृत्तिः, यत्र अनादित्वाभावः क्षुद्रनदीप्रवाहादौ तत्र वर्षासु प्रवाहदर्शनेन प्रवाहत्वाभावस्य अशक्यवचनत्वाद्. अतो अन्यथानुपपत्त्या तथा अङ्गीक्रियते, इति चेत्, तर्हि वादान्तरेऽपि तौल्याद् व्यवस्थाभावप्रसङ्गो दुर्वारएव.

अथ *उत्पत्तिः न बहिर्भावः किन्तु — मृदो घटरूपेण भवने, मृदवस्था गता पिण्डावस्था जाता, सा गता घटावस्था जाता, इत्येव प्रतीतेः, पटे च तन्त्वस्थास्थानुपमर्देनापि पटावस्थाप्र[पा.भे.१९]तीतेः — अवस्थाविशेषसम्बन्धएव उत्पत्तिः इति कार्यस्य कारणाभेदात्* स्वरूपानादित्वं चेद् अङ्गीक्रियते, असङ्गतम् एतदपि. तथा सति पुत्रेऽपि पित्रवस्थान्तरत्वं स्यात्. तथाच पितुः नाशः स्यात् पिण्डावस्थावत्. तन्तुवद् अनाशाङ्गीकारेऽपि सर्वः व्याप्रियेत, नच तथा अतः पुत्रो अंशएव पितुः; एवं, बीजमपि अंशएव नतु अवस्थान्तरं, समानन्यायात्. तथाच विभागद्वारा हेतुत्वमात्रं फले सेत्स्यति, नतु स्वरूपानादित्वमपि, पूर्वम् अभावस्य अध्यक्षसिद्धत्वात्.

किञ्च पिता स्वयम् अनश्यन् पुत्रं प्रति विभागेन हेतुः नतु संयोगेन तथा फलमपि अनश्यदेव हेतुः स्यात्. अवयवसंयोगाद् अवयव्युत्पत्तिसिद्धान्तश्च व्याहन्येत. एवम् उत्तरावस्थारूपतापि अशक्यवचनैव तथाप्रतीत्यभावात्. संसारप्रवाहस्य भावरूपस्य अनादित्वाङ्गीकारे अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च, अनादिभावस्य अनन्तत्वनियमाद्, आत्मनि तथा प्रसिद्धेः. अतो न अयमपि वादो युक्तिसहः.

(मायावादिकृतप्रकृतिपरिणामखण्डनम्)

एवं प्रकृतिपरिणामवादोऽपि. तथाहि : प्रकृतिपरिणामो हि महदादितृणस्तम्बान्तो अङ्गीकार्यः. तत्र पृच्छ्यते — महदादिः भावः किं पूर्वम् अजातएव पश्चाद् जन्यते उत जातो जन्यते? इति. न आद्यः स्वभावत्यागेन अजातत्वभङ्गप्रसङ्गाद्, अजातस्य अमृतत्वनियमात् तस्य अनाशापत्तेः च. अन्यथा प्रकृतिपुरुषयोरपि मर्त्यत्वापत्तेः दुर्वारत्वात्. अथ प्रकृतिपुरुषमात्रविषयएव अयं नियमो न सामान्यइति अदोषः इति वाच्यं, तदपि न साधीयो, अभ्युपगमातिरिक्तमानाभावात्. एवम् अजत्वेन अविकारित्वेनापि व्याप्तेः पुरुषे अङ्गीकारात्, प्रकृतेः अविकारित्वं पुरुषे वैपरीत्यमपि शक्यवचनम्. अन्यथा स्वभावभङ्गप्रसङ्गात्.

अथ *प्रकृतेः विकारित्वमेव स्वभावः पुरुषस्य अविकारित्वमेव सइति अजत्वेऽपि स्वभावभेदाद् अदोषः*, इति चेत् न, तथापि सांसिद्धिक-स्वभाविक-सहजाकृत-प्रकृतीनां स्वभावापरित्यागित्वस्य योगि-वह्नि-पक्षि-जलादिषु दृष्टत्वात्. स्वप्रकृतित्वरूपं स्वभावं परित्यज्य महदादिरूपेण विकृतित्वे प्रकृतेः प्रकृतित्वहानिविकृतित्वापत्त्योः दुर्वारत्वात्. हान्यनङ्गीकारेच सृष्ट्युच्छेदप्रसङ्गात्. अथ अमृतापि प्रकृतिः अंशतो विकरोतीति एवं तस्याः चलएव स्वभावः, इति चेत् न, पर्यायेण एकदा वा सर्वांशविकारे प्रकृतिस्वभावहानेः दुर्वारत्वात्, चलस्वभावापरित्यागे प्रलयोच्छेदप्रसङ्गात् च.

किञ्च परिणामवादे कार्यस्य कारणाभिन्नत्वात् कारणस्यापि कार्याद् अभेदइति कार्यरूपेण जनने प्रकृतेः अजत्वभङ्गप्रसङ्गः, कार्यस्य च अजत्वप्रसङ्गो,

अंशतो विकारे, विभागाद् उत्पत्तिरिति उपमृद्य प्रादुर्भावात् नित्यत्वभङ्गप्रसङ्गः. अजस्य जन्माङ्गीकारो दृष्टान्तेन शून्यइति अयमपि वादो न युक्तिसहः. जातो जन्यते इति प्रकारस्तु प्रवाहादित्वपक्षोक्तैरेव दूषणैः ग्रस्तः इति अकिञ्चित्करः.

(जगतो मायाविवर्ततासाधनाय युक्त्या स्वप्नमिथ्यात्वसाधनम्)

एवं क्षीणेषु सर्ववादेषु सतएव मायया जन्म इति एवंरूपो मायावादो अवशिष्यते. स विचार्यमाणः स्वप्नदृष्टान्तेन जगतो मिथ्यात्वमेव दृढयतीति पूर्वं स्वाप्निकानां मिथ्यात्वम् उपपाद्यते. तथाहि — *''स्वाप्निकाः सर्वे भावभेदाः शरीरान्तःस्थाः शरीरसंवृतत्वात्, यद् यत्संवृतं तद् तदन्तःस्थं गृहकुम्भवद्''* अथवा *''यच्छरीरसंवृतं तच्छरीरान्तःस्थं नाडीवद्''* इति न्यायेन स्वाप्निकानां शरीरान्तःस्थत्वसिद्धिः. नच **''स्वाप्निकाः न शरीरान्तःस्थाः किन्तु बाह्याः तद्बाह्यत्वेन महत्त्वादिना च आभासमानत्वाद्''* इति सत्प्रतिपक्षसत्त्वात् पक्षे हेत्वसिद्धेः हेतोः साध्यसमत्वं वा* शङ्कनीयं, *''ते अबाह्याः अदीर्घकालदर्शनकत्वाद्, दृश्यमान-देशगमनानपेक्ष-लौकिक-दर्शनकत्वाद् वा, यन्नैवं तन्नैवं, जाग्रद्दृश्यघटादिवद्''* इति न्यायाभ्यां बाह्यत्वसाधकहेतोरेव साध्यसमत्वसिद्धेः प्रतिपक्षत्वस्य अशक्यवचनत्वात्. यदि गत्वा पश्येत् तं देशं पश्यन् प्रतिबुद्धः तत्रैव तिष्ठेत्, बहुकालेन च पश्येत्. यतश्च अगत्वा लौकिकप्रत्यासत्त्यभिमानेन पश्यति अतो अन्तरेव पश्यतीति तर्केणापि प्रतिपक्षनिरासात् च.

(तस्यैव पुनः श्रुत्या साधनम्)

किञ्च वाजसनेयिनां बृहदारण्यके श्रूयते, **''न तत्र रथा न रथयोगाः न पन्थानो भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते''** (बृह.उप.४।३।१०) इति **''स्वप्नान्त उच्चावचम् ईयमान''** (बृह.उप.४।३।१३) इति मन्त्रे अनेकरूपकरणम्. **''तं नायतं बोधयेद्.....दुर्भैषज्यं ह अस्मै भवति''** (बृह.उप.४।३।१४) इति सुप्तस्य निर्बन्धेन जागरणे कष्टं च श्राव्यते.

यदि जाग्रद्दृष्टमेव तत्र स्यात् तदा **''न तत्र....''** (बृह.उप. ४।३।१०) इत्यादिना तदभावं ततः करणं दुर्भैषज्यं च न वदेत्, यत्र सुप्तः तत्रैव स्त्रिया रममाणः स्खलितः जाग्रन् तां बहिः यदि पश्येत्. यतो न पश्यति ततः शोकं करोति. यतः करोति ततो रथा(त्या!)द्यभावः इत्यतोऽपि तेषाम् आन्तरत्वसिद्धिः. नच *चिन्तामण्यादिसिद्ध-सृष्टिन्यायेन स्वप्ने अनुपादानिका सत्या सृष्टिः बाह्यैव भवति* इति वाच्यं, पूर्वोक्तन्यायानां तत्प्रतिपक्षत्वात्. अनुपादानकत्वे अवयवादिविघटनेऽपि नाशासम्भवापत्त्या चिन्तामण्यादिसिद्धसृष्टावपि तथात्वस्य विप्रतिपक्षत्वात् च, न्यग्रोधधानादाविव[-पा.भे.२०] तत्रापि अमूर्तसकलपदार्थाङ्गीकारे बाधकाभावात् च. चिन्तामण्यादिसृष्टेः जाग्रदनुभव[पा.भे.२१]वद् अस्याः स्वाप्निकसृष्टेः अननुभवेन *''स्वाप्निकाः मिथ्याभूताः, बाह्यधर्मत्वेन प्रतीयमानत्वे सति अन्तर्दृष्टत्वात्, यदेवं तदेवं करतल-दृष्ट-माया*[पा.भे.२२]*गजवत्, यन्नैवं तन्नैवं सत्यगजवद्''* इति साधनेन च तत्सत्यतायाः अशक्यवचनत्वात्, सन्ध्याधिकरण(ब्र.सू.३।२।१)विरोधात् च. अतः तत्र मायिक्येव सृष्टिः इति निश्चीयते. साच मिथ्यैव भवितुम् अर्हति, दृश्यमानस्य स्थूलस्य अन्तर्मातुम् अशक्यत्वात्. एवं सिद्धे स्वाप्निकस्य मिथ्यात्वे यथा इयं गजतुरङ्गमनुष्यादिरूपेण मिथ्या, तथा मनोध्यातापि सा ज्ञेया.

(जगन्मिथ्यात्वसाधनम्)

तत्र अयं प्रयोगो — *''जाग्रति मनोध्याताः भावभेदाः बाह्यरूपेण मिथ्याभूताः, तथा प्रतीयमानत्वे सति आन्तरत्वाद्, यदेवं तदेवं स्वाप्निकवद्''* इति. नच *ध्यानस्य स्मरणपर्यायत्वात् स्मरणे च बहिष्ठस्य सतएव संस्कारद्वारा गोचरत्वमात्रं भवतीति दृष्टान्तविरोधः* इति वाच्यम्, अतीतस्य असतोऽपि गोचरत्वात्. हेत्वन्तरेण च दृष्टान्तसङ्गतेः. तथाच प्रयोगो *''मनोध्याताः गजादयो वर्तमानत्वेन अनुभूयमानत्वेऽपि असन्तः, आद्यन्तयोः असत्त्वाद्, यदेवं तदेवं स्वाप्निकवत्. यन्नैवं तन्नैवं स्वस्वमतप्रतिपन्ननित्यवस्तुवद्''* इति. नच **''विमताः वर्तमानत्वेन अनुभूयमानाः पदार्थाः सन्तः आद्यन्तयोः असत्त्वाद्, यदेवं तदेवं घटादिवद्''* इति साधारणो हेतुः* इति वाच्यं,

"विमताः घटादयो वितथाः, वितथसदृशत्वाद्, यदेवं तदेवम् ऐन्द्रजालिकवद्" इति साधने घटादीनामपि असत्त्वासिद्धेः दृष्टान्तविरहात्. नच *"*विमताः सत्याः अर्थक्रियाकारित्वाद्"* इति साधनात् न दोषः* इति वाच्यम्, *"असन्तो अर्थक्रियाकारित्वात् स्खलन-जनक- स्वाप्निक-प्रमदा-स्पर्शवद्"* इति प्रयोगेण अस्यापि साधारणत्वनिश्चयात्. नच *"*जाग्रद्वृत्तिः गम्यत्वे सति"*इति विशेषणे दत्ते हेतोः न साधारणत्वापत्तिः* इति वाच्यं, तथापि मायाहस्त्यादौ व्यभिचारस्य दुर्वारत्वात् साधारणत्वस्य अनिवृत्तेः. एवं प्रपञ्चसत्तासाधकानां हेतूनाम् आभासत्वे सिद्धे असतो गगनकुसुमादेः तत्त्वतो मायातः च जन्मादर्शनात् सतएव मायातो जन्म वाच्यं, सच्च ब्रह्मैव अभेदश्रुत्यनुरोधात्.

(ब्रह्मणि मायाविवर्तः प्रपञ्चः)

एवं सति ब्रह्मैव प्रपञ्चाकारेण मायया विवर्तत[गा.भे.२३]इति सिद्धो मायावादः. अतएव छान्दोग्यश्रुतिरपि **"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्"** (छान्दो.उप.६।१।४) इति विकारस्य वाचारम्भणत्वम् उक्त्वा **"मृत्तिकेत्येव सत्यम्"** (छान्दो.उप..६।१।४) इति कारणस्य सत्यत्वं वदति. तेन दृष्टान्तेन कार्यस्य जगतो मिथ्यात्वं, कारणस्य ब्रह्मणएव सत्यत्वम् आह, **"अनृतापिधाना"** (छान्दो.उप.८।३।१) इति च. बृहदारण्यकेऽपि **"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"** (बृह.उप.२।५।१९) इति परमेश्वरस्य मायाभिः बहुरूपत्वम् आह, **"अतो अन्यद् आर्तम्"** (बृह.उप..३।४।२) इति च. श्वेताश्वतरेऽपि **"मायान्तु प्रकृतिं विद्याद्"** (श्वेता.उप.४।१०) इति. इममेव अर्थं पुराणानि उपष्टभ्नन्ति. यथाहि एकादशस्कन्धे **"यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्"** (भाग.पुरा.११।७।७) इत्यत्र च **'नश्वरम्'** इति हेतुगर्भ विशेषणम्. तेन *"इदं मनआदिभिः गृह्यमाणं मायामनोमयं नश्वरत्वाद्"* इति अनुमानं फलति. एवं **"त्वयि उद्धव..."** (भाग.पुरा. ११।१९।७) इत्यत्रापि विकारस्य मायात्वे आदौ अन्ते च असत्त्वाद् इति हेतुः फलति. तेनच जन्मादयो देहस्यैवेति तथैव धर्मद्वारा मायिकत्वम् उक्तं भवति. द्वादशाध्यायेच **"सएष जीवः"** (भाग.पुरा.११।१२।१७)

इत्यारभ्य आसमाप्तिः प्रपञ्चस्य मायामयत्वं वेदार्थत्वं च उक्तम्. हंसगीतायाञ्च **"असत्त्वाद् आत्मनो अन्येषां भावानां तत्कृता भिदा गतयो हेतवः च अस्य मृषा स्वप्नदृशो यथा"** (भाग.पुरा.११।१३।३१) इति. **"ईक्षेत विभ्रमम् इदं मनसो विलासं दृष्टं विनष्टम् अतिलोलम् अलातचक्रं, विज्ञानम् एकम् उरुधेव विभाति माया स्वप्नः त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः"** (भाग.पुरा.११।१३।३४) इति. एवं योगेश्वरादि(भाग.पुरा.११।२-५)वचनेऽपि. एवमेव विष्णुपुराणादिष्वपि. तस्मात् मायिकएव प्रपञ्चो ब्रह्मसत्तयैव सद् इति प्रतीयते इत्येव मन्तव्यम्. ततश्च न ब्रह्मरूपत्वं न वा ब्रह्मपरिणामत्वम्.

इति प्राप्ते :—

(मायावादनिरासाय सिद्धान्तोपक्रमो युक्त्या)

अत्रोच्यते न सर्वोऽपि प्रपञ्चो मायिकोऽपि तु॥
नश्वरो मायिकस्तेन सत्यो युक्त्यापि सिद्ध्यति॥७॥

तथाहि — भवदभिमतो व्यावहारिकः *"प्रपञ्चः कस्यचिद् उत्कृष्टसत्ताकस्य प्रतिकृतिः अनन्तरोत्पन्नः च मायिकत्वाद् यदेवं तदेवम् आभासादिवद् यन्नैवं तन्नैवं ब्रह्मवत् खपुष्पवत् च"* एवम् उत्कृष्टसत्ताकप्रतिकृतित्वे अनन्तरोत्पन्नत्वे च सिद्धे ततः पूर्वसिद्धस्य पारमार्थिकं सत्यत्वं सिद्ध्यति. नच *प्रतिबिम्बस्य मायिकत्वाद् आदर्शद्वयसाम्मुख्ये तदनवस्थादर्शनात् तस्मिन् दृष्टान्तिते[गा.भे.२४] सत्यत्वं न सिद्ध्यति* इति वाच्यं, तत्रापि सत्यस्यैव आदर्शद्वयबिम्बस्य पूर्वावधित्वात्. अन्यथा तदभावात्. एवञ्च व्यावहारिकसत्तापेक्षया उत्कृष्टा सत्ता पारमार्थिक्येवेति तत्सत्ताकत्वं पूर्वसिद्धस्य निराबाधम् :—

"आत्मैव इदम् अग्रे आसीद्" (बृह.उप.१।४।१), **"स आत्मानं स्वयम् अकुरुत"** (तैत्ति.उप.२।७), **'सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवद् यदिदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते"** (तैत्ति.उप.२।६), **"पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भाव्यम्"** (श्वेता.उप.३।१५), **"सर्वं सर्वम् इदं जगत्"**

(महा.नारा.उप.२३।१), ''स भूतं स भव्यम्''(महाना.उप.२-४।१) इत्यादिश्रुत्यनुगृहीतत्वात् च.

नच *अत्रापि 'अकुरुत' इति श्रवणाद् जन्यत्वे पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः* इति वाच्यं, तथा आविर्भावेन अदोषात्. तस्य वादान्तरे व्युत्पाद्यत्वात्. नच सत्कार्यवादोक्तदूषणग्रासः, श्रौतत्वेन अलौकिके अर्थे तदनवसरात्. अन्यथा तौल्यात्.

(मायिकत्वप्रतिपादकपुराणवाक्यतात्पर्यम्)

ननु एवं सति उपन्यस्तानि पुराणवाक्यानि श्रुतिवाक्यानि च कथं सङ्गच्छन्ते? इति चेद्, एवं सङ्गच्छन्ते — यद् इदं पौराणिक-वचन-कदम्बकम् उपन्यस्तं तदपि मतान्तरसृष्टिरूपं तदभिमतमेव(पा.वे.२५) आदाय वैराग्यार्थम् उच्यते नतु सृष्टिमात्रमिथ्यात्वाय, ''**विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया, यथा इदानीं तथाच अग्रे पश्चादपि एतद् ईदृशम्**'' (भाग.पुरा.३।१०।१२-१३) इति तृतीयस्कन्धविरोधात् अवान्तरप्रकरणेन वैराग्यार्थत्वनिश्चयात् च.

(तत्र भागवतवचन-तात्पर्य-निरूपणम्)

तथाहि — एकादशस्कन्धे सप्तमाध्याये ''**त्वन्तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु मयि आवेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम्**'' (भाग.पुरा.११।७।६) इत्यनेन बन्धुस्नेहत्यागः स्वस्मिन् सम्यङ्मनोनिवेशनं च इति अङ्गद्वयविशिष्ट-समदृक्तया गोविचरणम् उपदिशतो भगवतो ''**यद् इदं मनसा वाचा**'' (भाग.पुरा.११।७।७) इत्यादिवाक्यपञ्चकं, तत्तु समदृक्त्वस्य पूर्वाङ्गं यः स्नेहत्यागः तदर्थम्, आन्तरालिकसृष्टिम् आदाय भवति. ''**सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विषज्जेत वै पुनः**'' (भाग.पुरा.११।७।१२) इति उपसंहारे ''**पश्यन् मदात्मकं विश्वम्**'' इति समदृक्त्वविवरणात्. अन्यथा ''**पश्यन् मायात्मकम्**'' इत्येव विवृणुयात्. एतस्यैव विस्तारो अग्रे प्रश्नानुरोधेन. एवं सति तदग्रिमप्रश्ने ''**सोऽहं ममाहम्**'' इति श्लोके ''**त्वन्मायया विरचिता**'' (भाग.पुरा.११।७।१६) इति यत्

तदपि **सोऽहं ममाहम्** इत्याकारिकायाः अन्तरासृष्टिविषयिण्याः मूढबुद्धेः विशेषणम्. तथाच 'तद्' इति 'ल्यब्' लोपात् पञ्चमी लुप्ता, ''तां बुद्धिं त्यक्त्वा विगाढो दृढो अहं भवन्निगदितं यथा संसाधयामि तथा शाधि!'' इति अन्वयः.

दशमाध्यायेतु ''**सुप्तस्य विषयालोक**'' (भाग.पुरा.११।१०।३) इति श्लोके भेदात्मकबुद्धेरेव अफलत्वम् उक्तं, नतु प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वम्. इह ''**वैशारदी सा अतिविशुद्धबुद्धिः**'' (भाग.पुरा.११।१०।१३) इत्यत्रापि विद्यया विकल्पबुद्धिरूपायाः सकार्याविद्यायाः नाशे तन्नाशिकायाः सात्त्विकज्ञानरूपायाः विद्यायाअपि अग्निदृष्टान्तेन नाश्यनाशे स्वतोनाशमात्रम् उच्यते. तावता न काचित् क्षतिः, सात्त्विकत्वेन तस्याअपि मनोवस्थारूपत्वात्. एतदग्रे ''**अथ एषाम्...**'' (भाग.पुरा.११।१०।१४) इत्यारभ्य ''**मुह्यन्ति शुचार्पिताः**'' (भाग.पुरा.११।१०।३३) इत्यन्तेन कर्ममार्गीयभेदवादिनिन्दनं ''**काल आत्मा**'' (भाग.पुरा.११।१०।३४) इत्यनेन नानावादं च आह तत्तु अनुकूलमेव.

एवम् अग्रे द्वादशाध्याये ''**तस्मात् त्वम्, उद्धव!, उत्सृज्य**'' (भाग.पुरा.११।१२।१४) इति द्वाभ्यां सर्वत्याग-पूर्वक-पुष्टिमार्गीय-शरण-गमनोपदेशोत्तरम् उद्धवसंशयनिवर्तनाय, ''**सएष जीवः**'' (भाग.पुरा.११।१२।१७) इत्यारभ्य ''**अथ त्यज अस्त्रम्**'' (भाग.पुरा.११।१२।२४) इत्यन्तेन यद् उक्तं तत्रापि संशयोत्पादक-चाञ्चल्य-निवृत्यर्थं मनोनिग्रहस्य आवश्यकत्वात्. विहित-प्रतिषिद्धादि-भेदबोधनेन चितचाञ्चल्य-जनकस्य वेदस्य ''**सएष...**'' (भाग.पुरा. ११।१२।१७) इत्यादिना ''**वाणी...**'' (भाग.पुरा.११।१२।१८) इत्यन्तेन स्वव्यक्तिरूपं स्वरूपं सपरिकरम् उक्त्वा तदर्थस्य रूपप्रपञ्चस्यापि वेदातिदेशेन स्वव्यक्तिरूपताम् उक्त्वा त्याज्यांशं बोधयितुं''**य एष**'' (भाग.पुरा.११।१२।२१) इत्यादिना प्रकृतिपुरुषबीजस्य कर्मात्मकस्य भेदप्रपञ्चस्य स्वरूपं वदन् प्रतिषिद्धन्यायेन ''**हंसाय एकं बहुरूपम् इज्यैः मायामयं**

वेद स वेद वेदम्'' (भाग.पुरा.११।१२।२३) इति उपसंहृत्य ''एवं गुरूपासनया'' (भाग.पुरा. ११।१२।२४) इति एकेन मनोनिग्रहप्रकारम् आह. अतो अत्रापि वैराग्यार्थं मतान्तरसृष्ट्यनुवादः पूर्ववदेवेति न चोद्यावकाशः.

एवमेव त्रयोदशे योगबोधनार्थं हंसगीताम् उपक्षिप्य तत्र भेदस्य वाचारब्धत्वम् उक्त्वा ''मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियैः अहमेव न मत्तो अन्यद् इति बुद्ध्यध्वम् अञ्जसा'' (भाग.पुरा.११।१३।२४)(पा.-भे.२६) इत्यनेन सर्वस्य आत्माभेदेन ज्ञानम् उपदिश्य जीवदेहस्वरूपाः ये गुणाः चित्तं च, तदुभयत्यागार्थं जीवस्य मनोवस्थाविलक्षणत्वं साक्षित्वं च नृसिंहोत्तरतापनीयदवद् उक्त्वा ''तर्हि...'' (भाग.पुरा.११।१३।२८-२९) इत्यादिद्वाभ्यां त्यागोपायम् उक्त्वा ''यावद् नानार्थ...'' (भाग.पुरा.११।१३।३०) इत्यादिना नानात्वस्य भ्रान्तिकल्पितत्वाद्, हार्दं नानत्वम् अनुमानादिना संच्छिद्य ''मां भजत...'' (भाग.पुरा.११।१३।३३)इति उपदिशन् ''ईक्षेत विभ्रमम्'' (भाग.पुरा.११।१३।३४) इत्यनेन त्रिविधस्य जाग्रदादिषु अन्तरा सृष्टस्यैव मनोविलासत्वं भ्रमत्वं च आह. ततो ''दृष्टिं ततः'' (भाग.पुरा.११।१३।३५)इत्यादित्रयेण जीवदेहस्य पूर्वोक्तस्यैव नश्वरत्वादिकं वदन् सांख्ययोगगुह्यम् उपसंहरति. तेन इदमपि वैराग्यार्थमेव भेदवाद्यभिमतां गुणविसर्गसृष्टिमेव तादृशीं वदतीति पूर्ववदेव.

अतएव चतुर्दशपञ्चदशाध्यायद्वये एकस्यैव वेदस्य अध्येतॄणां प्रकृतिवैचित्र्यात् नानार्थवक्तृत्वं स्वमायया उक्त्वा, तुच्छफलभोक्तृत्वं च तेषाम् उक्त्वा, विंशैकविंशाभ्याम् अध्यायाभ्यां सप्रपञ्चं वेदार्थं संग्रहेण उक्त्वा, ''किं विधत्ते किम् आचष्टे किम् अनूद्य विकल्पयेत इत्यस्याः हृदयं लोके न अन्यो मद् वेद कश्चन. मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते हि अहम् एतावान् सर्ववेदार्थः शब्दः आस्थाय मां भिदां, मायामात्रम् अनूद्य अन्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति'' (भाग.पुरा.११।२१।४२-४३) इत्यन्तेन शब्दस्य स्वास्थानेन भिदा मायिकतावक्तृत्वम् उक्तम्. तेन पूर्वोक्तएव

अर्थो निर्णीतः इति निगर्वः. एवं सति एकोनविंशे यद् उक्तं ''त्वयि उद्धव! आश्रयति...'' (भाग.पुरा.११।१९।७) इत्यनेन तदपि ''मायामात्रम् इदं ज्ञात्वा'' (भाग.पुरा.११।१९।१) इति उपक्रमोक्त-संन्यासाङ्ग-वैराग्य-सिद्ध्यर्थं पूर्वोक्तसृष्टिं लक्षीकृत्यैव उक्तम् अतो अत्रापि न चोद्यावकाशः.

एवमेव अष्टविंशे ''छाया प्रत्याह्वयाभासा असन्तोऽपि अर्थकारिणः एवं देहादयो भावाः यच्छन्त्या मृत्युतो भयम्'' (भाग.पुरा.११।२८।५) इत्यनेन पूर्वोक्तरूपाणामेव देहादीनाम् अर्थक्रियाकारित्वेऽपि असत्त्वं बोधयित्वा तदनुपदमेव ''आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः, त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरति ईश्वरः'' (भाग.पुरा.११।२८।६) इत्यनेन सर्वस्य ईश्वरात्मकत्वम् उक्तम् इति भेदएव मिथ्यात्वं पर्यवस्यति. समाप्तौच ''एष ते अभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः'' (भाग.पुरा.११।२९।२३) इति कथनात् सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वमेव सिद्ध्यतीति अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या.

(पुराणान्तरवचनेऽपि एवं तात्पर्यं बोध्यम्)

एवमेव वैष्णवादिपुराणेष्वपि ज्ञेयम्. ''तदेतद् अक्षयं(रं!) नित्यं जगद्, मुनिवर!, अखिलम्, आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवद्'' (विष्णुपु.१।२२।६०) इति प्रथमांशे पराशरीयवाक्यात्.

याः पुनः छान्दोग्यादिश्रुतयः उक्ताः तासान्तु अयम् अर्थः :

(श्रुतितात्पर्यविचारप्रसङ्गेन ''वाचारम्भण...''वाक्यार्थनिरूपणम्)

तथाहि छान्दोग्ये तावद् : एकविज्ञानेन अविज्ञातविज्ञानं प्रतिज्ञाय, ''यथा, सोम्य!, एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्. वाचारम्भणं 'विकारो', नामधेयं, 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्'' (छान्दो.६।१।४) इत्यादिना मृत्पिण्ड-लोहमणि-नखनिकृन्तन-दृष्टान्तैः एकोपादानकं कार्यैकदेशम् उदाहृत्य, तस्मिन् एकदेशे यद्विकारत्वरूपो यो धर्मो निश्चितः सएव तु तज्जातीयेषु कार्यान्तरेष्वपि उपलभ्यमानसामान्यो भवतीति, सामान्यलक्षणप्रत्यासत्यैव सर्वज्ञानं

भविष्यतीति, तद्वारणाय प्रकृते ''**'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्**'' इत्यादिना कारणरूपेण सत्यत्वकथनात् मृदादिरूपेण ज्ञानस्यैव विवक्षितत्वं नतु मृण्मयत्वादिरूपेणेति, ततोऽपि वैलक्षण्यबोधनाद्, दृष्टान्ते कार्यकारणयोः कारणताप्रकारस्य च प्रत्यक्षत्वाद्, दार्ष्टान्तिके च कार्यस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वम्.

---

*नन्**''यथा, सौम्य!, एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्... 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्**'' इति श्रुतौ मृदादिरूपेणैव यदि सत्यता प्रतिपादितेति चेद् मृण्मयादिविकारजातानाम् अपार्थकतापि अर्थापत्तिलब्धैवेति घट्टकुट्यां प्रभातः संवृत्तः* इति चेद् न, नहि मृण्मयत्वादिरूपेण मिथ्यात्वम् इह विवक्षितम् अन्यथा 'मृत्तिकैव सत्या' इत्येव श्रुत्या निरूपितं स्यादिति. श्रुतौ अस्यां तावत् 'सत्यम्' इति पदस्य समानलिङ्गकेन 'नामधेयम्' इति पदेन सह अन्वयस्य सूपपाद्यत्वेन असमानलिङ्गकेन 'मृत्तिका' इति पदेन अन्वयकल्पनस्य नितरां क्लिष्टत्वात्. तस्माद् मृद्विकाराणां समेषां 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम् अभिधानं, तेन 'मृदो विकारो' नाम नहि मृत्तिकातो भिन्नः कश्चन पदार्थः इत्यस्यैव अर्थस्य अत्र साम्प्रतत्वं, षष्ठ्याः भेदघटितसम्बन्धवाचकत्ववत् तादात्म्यसम्बन्धवाचकत्वेऽपि बाधाभावात्. ''*ब्रह्मणः सत्ता देशकालस्वरूपपरिच्छेदरहिता*'', ''*ब्रह्मणः चैतन्यं निरुपाधिकम्*'' ''*ब्रह्मणः आनन्दो न वैषयिकः*'' इत्येवमादिवाक्येषु षष्ठ्याः द्विनिष्ठसम्बन्धार्थकत्वेऽपि द्वित्वस्य तादात्म्यान्तर्भूतत्वेन तदद्वैताक्षतिकरत्वात्. संवदतितु इयं तात्पर्यकल्पना श्रुत्युपदिष्टेन एकेन हि उपादानकारणविज्ञानेन तदुपादेयभूतानां सर्वेषां कार्याणां विज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं वा भवितुम् अर्हति इति निरूपणेन. विसंवदति च सर्वथा अधिष्ठानज्ञाननिवर्त्यैन आरोपावभासनकल्पनेन. नहि एकेन शुक्तिकाज्ञानेन तत्र शक्यारोपाणां रङ्गरजतादीनां सर्वेषां प्रतिभासनं वा तादृक्प्रतिभासबाधज्ञानं वा जायते इति वक्तुं शक्यम्. आहच श्रुतिरेव ''**येन अश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातं भवति**'' इति, तच्च श्रुतेन मतेन विज्ञातेन वा अधिष्ठानेन यदि अश्रुतानाम् अमतानाम् अविज्ञातानां वा शक्यारोपाणां पदार्थानां प्रतिभासनं भवेद्, नूनं भवेदेव तदा भ्रान्तिनिवृत्यै वितीर्णो तिलाञ्जलिः. श्रीमच्छंकराचार्यैः एतच्छ्रुतिव्याख्याने विकारजातस्य वस्तुशून्यत्वेऽपि तद्वाचकनामैकगोचरत्वं यत् प्रतिपादितं —

''**कथं मृत्पिण्डे कारणे विज्ञाते कार्यम् अन्यद् विज्ञातं स्याद्?**

ननु कारणस्य कारणताप्रकारस्य चेति प्रतिज्ञासिद्धये तयोः कार्यकारणा-

---

नैष दोषः, कारणेन अनन्यत्वात् कार्यस्य. यद् मन्यसे अन्यस्मिन् विज्ञाते अन्यद् न ज्ञायते इति. सत्यम् एवं स्याद् यदि अन्यत् कारणात् कार्यं स्यात्, नतु एवम् अन्यत् कारणात् कार्यम्. कथं तर्हि इदं लोके 'इदं कारणम्'—'अयम् अस्य विकारः' इति. शृणु! वाचारम्भणं=वागारम्भणं वागालम्बनम् इत्येत्. कोऽसौ विकारः? नामधेयं नामैव नामधेयं... वागालम्बनमात्रं नामैव केवलं न विकारो नाम वस्तु अस्ति परमार्थतः. मृत्तिकेत्येवतु मृत्तिकैव सत्यं वस्तु अस्ति.''

(छान्दो.उ.भा.६।१।४) इति

ततु स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपे मिथ्यात्वे पर्यवस्यद् दार्ष्टान्तिके कार्यभूतस्य प्रपञ्चस्य विवर्तरूपतां ब्रह्मणः च विवर्ताधिष्ठानतां गमयति. नच एतत् सर्वं मायां विना केवले ब्रह्मणि उपपद्यतइति तस्याः विवर्तोपादानत्वमपि पृष्ठलग्नमेव समायाति. सति चैवम् इदमेव तात्पर्यं यदि अस्याः श्रुतेः चेत् तदा प्रकृत्यधिकरणीयं भाष्यं नूनं विपरीतमेव अनेन आलक्ष्यते. तथाहि —

''**यथाहि लोके मृत्सुवर्णादिकम् उपादानकारणं कुलालसुवर्णकारादीन् अधिष्ठातॄन् अपेक्ष्य प्रवर्तते नैवं ब्रह्मणः उपादानकारणस्य सतो अन्यस्य अधिष्ठाता अपेक्ष्यो अस्ति, प्राग् उत्पत्तेः एकमेवाद्वितीयम् इति अवधारणात्. अधिष्ठात्रन्तराभावोऽपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेव उदितो वेदितव्यः. अधिष्ठातरि हि उपादानाद् अन्यस्मिन् अभ्युपगम्यमाने पुनरपि एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य असम्भवात् प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोधएव स्यात्. तस्माद् अधिष्ठात्रन्तराभावाद् आत्मनः कर्तृत्वम् उपादानान्तराभावात् च प्रकृतित्वम्... प्रकृतित्वस्य अयम् अभ्युच्चयः : इतश्च प्रकृतिः ब्रह्म यत्कारणं साक्षाद् ब्रह्मैव कारणम् उपादाय उभौ प्रभवप्रलयौ आम्नायेते... यद्धि यस्मात् प्रभवति यस्मिंश्च प्रलीयते तत् तस्य उपादानं प्रसिद्धं, यथा व्रीहियवादीनां पृथिवी. 'साक्षाद्' इतिच**

भेदस्य च बोधनीयत्वाद्. "यस्तु यस्य आदिः अन्तः च स वै मध्यं च तस्य तद्विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः" (भाग.पुरा.११।२४।१७) इति एकादशस्कन्धवाक्ये पार्थिव-तैजस-पदाभ्यां मृत्पिण्ड-लोहमण्यादि-गोचरी-करणेन एतच्छ्रु- त्युपबृंहणादपि, घटः पटः इत्यादीनां कार्यप्रकाराणां व्यवहारार्थं वाचा संकेतितत्वं नतु तेन रूपेण तेषां वस्तुत्वं किन्तु मृदादिरूपेण. तथा प्रकृते कार्यप्रकाराणां, कारणानन्यत्वेन, सत्यत्वमेव श्रुत्या बोध्यते नतु मिथ्यात्वं शुक्तिरजतादिवत्. अन्यथा तदेव दृष्टान्तीक्रियेत. नापि तत्र सामान्यलक्षणा सम्भवति भ्रमाणाम् अनन्तरूपत्वात्. अतएव सूत्रकारोऽपि "तदनन्यत्वम् 'आरम्भण'शब्दादिभ्यः" (ब्र.सू.२।१।१४) इत्येव असूत्रयत्.

उपादानान्तरानुपादानं दर्शयति... प्रत्यस्तमयश्च न उपादानाद् अन्यत्र कार्यस्य दृष्टः... कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वं शक्यं सम्पादयितुम्? परिणामाद् इति ब्रूमः. पूर्वसिद्धोऽपि हि सन् आत्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामास आत्मानम् इति. विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषु उपलब्धः. 'स्वयम्' इति च विशेषणात् निमित्तान्तरानपेक्षित्वमपि प्रतीयते... यत् पुनः इदम् उक्तम् ईक्षापूर्वकं कर्तृत्वं निमित्तकारणेष्वेव कुलालादिषु लोके दृष्टं न उपादानेषु इत्यादि तत् प्रत्युच्यते : न लोकवद् इह भवितव्यम्. नहि अयम् अनुमानगम्यो अर्थः, शब्दगम्यत्वात्तु अस्य अर्थस्य यथाशब्दम् इह भवितव्यम्."

(ब्र.सू.शां.भा.१।४।२३-२७) इति

यद्यपि भामतीकारैः इह "इयञ्च उपादानपरिणामादिभाषा न विकाराभिप्रायेण अपितु यथा सर्पस्य उपादानं रज्जुः एवं ब्रह्म जगदुपादानम्" इत्येवं वदद्भिः कथञ्चित् कुशकाशावलम्बनेन श्रुतिसूत्रभाष्ययोः समन्वयप्रयासो विहितः. सतु विकारोपादानविवर्ताधिष्ठानयोः ऐक्ये पर्यवस्यन् "वस्तुनः तत्समसत्ताको अन्यथाभावः परिणामः — तदसमसत्ताको विवर्तः" इति विवर्तविकारयोः पार्थक्यमेव अपाकुर्याद्. नच *श्रुत्यर्थस्तु सएव यो भगवत्पादैः अभिवर्णितः सूत्रार्थस्तु गौण्यापि वृत्त्या कथञ्चिद् अध्यारोपापवादेन अन्यथा उन्नेयः* इति वक्तुं साम्प्रतं, शब्दैकगम्ये ब्रह्मण्यपि यथाशब्दाभिप्रायवर्णनस्य स्वाभ्युपगतस्य निर्वाहभङ्गात्. तस्माद्

यत्तु तदनन्यत्वसूत्रे भेदव्यासेधएव क्रियते नतु अभेदो बोध्यते (दृष्ट.ब्र.सू.भाम.२।१।१४) इति कैश्चिद् उक्तं तदपि दृष्टान्तोपरोधादेव परास्तं, व्यासेधिते च भेदे अभेदएव पर्यवसानाद् अभेदपर्यन्तत्वमेव आचार्याशयगोचरं, नोचेत् सन्देहनिराकरणार्थं प्रवृत्तत्वात् 'तन्मिथ्यात्वम्' इत्येव ब्रूयात्. "पुरुषस्य चैतन्यं"- "राहोः शिरः" इत्यादौ या नामधेयमात्रता सापि ज्ञाता सती तयोः अभेदएव पर्यवस्यति, नतु भेदस्य कल्पनामात्रतां गमयित्वा निवर्तते. यदि तावदेव कृत्वा निवर्तेत तर्हि अर्थस्य अभिलापमात्रत्वाद् वन्ध्यासुतादिवत् चैतन्यराहू कदाचिदपि न प्रतीयेयाताम्. "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (पातं.यो.सू.१।९) इति पातञ्जलस्यापि तादृशो भेदएव अत्र लक्ष्यः तस्यैव अवस्तुत्वात्. रज्जुसर्प-मृगतृष्णोदकादिषु यद् व्यासेधमात्रे पर्यवसानं, तत्तु तत्स्वरूपस्य अवस्तुत्वात् नच इह तथा अबाधित-प्रतीतिसिद्धत्वात्. "तद् ह एतत् पश्यन् ऋषिः वामदेवः प्रतिपेदे" (बृह.उप.१।४।१०) इत्यादिश्रवणात्. प्रकृतश्रुतिरपि वाचारम्भणरूपायाः विक्रियायाएव नामधेयतां विधत्ते "वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयम् (छान्दो.उप.६।१।४) इति. यदि कार्यस्वरूपस्यापि वाङ्मात्रताम् अभिप्रेयाद् 'वाचारम्भणं'-'नामधेयम्' इति पदद्वयं न ब्रूयात् एकेनैव चारितार्थ्यात्. अतो वाक्संकेतस्यैव अनृतत्वम् एवं फलतीति स्वरूपं कारणाद् अभिन्नमेव. अतो दृष्टनष्टस्वरूपत्वं स्वरूपेण अनुपाख्यत्वं च सृष्ट्यन्तरविषयकं नतु विषयश्रुति-गोचरमिति कल्पितमेव एतत्. एवमेव दार्ष्टान्तिकवाक्येऽपि "ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्" (छान्दो.उप.६।८।७) इति उक्त्वा अग्रे 'तत्' छब्देन सर्वं परामृश्य तस्य सत्यत्वं विदधती श्रुतिः यदात्मकम् इदं सर्वं सत्यम् उक्तं तत्स्वरूपम् आह "स आत्मा..." (छान्दो.उप..६।८।७) इति. यदि जीवस्य परब्रह्मात्मकत्वं नाभिप्रेयात् 'तत्' पदं पुनः न ब्रूयात्. "स आत्मा त्वम् असि" इत्येतावतैव चारितार्थ्यात्. अतो दार्ष्टान्तिकेऽपि अनभिप्रेतमेव मिथ्यात्वम्. अनृताभिसन्धबन्धना(छान्दो.उ-प.६।१६।१-२)दिकन्तु अनेकान्तिवादिनामेव भीषकं नतु एकान्तिवादिनां, वृक्षशाखोदधितरङ्गवत् नानात्वानङ्गीकारात्.

विवर्ताभिप्रायेण परिणामभाषां श्रुत्वा कश्चन मायायाः पारमार्थिकत्वं ब्रह्मणो वा मिथ्यात्वं मा ऊहिष्टइति व्यर्थएव अयं प्रयासो मन्तव्यः.

"अपागाद् अग्नेः अग्नित्वम्" (छान्दो.उप.६।४।१) इत्यादावपि वाचारम्भाग्नित्वादेरेव अपायो न कारणाभेदस्यापि "त्रीणि रूपाणि इत्येव सत्यम्" (छान्दो.उप.६।४।१) इति कथनात्. यदि कारणाभिन्नस्य अग्न्यादिस्वरूपस्यापि मिथ्यात्वम् अभिप्रेयात् तर्हि अग्न्यादित्वम् अपोह्य "नेदम् इत्येव सत्यम्" इत्येव ब्रूयात्.

ननु इह "अनेकान्तिवादिनामेव भीषकं नतु एकान्तिवादिनां, वृक्षशाखोदधितरङ्गवत् नानात्वानङ्गीकाराद्" इति किम् असम्बद्धप्रलपितमिव उच्यते? यतोहि शुद्धाद्वैतमते तावद् ब्रह्मणो अद्वैतं द्वैतमपि पुनः ब्रह्मणः सर्वभवनसामर्थ्य-सत्यसंकल्पाभ्यां प्रकटितमेव अभ्युपगम्यते. तथापि स्वस्य अनेकान्तवादित्वं न भवति इति कोऽयं व्यामोहप्रचारः? इति चेत् श्रूयतां स्वकीयव्यामोहनिरसनायैव तावद् ब्रह्मवादरहस्यम्. अनेकान्तवादिनो हि तावद् "स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति च नास्ति च, स्याद् अवक्तव्यं च" इत्येवमादिकाः सप्तविधभङ्गिमाः प्रतुष्टूपन्ति. तत्र यदि भावाभावत्मकपदार्थद्वैतवादिनो यदि न अनेकान्तवादिनो, यदिच भावाभावविलक्षणानिवर्चनीयमिथ्याप्रपञ्चवादिनोऽपि नैव अनेकान्तवादिनः, तदा किम् अपराद्धं सत्कारणकसत्कार्यवादिभिः कार्यकारणयोः तादात्म्यं स्वीकुर्वद्भिः? नच *तादात्म्यस्य भेदाभेदघटित्वेनैव अनेकान्तवादसमाश्रयणम्* इति वक्तुं युक्तं, [1]सद्-[2]असद्-[3]सदसद्-[4]सदसद्विलक्षणादिकल्पेषु वयं तावत् सदेकान्तवादिनएव भवामः. [1]द्वैता-[2]ऽद्वैत-[3]द्वैताद्वैत-[4]द्वैताद्वैतविलक्षणादिकल्पेषु पुनः तादात्म्यन्तु तुरीयकोटिकमेव मन्यामहे. तस्मात् सदसद्वादिनां सदसद्विलक्षणवादिनां यथा न अनेकान्तवादित्वं तथैव नास्माकमपि इति अवगन्तव्यम्. अथ केनानि हेतुना चेत् तादात्म्यवादिनाम् अनेकान्तवादित्वं तदा अन्येषामपि तद् वज्रलेपायितमेवेति कोऽत्र विशेषः? नैव नैवहि वयं स्वाभाविकद्वैताद्वैतवादम् अङ्गीकुर्मः, स्वाभाविकन्तु ब्रह्मणो अद्वैतमेव ऐच्छिकन्तु पुनः द्वैतं सच्चिदानन्दैकरसस्य ब्रह्मणो नामरूपकर्मणां वैविध्यप्रकटनाद् अङ्गीकुर्मः, "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मा उ एकः सन् एतत्त्रयम्" (बृह.उप.१।६।१-३) इति तादात्म्यस्य कण्ठतः श्रावितत्वात्.

("सवा एष महानज आत्मा" इति वाक्यार्थनिरूपणम्)

"**सवा एष महान् अजः**" (बृह.उप.४।४।२२) इत्यादिश्रुतयस्तु विरुद्धधर्माधारत्वबोधनेन माहात्म्यमेव परब्रह्मणो गमयन्ति इति व्युत्पादितम् अन्यत्र. अतो यद् अविद्यात्मकत्वं नामरूपजीवव्याकरणादीनाम् अङ्गीकृत्य ईश्वरस्य नामरूपसम्बन्धात् तादृश-तत्कारणत्वादि-समर्थनं तत्तु अप्रज्ञाविलासित-मात्रम् इति निपुणधीभिः अवधेयम्.

("आकाशो वै नामरूपयोः...तद् ब्रह्म" इति वाक्यार्थनिरूपणम्)

"**आकाशो वै नामरूपयोः निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म**" (छान्दो.उप.८।१४।१) इति श्रुतिस्तु तन्निर्वाहकत्वं ब्रह्मणो वक्ति नतु तयोः आविद्यकत्वम्.

('सर्वाणि रूपाणि... यदास्ते' इति श्रुत्यर्थनिरूपणम्)

एवमेव "**सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते**" (तैत्ति.आर.३।७) इत्यपि तयोः कार्यत्वमात्रं वक्तीति पूर्वतुल्यैव. कार्यस्वरूपस्य ब्रह्मात्मकतातु उपपादितैव अधस्तात्. आत्मैकत्वदर्शनस्य अभयमिव परिणत-सर्वभूत-ब्रह्माभेद-दर्शनस्य फलमपि श्रूयतएव, "**तदिदमपि एतर्हि य एवं वेद 'ब्रह्माहमस्मि' इति स इदं सर्वं भवति. तस्य ह न देवाः च ऋषयः च न अभूत्या ईशत. आत्माहि एषां सम्भवति**" (बृह.उप.१।४।१०) इति, भार्गव्यां च विद्यायां "**य एवं वेद प्रतितिष्ठति**" (तैत्ति.उप.३।६) इत्यादि. नच फलजाघन्यं शङ्क्यं, पुत्रेष्टिकारीर्यादिवद् विद्वदौन्मुख्यजननार्थत्वेन अधिकारसम्पादकत्वात्. अस्तु(पा.भे.२८) वा तथा, तथापि अफलत्वं गतमेव इति दिङ्मात्रम् अत्र उक्तम्. विशिष्यतु भाष्यविभागे प्रतिविधास्यामः.

("अनृतापिधाना" इति श्रुतिवाक्यार्थनिरूपणं तैत्तिरीयोपनिषद्वाक्यसङ्गतिः च)

एवम् "**अनृतापिधाना**" (छान्दो.उप.८।३।१) इत्यपि छान्दोग्ये दहरविदः

कामान् उपक्रम्य पठितं **"तएते सत्याः कामाः अनृतापिधानाः तेषां सत्यानाम् अनृतम् अपिधानम्"** (छान्दो.उप.८।३।१) इति, तदपि अन्तरासृष्टावेव पर्यवस्यति, तस्याएव अपिधायकत्वात्. वस्तुतस्तु **"सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवद्"** (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतेः स्वस्यैव बहुभवनम् उपक्रम्य पठनात्; तत्र च 'माया' दिशब्दाभावाद् **"यदिदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते"** (तैत्ति.उप.२।६) इति उपसंहारात् च. 'अनृत' शब्दोऽपि अत्र न मिथ्यावचनः किन्तु द्वैरूप्यकथनप्रस्तावाद् आधिदैविक-सृष्टि-विलक्षणता-मात्रपरः इति तत्र सिद्धत्वात्. प्रकृतेऽपि प्रस्तुतलक्षणापिधानपरो नतु मिथ्यापरः, खपुष्पतुल्येन पिधानासम्भवात्. शुक्तिरजतादावपि बुद्धेः सत्यायाएव तेन रूपेण ख्यानाद् भूतवत्तया पिधानाविरोधः.

("अनृतं वै वाचा...मनसा ध्यायति" इति वचनसमन्वयः)

एतनैव **"अनृतं वै वाचा वदति अनृतं मनसा ध्यायति"** (तैत्ति.ब्राह्म.१।१।४।४।) इत्याद्यपि व्याख्यातप्रायम्.

("इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते" इति श्रुतिवाक्यार्थनिरूपणम्)

"इन्द्रो मायाभिः..." (बृह.उप.२।५।१९) इतितु मायाभिः पुरुरूपदर्शनं वक्ति, नतु तया तथाभवनम्. तया तथाभवने विवक्षिते ऋक्पूर्वार्धएव 'मायया' इति वदेत्. नच *'माया'-'पुरुरूप'-पदयोः समभिव्याहारबलात् तथा अर्थो लप्स्यते* इति वाच्यम्, एतस्य पूर्वोक्तानुवादत्वेन पुरोवादवैलक्षण्यस्य अशक्यवचनत्वात्. नच *तदर्थनिश्चायनार्थमेव अत्र समभिव्याहारः* इति वाच्यं, विनिगमकाभावात्. किञ्च इदंहि वाक्यं मधुब्राह्मणस्थं, तत्रच मैत्रेयीब्राह्मणप्रतिपादितस्य आत्मनः पृथिव्यादिषु विद्यमानत्वम् अमृतब्रह्मसर्वात्मकत्वं च उपक्रमे प्रतिपाद्यते. द्रष्टा ऋषिः मन्त्रः पुरां करणं पक्षिरूपेण तासु प्रवेशं च उक्त्वा सर्वस्य तत्संवृतत्वम् उवाद. तेन प्राप्ते भेदे पूर्व-प्रतिपादित-सर्वरूपत्व-हानिम् आलोक्य तन्निरासेन सर्वरूपत्व-समर्थनाय **"रूपं रूपम्..."** (बृह.उप.२।५।१९) इति मन्त्रः पठ्यते. **"अयं वै

हरयो अयं वै दश च सहस्राणि बहूनि च अनन्तानि च"** (बृह.उप.२।५।१९) इत्यनेन विव्रीयते. ततो यस्य एवं हर्यादिरूपता अत्र उक्ता ब्राह्मणोपक्रमे च अमृतब्रह्मस्वरूपता उक्ता, तस्यैव **"तदेतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम्"** (बृह.उप.२।५।१९) इत्यनेन स्वरूपम् उक्त्वा **"य आत्मा ब्रह्म सर्वानुभूः इति अनुशासनम्"** (बृह.उप.२।५।१९) इति उपसंहतम्. तत्र उपक्रमोपसंहाराभ्यां ब्रह्मणः सर्वरूपता मायां विनैव बोधिता, मन्त्रव्याख्याने च तथैव हर्यादिरूपतेति आत्मनएवच सर्वरूपता अभ्यस्तेति 'सर्वानुभूः' इति उपपत्त्या च मायावाद्यभिमतायाः मायायाः वाक्यार्थविरुद्धत्वाद् अत्र 'माया' शब्देन इन्द्रियवृत्तिरेव उच्यते. **"स्याद् माया शाम्बरी कृपा दम्भो बुद्धिः च"** (अने.को.) इति अनेकार्थकोशे 'माया' पदस्य बुद्धिवाचकताबोधनात् च. अतो न अनेनापि प्रपञ्चस्य अत्र उक्तस्य मायिकत्वसिद्धिः.

("अतो अन्यद् आर्तम्" इति श्रुतिवाक्यार्थनिरूपणम्)

"अतो अन्यद् आर्तम्" (बृह.उप.३।४।२) इतितु ईश्वरातिरिक्तस्य रूपस्य जीवजडात्मकस्य दुःखित्वं बोधयति न मिथ्यात्वं, ब्रह्माभेदस्य श्रुत्यन्तरसिद्धत्वात्. दुःखञ्च आनन्दतिरोभावएवेति तत्रापि न भवदिष्टसिद्धिः.

("मायान्तु प्रकृतिं विद्याद्" इति श्रुतिवाक्यार्थनिरूपणम्)

श्वेताश्वतरीयेतु मायायाः प्रकृतित्वं बोध्यते, तस्याश्च सत्यत्वम् एकादशस्कन्धाद् अवगम्यते, **"तद् मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितं, वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहद्"** (भाग.पुरा.११।२४।३) इति उपक्रम्य **"प्रकृतिर्हि अस्य उपादानम्, आधारः पुरुषः परः, सतो अभिव्यञ्जकः कालो, ब्रह्म तत्त्रितयन्तु अहम्"** (भाग.पुरा.११।२४।१९) इति कथनात्.

("सैषा अविद्या जगत् सर्वम्" इति श्रुतिवाक्यार्थनिरूपणम्)

नच *नृसिंहतापनीये **"सैषा अविद्या जगत् सर्वम्"** (नृसिं.उत्त.ताप.उप.९) इति प्रतिज्ञाय तस्याः तमोरूपत्वमपि अनुभाव्य **"सैषा वटबीजसामान्यवद्**

अनेकवटशक्तिः तद् यथा वटबीजसामान्यम् एकम् अनेकान् स्वाव्यतिरिक्तान् वटांस्तु अबीजान् उत्पाद्य तत्र-तत्र पूर्णं सन्तिष्ठति एवमेव एषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशौ आभासेन करोति मायाच अविद्याच स्वयमेव भवति'' (नृसिं.उत्त.ताप.उप.९) इति कथनात् मायिकत्वमेव सर्वस्य जगतः* इति शङ्कनीयं, तस्याः अन्तरासृष्टिपरत्वात्. **''माययाहि अन्यदिव''** (नृसिं.उत्त.ताप.उप.९) इति उपक्रमेण **''तस्माद् आत्मनएव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमपि''** (नृसिं.उत्त.ताप.उप.९) इति उपसंहारेण च तथा निश्चयात्. अतएव दृष्टान्तो व्याख्यानेन दार्ष्टान्तिके दर्शनम् आदायैव योजितो नतु जननम् आदाय. वटबीजन्तु उत्पाद्य वटेषु पूर्णं सन्तिष्ठति. एषातु उत्पादने तत्र स्थाने च असमर्थत्वात् तादृशानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा स्वयं मायाविद्यारूपादर्शद्वयस्थानीया सती जीवेशौ आभासेन करोतीति तथाच यस्माद् इयम् आभासाधारभूता ब्रह्मादित्रिरूपवती तस्माद् आभास्यस्य आत्मनएव त्रैविध्यम् , आभासाभास्ययोः समानाकारत्वनियमात्. यस्माच्च इयं दर्शयित्र्येव नतु जनयित्री, दर्शनं च जननं विना अनुपपन्नं, तस्माद् आत्मनएव सर्वत्र योनित्वमिति ततएव जातम् इति सिद्ध्यतीत्यनेनापि न जगन्मात्रमायिकत्वसिद्धिः. अतएव उपक्रमेऽपि 'अन्यदिव' इति उक्तं नतु 'अन्यदेव' इति, नापि 'मिथ्यैव' इति. एवञ्च अन्तरासृष्टिं प्रति विवर्तोपादानत्वम् आत्मसृष्टिं प्रति परिणाम्युपादानत्वं ब्रह्मणः इति निश्चयः. इमम् अर्थम् आचार्योऽपि **''आत्मकृतेः परिणामात्''** (ब्र.सू.१।४।२६) **''प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्''** (ब्र.सू.१।४।२३) **''योनिश्च हि गीयते''** (ब्र.सू.१।४।२७) इत्यादि सूत्रयन् अनुमेने. अतो ये मायिकमेव प्रपञ्चम् आहुः ते प्रतारकाएव अज्ञाः वा. यो यादृशं पश्यति सः तादृशं वदति, **'''माया' इति असुराः''** (मुद्गलोप.३।२) इति असुराणां मायोपासकत्वात् तदनुगृहीताः ते यथा पश्यन्ति तथा वदन्तीति तेषामपि न दोषः.

(सृष्टौ तात्पर्याभावात् न तत्र वेदान्तानां प्रामाण्यम् इति शङ्कायाः समाधानम्)

ननु वेदान्तानां ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थं प्रवृत्तत्वेन सृष्टौ तात्पर्याभावात् तत्सत्यत्वं न वेदान्तैः सिद्ध्यतीति युक्तिसिद्धं मिथ्यात्वमेव अङ्गीक्रियताम् इति

चेत् न, सत्यस्य अनुकार्यस्य तादृग्रूपस्य अभावे खपुष्पादिवत् मायिकस्यापि सिद्धेः तत्सिद्ध्यर्थं तादृग्रूपस्य प्रपञ्चान्तरस्य तत्पूर्वसिद्धस्य अवश्याङ्गीकार्यत्वात्. सिद्धेच एवं तस्मिन् प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोध(ब्र.सू.१।४।२३)बलेन ब्रह्मप्रकृतिकस्यैव सिद्धेः तात्पर्याभावं वदतोऽपि श्रुत्यैव तत्सिद्धेः अप्रत्यूहत्वात्. उपपादितञ्च एतद् अधस्तात्.

एतेनैव अध्यारोपापवादपक्षोऽपि प्रत्युक्तो, वास्तविकाभावे अध्यारोपस्यापि अभावेन प्रतीत्यभावापाते अध्यारोपस्य दूरापेतत्वात्.

नच *ब्रह्मणो निराकारत्वात् न इदं साधीयः* इति वाच्यम्, उभयलिङ्गाधिकरण(ब्र.सू.३।२।११)सिद्धस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य पूर्ववादएव व्युत्पादितत्वात्. एतेनैव अकर्तृत्वादेरपि दत्तोत्तरत्वात्. विकृतत्वस्यापि श्रौतत्वादेव परिहारात्. नच द्वैतापत्तिः, तदनन्यत्वादेव तन्निरासात्, प्रतीयमानद्वैतस्य श्रुत्या अवास्तविकत्वबोधनात् च.

'प्रतीयमानद्वैतस्य' इति, द्वैतस्य प्रतीतिः तावद् ब्रह्मवादे अनेकधा व्युत्पादयितुं शक्या. तथाहि एका [क]ब्रह्माज्ञानप्रयुक्ता स्वाभाविकीव. अपरा [ख]ब्रह्मणो लीलास्वरूपान्यतरज्ञानस्य अङ्गभूता तदिच्छाजनिता इति. तत्र प्रथमायाः प्रतीतेरपि द्वौ उपभेदौ [क-१]क्वचन एकत्वात्यन्ताभावग्राहिका [क-२]क्वचिच्च एकत्वसमानाधिकरणद्वित्वग्राहिका इति. तत्र आद्या यथा ''घटः पटो न भवति'' इति, घटपटयोः एकत्वात्यन्ताभावस्य अन्योन्याभावस्य वा ग्राहिका या सेयं ब्रह्मस्वरूपाज्ञानप्रयुक्ता भ्रान्तिरूपैव, **''अत्रहि एते सर्वे एकं भवन्ति''** (बृह.उप.१।४।७) इति श्रुतेः. द्वितीयातु यथा [क-२]शरीरावयवबुद्ध्यपेक्षया मस्तककबन्धौ द्वावपि अवयविबुद्ध्यपेक्षया ''द्वाविमौ मिलितौ एकं शरीरम्'' इति द्वित्वसमानाधिकरणैकत्वग्रहणरूपापि जायते. सापि द्रष्टुः अपेक्षाबुद्धिजन्या स्वाभाविकीव अनुभूयमाना वस्तुतस्तु औपाधिक्येव. ब्रह्मज्ञानस्यापि परोक्षापरोक्षभेदेन द्वैविध्याद् [ख-१]''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'' इत्येवमादिश्रुतिवाक्यजन्ये परोक्षे सर्वैक्यज्ञाने सत्यपि सर्वत्र द्वित्वापरोक्ष्यप्रतीतिस्तु ब्रह्मणो बहुभवनसङ्कल्पमूलैव बोध्या. द्वितीयद्वितीयरूपातु पुनः [ख-२]ब्रह्मापरोक्षज्ञानेन

सर्वत्र ब्रह्मात्मकतायाः स्फूर्तेः द्वैतसहिष्णवद्वैतरूपतादात्म्यस्य ज्ञानाङ्गभूता इति विवेकः. अथ इदम् आशंक्येत नैव एवं सम्भवति इति, तत्र पृच्छामः कोहि भवान् आशङ्कः? किं श्रुतिप्रामाण्यवादुकः कश्चन तार्किको वा श्रुतिप्रामाण्यसंरक्षणपरो ब्रह्माद्वैतमीमासंको वा? तत्र आद्यत्वे **''एकमेव अद्वितीयं... तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय''—''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्''** (छान्दो.उप.६।२।१-३—६।८।७) इति श्रुत्योः प्रामाण्यं वा उपपादनीयं त्यक्तव्यो वा वेदप्रामाण्यवादग्रहः. *ननु न्यायकुसुमाञ्जलिकारैः व्याख्यातएव अयं विषयः तथाहि **''सर्वाविशनिबन्धनश्च सर्वतादात्म्यव्यवहारः 'आत्मैव इदं सर्वम्' इति. यथा एकएव मायावी अश्वो वराहो व्याघ्रो वानरः किन्नरो भिक्षुः तापसो विप्रः इत्यादि''** (न्या.कु.स्त.५) इति किम् अनया कुसृष्ट्या?* इति चेत्, तत्र वदामो न्यायकुसुमाञ्जलिकारैरपि तावद् **''वाग्व्यवहारः च व्यक्तवाचां... स सर्वः स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तो, व्यवहारत्वात्... 'चैत्रमैत्रा'दिपदवद्''** (न्या.कु.स्त.५) इति ईश्वरास्तित्वे प्रमाणं दर्शयद्भिः सर्वेषु पदेषु शक्तिग्राहकत्वं परमेश्वरस्य प्रस्थापितम्. तस्मात् तत्परमेश्वरवाक्यरूपत्वेन अभिमताद् वेदशब्दराशेरेव परमेश्वरास्तित्वस्य शृङ्गग्राहिकया वृत्त्येव प्राथमिको बोधो अभ्युपेयः. तदुपजीविनम् अनीश्वरवादनिराचिकिर्षया प्रवृत्तं परार्थानुमानन्तु स्वोपजीव्यशाब्दबोधोपपत्त्यर्थं सिसाधयिषयैव केवलया पश्चात् प्रवृत्तम् इत्यपि मन्तव्यम्. तथा सति वेदवाक्यानां प्रत्यक्षानुमितितर्कविरोधाद् गौणार्थकल्पनातो वरं वेदप्रमाण्यत्यागः. यथाश्रुतयोः अर्थस्तु अस्माभिः दर्शितएव. अथ ब्रह्ममीमासंको अत्र प्रत्यवस्थायी चेत् सोऽपि प्रष्टव्यो भवति यत् निर्विशेषे सच्चिदानन्दे ब्रह्मणि सत्तायाः चैतन्यस्य आनन्दस्य वा ऐकार्थ्यम् आहोस्विद् अनैकार्थ्यं वा? तत्र यदि ऐकार्थ्यं चेत् **''सत्येऽपि अस्ति ज्ञानता, ज्ञानतायां सत्यत्वं च स्पष्टम्... आनन्दत्वे ज्ञानता, ज्ञानतायाम् आनन्दत्वं विद्यते निर्विशङ्कम्, आनन्दत्वे सत्यता, सत्यतायाम् आनन्दत्वं निर्विवादं प्रसिद्धम्''** (संक्षे.शारी.१।१८६-१८८) इत्येवं न वक्तव्यमेव. अथ *अनेकार्थकत्वेऽपि 'सत्यत्वा'दिवाचकपदानां ब्रह्मणि ऐक्यस्य तादात्म्यस्य वा विवक्षया* एवम् उच्यते चेद्, तदा सर्वस्य जडजीवात्मकस्य जगतोऽपि ब्रह्मात्मकतायां कोऽयं विद्वेषः? नच *बाधितार्थसामानाधिकरण्यन्यायेन गौण्या वृत्त्या तदपि इष्टम्* इति वक्तुं साम्प्रतं, स्वाभ्युपगमविरोधात्. तथाहि

अतो **''बहु स्यां प्रजायेय''** (छान्दो.उप.६।२।३) इति इच्छया ब्रह्मैव स्वभावतो लीलया उच्चनीचप्रपञ्चाकारं भवतीति वास्तविकभेदभानेऽपि न अद्वैतहानिः. अतः आगन्तुकत्वेऽपि घृतद्रवत्ववद् वस्तुधर्मत्वेन धर्मधर्मिणोश्च अभेदेन अदोषात् पूर्वोक्तं निर्व्यलीकम्.

''अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टो नच एतावता शब्दप्रमाणके अर्थे गौणी कल्पना न्याय्या, सर्वत्र अनाश्वासप्रसङ्गाद्'' (ब्र.सू.शां.भा.१।१।७) इति. *ननु मिथो विरुद्धार्थकयो वचनयोः प्रामाण्यसंरक्षणायैव क्वचिद् गौणी कल्पना न दोषाय* इति चेत्, तदपि न चारु, तद्व्यतिरेकेनापि प्रामाण्योपपत्तेः. यथाहि **''नहि 'तत् त्वम् असि' इत्यस्य वाक्यस्य अर्थः—तत् त्वं मृतो भविष्यसि इत्येवं परिणेतुं शक्यः''** (ब्र.सू.शां.भा.३।३।३२) इति उच्यते; तथैव, **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्''** इत्यस्यापि वाक्यस्य बाधितार्थसामानाधिकरण्यन्यायेन—ऐतदात्म्यं नाम मायिकं सर्वम् इत्येवम् अर्थोऽपि परिणेतुं न शक्यः. तस्मात् तूष्णीम्भावएव इह वरम्!

''आगन्तुकत्वेऽपि घृतद्रवत्ववद् वस्तुधर्मत्वेन धर्मधर्मिणोश्च अभेदेन अदोषाद्'' इति, *ननु धर्मो हि नाम आधेयः पदार्थः कश्चन. सच क्वचिद् आधारे वृत्तिमान् भवन् आत्मलाभं व्यनक्ति. नच एतत् सर्वं धर्मधर्मिणोः भेदं विना भवितुम् अर्हति, ''वृत्तिमत्त्वं धर्मः'' इति तल्लक्षणाङ्गीकारात्. अतो धर्मधर्मिणोः अभेदे धर्मधर्मिभावहानिः धर्मधर्मिभावेतु अभेदहानिरिति उभयतःपाशा रज्जुः* इति चेत् न, धर्मधर्मिभाववैविध्यानवबोधात्. प्रथमतो धर्मः तावद् [क/ख]वास्तविकावास्तविकभेदेन द्विविधो भवति, नहि सर्वोऽपि धर्मो वास्तविकएव आहोस्विद् अवास्तसिकएव वा इति केनापि वक्तुं पार्यते. यतः सर्वेषां धर्माणां वास्तविकत्वे मरुमरीचिकातोये प्रतीयमानसत्त्वस्यापि वास्तविकत्वापत्तेः. तथैव सर्वेषां धर्माणाम् अवास्तविकत्वे च सद्वस्तुनि सत्त्वस्य चिति चैतन्यस्यापि वा अवास्तविकत्वापत्त्या जगदान्ध्यं प्रसज्येत. तस्माद् [क]वास्तविकोऽपि धर्मः कश्चिद् [क-अ]इतरनिरपेक्षो भवति कश्चित्तु [क-आ]इतरसापेक्षोऽपि भवति. तदिदं केवलाद्वैतवादिभिः पञ्चपादिकाकृद्भिरपि अभ्युपगन्तव्यमेव **''ननु विषयिणः चिदेकरसस्य कुतो धर्माः,**

ये विपवे अध्यस्येरन्? उच्यते—आनन्दो विपयानुभवो नित्यत्वम् इति सन्ति धर्माः अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिव अवभासन्तइति न दोषः'' (पञ्चपा.प्रथ.वर्ण.) इति प्रतिपादयद्भिः. इहापि [क-अ]नित्यत्वं किल इतरनिरपेक्षो धर्मो [क-आ]विषयानुभवस्तु पुनः विषयसापेक्षएव इति अकामेनापि अङ्गीकर्तव्यमेव. अयम् [क-अ]इतरनिरपेक्षोऽपि धर्मः पुनः द्विविधो भवति—[क-अ-१]स्वाभाविकः [क-अ-२]आगन्तुकः च इति. स [क-अ-१]स्वाभाविकोऽपि धर्मः पुनः द्विविधो भवति—[क-अ-१-य]इतरसाधारणो यथा गोषु पशुत्वं गजसाधारणो धर्मो [क-अ-१-र]असाधारणस्तु सकलगोषु गोत्वरूपोऽपि हि धर्मो. ''जननं जातिः'' इति लक्षणम् आदाय गोत्वरूपो धर्मो यथा स्वाभाविको भवति न तथा [क-अ-२]गवोः खण्डमुण्डत्वरूपौ धर्मौ स्वाभाविकौ भवितुम् अर्हतः. नच इह अस्वाभाविकत्वेऽपि अवास्तविकता केनापि अभ्युपेयते. तथैव [क-आ]इतरसापेक्षोऽपि धर्मो द्विविधो ज्ञेयः—एकः [क-आ-१]स्वसंयुक्तोपाधिप्रयुक्तो अपरस्तु [क-आ-२]स्वासंयुक्तोपाधिप्रयुक्तः. तत्र आद्यो यथा [क-आ-१]आत्मनि शरीरित्वरूपो धर्मो शरीरे च सचेतनत्वरूपो धर्मो वा, जपाकुसुमसन्निधौ स्फटिके रक्तिमा वा यथा. इह शरीरित्वसचेतनत्वरूपौ धर्मौ इतरेतरसंयोगसापेक्षौ, स्फटिकरक्तत्वरूपो धर्मस्तु इतरेतरसामीप्यसापेक्षः उभयविधावपि एतौ औपाधिकावपि सन्तौ न अवास्तविकौ, उपाध्युपहितयोः द्वयोः मिथो मिलनेन अवयविभावापन्नतयेव विलक्षणधर्मजनकत्वात्. तस्यच अवयव्याकृत्येकत्वादिवत् च अवयवस्वभावाजनितत्वेऽपि वस्तुतो तत्र प्रकटत्वेन अवस्तुभूतत्वाभावाद्. अन्यथा अनयैव गत्या अवयविद्रव्यस्यापि अवस्तुत्वापत्तेः दुर्वारत्वप्रसक्तेः. [क-आ-२]असंयुक्तोपाधिप्रयुक्तास्तु धर्माः पितृत्व-पुत्रत्व-पतित्व-पत्नीत्वादयः इतरेतरसापेक्षाअपि न नियमेन इतरेतरसंयुक्ततया गृहीताः भवन्ति. नापि व्यवहारे ते कल्पिताः इति केनापि वक्तुं शक्येत, शास्त्रोदितानाम् अवश्यानुष्ठेयानां पितृत्वादिधर्ममूलककर्तव्यानाम् अकर्तव्यताप्रसक्त्या व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् च. [ख]अवास्तविकोऽपि धर्मो द्विविधः इह आलक्ष्यते—एकः [ख-१]औपाधिकत्वेऽपि स्वाभाविकतया भातो वा मतो वा. यथा ''पीतः शङ्खः'' इति. अत्रहि विषयासम्पृक्तोपाधिरूपेण नेत्रगतकाचकामलादिदोषेण शङ्खे पीतिमां पश्यन्नपि यदा शङ्खं पीतं न मनुते तदातु पुरुषो न भ्रान्तः, तथापि तादृक्प्रतीतिस्तु विषयवस्त्वसम्बद्धौपाधिकी जायतेएव. [ख-२]भ्रान्तिरूपातु

यदा तथाविधदोषग्रस्तः पुरुषः शङ्खं पीतमेव मनुते तदा अवगन्तव्या. अथवा रज्ज्वाम् अन्धकारजनिता सर्पत्वरूपधर्मस्य निरुपाधिकी भ्रान्तिरपि तथा. उभयोरपि धर्मौ आरोपितौ अवास्तविकौ भवतः.

एवं नैकविधेषु धर्मेषु [क-अ-१]वास्तविकत्वे सति इतरनिरपेक्षत्वे सति यः स्वाभाविको धर्मो स, इतरसाधारणो वा असाधारणो वा, उभयथापि धर्मिणा साकं तादात्म्येन वृत्तिमत्तया स्वधर्म्यभिन्नः इति उच्यते. सच्चिदानन्दरूपांशिनो ब्रह्मणो ये स्वभावसिद्धाः धर्माः ते सर्वेऽपि स्वधर्मिणा ब्रह्मणा सह तादात्म्येन अवतिष्ठमानाः ब्रह्मात्मकाएव भवन्ति, ''**अयम् आत्मा अनन्तरो अबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनएव**'' (बृह.उप.४।५।१३) इति श्रुतेः. द्वितीयस्तु ''**पृथक्त्वेन तु यज् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज् ज्ञानं विद्धि राजसम्**'' (भग.गीता.१८।२१) इति भगवदुक्तरीत्या [क-अ-२]आगन्तुको धर्मो बुद्धिगतराजसगुणोद्रेकेतु व्यवहारे भेदघटितो भाति. सएव सात्त्विकगुणोद्रेकेतु ''**सर्वभूतेषु येन एकं भावम् अव्ययम् ईक्षते अविभक्तं विभक्तेषु तज् ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्**'' (भग.गीता.१८।२०)इति वचनात् स्वधर्मिणा तादात्म्यरूपाभेदस्फूर्त्यापि अवभासितो भवति. तस्मादेव सर्वभवनसमर्थस्य ब्रह्मणः सत्यसंकल्पोत्थानि नाम-रूप-कर्माणि सृष्टौ धर्मिरूपवस्तुनो ब्रह्मणो ज्ञानाभावे भेदेन भासमानान्यपि वामदेवादिब्रह्मज्ञानिनां कृते ब्रह्मरूपाण्येव भवन्ति. तद् उक्तं ''**ब्रह्मवा इदम् अग्रे आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति, तद् यो देवानां प्रत्यबुध्यत सएव तद् अभवत्; तथा ऋषीणां तथा मनुष्याणाम्. तद्ध एतत् पश्यन् ऋषिः वामदेवः प्रतिपेदे**'' (बृह.उप.१।४।१०) इति श्रुतौ. स्वाभावाविकधर्मान्तर्भूतौ यौतु—[क-अ-१-य]इतरसाधारणो धर्मो यश्च पुनः [क-अ-१-र]असाधारणो धर्मः—तौ उभावपि अद्वितीयब्रह्मणः इतरस्य सर्वथा अभावादेव स्वरूपदृष्ट्यातु नैव सम्भवतः. लीलायान्तु ''**सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय**'' (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुत्या सत्त्यत्-निरुक्तानिरुक्त-निलयनानिलय-विज्ञानाविज्ञान-सत्यानृतादिभेदेन तस्यैव आविर्भावाद् सुखेन इतरेतरभेदनिरूपणस्य शक्यतया जडजीवेश्वरादिरूपेषु उभयविधावपि धर्मौ आविर्भवतः. एतेन इतरसापेक्षस्य धर्मस्य यौ द्वौ प्रभेदौ—एकः [क-आ-१]स्वसंयुक्तोपाधिप्रयुक्तो धर्मो अपरस्तु [क-आ-२]स्वासंयुक्तोपाधिप्रयुक्तः—तौ

इच्छाच, सर्वभवनसमर्थं ब्रह्मैव धर्मरूपेण भवत् तेन रूपेणापि भवतीति, स्वरूपानतिरिक्ता. नच "सा सर्वदा भवति" इति शङ्कनीयम्, आपादकहेतुभूतस्य कालस्य अभावात्. तस्य भगवच्चेष्टारूपत्वेन पाश्चात्यत्वात्, "योऽयं कालः तस्य ते अव्यक्तबन्धोः चेष्टाम् आहुः चेष्टते येन विश्वम्" (भाग.पुरा.१०।३।२६) इति वाक्यात्. 'ऐक्षत' (छान्दो.उप.६।२।३) 'अकामयत' (तैत्ति.उप.२।६) इत्यादिश्रौतप्रयोगानुरोधात् सहभवनपक्षेऽपि कालस्य सर्वनियामकत्वाद् इच्छामपि नियमयिष्यतीति न सर्वदा भविष्यति.

तत्र एषा प्रक्रिया :—

भगवान् सच्चिदानन्दरूपो धर्मरूपेण भवन् सदंशशक्तिं क्रियां, चिदंशशक्तिं व्यामोहिकां मायाम्, आनन्दरूपस्य

उभावपि भेदघटितौ हि सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणः सदंशचिदंशाभ्यां क्रियमाणायां हि लीलायां सुखेन आविर्भवितुं शक्नुतः. तथा अवास्तविकाः धर्माअपि भगवतो द्वादशशक्तिषु अविद्यायाः परिगणनात् तत्कार्यभूतया व्यामोहकमायया सच्चिदानन्दरूप-धर्मिणः सदादिधर्मान्वयं विनापि प्रदर्शयितुं शक्याः. तद् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः निबन्धारम्भएव "**नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन यः क्रीडति, यो जगद् भूत्वा क्रीडति, यतो जगत् क्रीडति**" इति लीलात्रैविध्यं प्रतिपादयद्भिः.

सर्वविधानां धर्माणाम् एतेषां, तस्माद्, यथायथं भगवतो विविधासु लीलासु प्राकट्यं समुपयोगः प्रयोगो वा. तत्र गोमयपायसन्यायानुसरणम् अकृत्वा वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्या व्यवस्थया व्याख्यानं क्रियते चेत् शास्त्रप्रामाण्यम् अकुण्ठितं तिष्ठेद्. अन्यथा शास्त्रप्रामाण्यं लीयेतएव. सति चैवं कठिनं हि घृतं यथा घृतमेव तथा द्रवीभूतमपि तद् घृतमेव, न अघृतम्. इत्यतो वस्तुधर्मत्वेन कठिनद्रवीभूतयोः घृतयोः एकत्वानपायात् ते उभेअपि वास्तविकधर्मरूपेएवेति, पूर्वसिद्धं कठिनत्वं वा द्रवत्वं वा भवतु पश्चाद्भाविनि अन्यतरस्मिन् आगन्तुकत्वेऽपि वास्तविकत्वानपगमएव. तस्मात् सुष्ठूक्तं "आगन्तुकत्वेऽपि घृतद्रवत्ववद् वस्तुधर्मत्वेन धर्मधर्मिणोश्च अभेदेन अदोषाद्" इति.

जगत्कारणभूतां मायां[गा.भे.२८] च भिनत्ति. तेन धर्माः सच्चिदानन्दाः स्वयं भिद्यमानाः स्वस्वाश्रयं भिन्दन्ति. तदा भगवान् सर्वतः पाणिपादान्तो भवति, साकारतां च आपद्यते. एवं भिन्नोऽपि इच्छया मिलितः सन् अभिन्नइव अखण्डो भवति, तदपेक्षया कार्यरूपस्य अल्पत्वात्. "पूर्णम् अदः पूर्णम् इदम्" (बृह.उप.शान्तिपा.१।१।१) इत्यादौ अयमेव गीयते. अतएव सद्रूपस्य कार्येषु प्रत्येकपर्यवसायित्वम्. 'प्रजायेय' इति इच्छया उत्कर्षापकर्षरूपेण जातत्वाद् आनन्दः उत्कृष्टः. अतएव अन्तर्यामिषु भगवदाकारत्वं न इतरेषु. तदा इतरौ तं सेवमानौ भवतः. तदा सच्चितोः धर्मौ ज्ञानक्रिये आनन्दधर्मरूपेण तिष्ठतः. तदा आनन्दो ज्ञानक्रियाशक्तिमान् भवति. तदा चिदंशशक्तिः ज्ञानधर्मस्य आनन्दे गतत्वात् चिदंशं मोहयति. तदा सः प्राणधारणप्रयत्नं कुर्वन् जीवो भवति. सदंशस्तु क्रियाशक्तेः गतत्वाद् जडत्वम् आपद्यते. ततो मूलभूतक्रियांशाभिः क्रियाभिः यथायथं महदादिक्रमेण वा अन्येन श्रौतेन क्रमेण वा अभिव्यज्यते. तस्याः तत्कृतधर्मस्य वा तिरोभावे तिरोभवति. (द्रष्टव्या : सुबो.२।९।१).

इत्यादिरूपा सुबोधिनीतो अवगन्तव्या. सेयं प्रक्रिया सर्वश्रुतिवाक्यानुरोधेन श्रुतार्थापत्तिसिद्धा सर्वत्रैव उपयुज्यते. अन्यथाप्रक्रियातु वाक्यानि बाधते. वाक्यानितु गौरवभयात् सुबोधिनीविवृतौ लिखितत्वात् च अत्र न लिख्यन्ते, तथा क्रमभेदाः च. तस्माद् ब्रह्मणः सकाशाद् जगदुत्पत्तौ न कोऽपि दोषः.

(ब्रह्मणइव ब्रह्मपरिणामप्रक्रियायाअपि युक्त्यगोचरत्वनिरूपणम्)

वस्तुतस्तु उभयलिङ्गाधिकरण(ब्र.सू.३।२।११)रीत्या ब्रह्मणः स्वतएव सर्वाकारत्वस्य पूर्ववादएव साधितत्वात् स्वतन्त्रं ब्रह्म क्रीडद् यदा-यदा यद्-यद्रूपं बुद्धेः शब्दस्य इन्द्रियाणां वा गोचरीकरोति तदा-तदा तत्तद् आविर्भूतं लोकशास्त्रादिव्यवहारविषयं भवति. यच्च यतः तिरोभावयति

तत् न भवतीति मुख्यसिद्धान्ते परिणामोऽपि न विचारविषयो, युक्त्यगोचरत्वस्य भूषणत्वात्. अतएव ''न अयम् आत्मा...'' (कठोप.२।२३) इत्यादिश्रुतिभिः भगवत्सामर्थ्येनैव भगवान् प्रकाशो न इतरसामर्थ्येनेति न कोऽपि चोद्यावसरः. अतएव वृत(परमेष्ठि!)सूक्ते **''इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदिवा आदधे यदिवा न, योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदिवा न वेद''** (ऋक्संहि.१०।१२९।७) इति उक्तम्. तथाच यदि आदधे तदा उक्तरीत्या ततो जाता. यदिच न आदधे तदा स्वयमेव तथा आविर्भूतः इति अर्थः. नच *सूक्तारम्भे तमसः उक्तत्वात् मायिकत्वं शक्यशङ्क*, तत्रापि ''तम आसीत् तमसा गूढम्'' (ऋक्संहि.१०।१२९।१) इति कर्मकर्तृव्यपदेशात्, ''सदेव...'' (छान्दो.उप.६।२।१) इति सावधारणश्रुत्यनुरोधात्, पूर्ववादे ब्रह्मणः सर्वशब्दवाच्यत्वव्यवस्थापने शङ्कानिरासात् च. तस्मात् पूर्वोक्तम् अविवादम्

'' 'सदेव' इति सावधारणश्रुत्यनुरोधाद्'' इति. *ननु **''न असद् आसीद् नो सद् आसीद्''** (ऋक्संहि.१०।१२९।२) इति श्रुतौ जगत्तदुपादानभूतमायायाः सदसद्विलक्षणमिथ्यात्वस्यापि उपलम्भात् **''सदेव...''** इत्येवमादिवचनानाम् अधिष्ठानसत्त्वानुगमतयापि व्याख्यानसम्भवेन अन्यथोपपत्तिः शक्या* इति चेत् न, सदसद्वैलक्षण्यस्यैव अनुपपत्तेः. तथाहि अद्वैतसिद्धौ तावद् सदसद्वैलक्षण्यरूपमिथ्यात्वसाधकदृश्यत्वहेतूपपत्तौ **''वस्तुतस्तु शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम्''** इति अङ्गीकृतम्. तत्र मिथ्यात्वन्तु **''सद्भिन्नत्वे सति असद्भिन्नत्वे सति सदसद्भिन्नत्वा''**दिरूपं पारिभाषिकमेवेति शब्दजन्यवृत्तिविषयतां नातिक्रामति. किञ्च प्रत्यक्षस्य सन्मात्रग्राहित्ववादिनां मते मिथ्यात्वस्य प्रत्यक्षेण गृहीतुम् अशक्यत्वेन **''न असद् आसीद् नो सद् आसीद्''** इति श्रुत्यैव सिद्धत्वेतु पुनः शब्दजन्यवृत्तिविषयत्वेनैव मिथ्यात्वसाधने दृश्यत्वस्य असाधकत्वापत्तिः. यदितु प्रतीतिबाधान्यथानुपपत्तिमूलकस्य मिथ्यात्वस्य शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वं विवक्षितं चेत्, तदा सुस्पष्टं प्रपञ्चस्य दृश्यत्वं न केवलं वृत्तिव्याप्यत्वरूपं किमुत फलव्याप्यवृत्तिव्याप्यत्वोभयसाधारणम्. तन्निष्ठस्य मिथ्यात्वस्य दृश्यत्वन्तु पुनः शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वरूपमिति अन्यादृशमेव स्यात्. तेन फलव्याप्यत्वमेव हेतौ उपाधिः. दृश्यत्वस्य सप्रकारकवृत्तिविषयत्वेतु 'सत्त्वेन-प्रतीत्यनर्हत्व'प्रकारकज्ञानाविषयत्वे असतो मिथ्यात्वाव्यतिरेकः. तेन असद्भिन्नत्वाभावाद् मिथ्यात्वलक्षणानुपपत्ति. तथाविधज्ञानविषयत्वेतु हेतोः असति व्यभिचारः. नापि विशेष्याभावाद् उपपत्तिः,

इति दिक्.

(सृष्टेः चातुर्विध्यनिरूपणम्)

एवञ्च प्रपञ्चः सामान्यतः चतुर्धा सिद्धः :—

(१)ब्रह्मणः स्वतएव सर्वाकारत्वाद् ब्रह्मरूपो गुणातीतः एकः.

(२)केनापि, श्रौतेन पौराणादिना वा क्रमेण इच्छया

विशेष्याभावे तत्प्रतियोगिकभेदानुपपत्तेः. किञ्च **''न असद् आसीत् नो सद् आसीद्''** इति श्रुतौ निषेध्ये सदसती न तावद् ''बाधानर्हत्व-क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्व''रूपे अङ्गीकर्तुं शक्ये, **''आनीद् अवातं... तस्माद्ध अन्यत् न परः किञ्चन आस''** (ऋक्संहि.तत्रैव) इति उत्तरवाक्यांशसिद्धस्य मायावरणविक्षेपादिसकलद्वैतरहितस्य ब्रह्मणोऽपि सृष्टेः पूर्वं निषेध्यत्वप्रसक्त्या सर्वशून्यतायामेव पर्यवसानं स्यात्. नापि बाधानर्हत्वरूपसत्त्वानिषेधे मिथ्यात्वसिद्धिरिति उभयतःपाशः. यत्तु अद्वैतसिद्धिकाराः *श्रुत्यर्थापत्त्युपपत्तौ* अस्याः श्रुतेः पारमार्थिकापारमार्थिकत्वाभ्याम् अन्यार्थानाम् अप्रसिद्धार्थकत्वेन सदसद्विलक्षणत्वएव पर्यवसानं साधयन्ति तदपि **''असति सत् प्रतिष्ठितं, सति भूतं प्रतिष्ठितं, भूतं ह भव्ये आहितं, भव्यं भूते प्रतिष्ठितं, तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि...''** (अथर्वसंहि.१७।१।१९) इत्यस्यां श्रुतौ सदसतोः इतरेतरप्रतिष्ठित्वबोधनाद् अशक्यमेव. **'' 'सदसच्च', 'सन्'=मूर्तं 'असद्'=अमूर्तम्''** (प्रश्नोप.शां.भा.२।५) इत्येवमादिषु बहुषु भाष्यकृद्वचनेषु स्थूलसूक्ष्ममूर्तामूर्तकार्यकारणार्थकत्वाद्यर्थेषु प्रसिद्धिसद्भावाच्चापि तदितरेतराभ्यां विलक्षणस्य स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपस्य मिथ्यात्वस्य श्रुतार्थापत्तिम् अन्यथैव करोति. अपिच **''अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तत् न असद् उच्यते''** (भग.गीता.१३।१२) इत्यस्य मधुसूदन्यां स्वयंहि **''विधिमुखेन प्रमाणस्य विषयः 'सच्'छब्देन उच्यते. निषेधमुखेन प्रमाणस्य विषयस्तु 'असच्'छब्देन. इदन्तु तदुभयविलक्षणं निर्विशेषत्वात्... यस्मात् तद् ब्रह्म न सद्=भावत्वाश्रयो, न असद्=अभावत्वाश्रयो, अतो न उच्यते केनापि वृत्त्या, शब्दप्रवृत्तिहेतूनां तत्र असम्भवाद्''** (भग.गीता.मधु.१३।१२) इति स्वप्रख्यापितार्थमपि अद्वैतसिद्धिकाराः विस्मरन्ति हन्तेति चित्रम् एतत्.

मुख्यशक्त्या वा निर्गमितो अनेकविधो घृतद्रवत्ववद् ब्रह्मधर्मात्मकविकारशाली ब्रह्मपरिणामो द्वितीयः.

तत्र श्रौतो घटितपात्रवद् इच्छया कृतः पौराणस्तु मायां प्रतिकृतिरूपां सञ्चायिकां विधाय तन्मध्ये पूरितपात्रवत् कृतः मायोपदिग्ध इति तयोःभेदः.

(३)एतदुपदेहभूतो मायोपादानकः प्राकृतविकारशालिव्याव हारिको ब्रह्मविवर्तात्मा तृतीयः.

तथा

(४)अविद्यायाः निद्राचिन्तादिभेदेन अनेकत्वात् तन्निमित्तकः तदुपादानको वा शुक्तिरजतस्वाप्निकादिरूपो अन्तः-करणविकारात्मा व्यवहारदुष्टेन्द्रियादिगोचरः तुरीयः.

श्रीमदाचार्यरणाः सुबोधिन्यां "प्रमाणभूतो वेदः 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इति आह, ब्रह्मविदां प्रतीतिरपि तथा. भ्रान्तप्रतीतेस्तु न अर्थनियामकत्वम् अन्यथा भ्रमद्दृष्ट्या गृहीतं जगद् भ्रमद्रूपमेव स्याद्. अतो विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या यया दृष्टिः सविषया स्यात्... विषयता मायाजन्या विषयो भगवान्. मायायामेव विषयतारूपं भगवतः स्वरूपं प्रकटितमिति तदपि न निःस्वभावम्. आत्मशक्तित्वाद् मायापि न निःस्वभावा. चिद्विलासत्वाद् बुद्धेः; परं, तामेव व्यामोहयति यावद् न ब्रह्मभावः. बुद्धिस्तु चिद्विलासइति न मायाजनिता. अन्यथा ब्रह्मविदोऽपि बुद्धिः तथा स्यात्. ततश्च सर्वविप्लवः" (सुबो.२।९।३३) इति प्रतिपादयन्ति. तस्माद् विषयाणां नाम-रूप-कर्मात्मकाः धर्माः वास्तविकाः, येषां सृष्टेः आद्यद्वयप्रकारयोः प्राकट्यम्. विषयतारूपाः धर्मास्तु व्यामोहकमायोद्भासिता-एव. राजस-तामसगुणोद्रेकग्रस्तायां बुद्धावेव तेषां प्राकट्यं न बहिः इति विवेकः. यत्रतु पुनः धर्माणां सर्वेषां भिन्नत्वमेव आहोस्विद् मिथ्यात्वमेव इत्येतादृशी मतिः सातु "यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये... अतत्त्वार्थवद् अल्पञ्च तत्तामसम्" (भग.गीता.१८।२२) इति वाक्याद् बुद्धौ तामसगुणोद्रेकाद् इति भगवतो मतिः.

अथ तत्त्वार्थदीपनिबन्धे शास्त्रार्थप्रकरणोक्तानां "एवं कदाचिद् भगवान्

एतौ द्वावपि मायिकौ प्रपञ्चौ विषयधर्मत्वाद् 'विषयता' शब्देन अत्र परिभाष्येते, मायिकत्वेऽपि विषयनिष्ठतया भासमानत्वात्. यथा सदृशधर्माः भिन्ननिष्ठाअपि तद्गतत्वेन उच्यन्ते, "*तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्*" इति तद्वत्. अत्र आद्या विषयता व्यामोहकमायाकार्यत्वात् मायानिष्ठापि मायया विषयोपदेहाद् विषये प्रतीयतइति मायावादिनो विषयं मायिकम् इति अभिमन्यन्ते. बुधास्तु निर्विचिकित्से शास्त्रज्ञाने जाते उपदेहात्मिकां विषयतां घटभ्रमणवत् पश्यन्तोऽपि तां न्यक्कृत्य विषयं ब्रह्मात्मकं वदन्ति. जातसाक्षात्काराः शुकादितुल्यास्तु, यथा अस्मदादयः प्रतिबिम्बम्, एवम् अतिरिक्तामेव विषयतां पश्यन्तीति तादृक्तादृगधिकारिषु तथा-तथा वदन्ति. "विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रम्" (भाग.पुरा.३।१०।१२) इति "सर्वं मायेति तर्केण" (भाग.पुरा.११।१८।२७) इति च. भगवानपि "यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः, नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्" (भाग.पुरा.११।७।७) इति वदति शुक्तिरजतादिसंग्रहाय, शुक्तिरजतादिकं

साक्षात् सर्वं करोति अजः, कदाचित् पुरुषद्वारा कदाचित् पुनः अन्यथा. कदाचित् सर्वम् आत्मैव भवति इह जनार्दनो महेन्द्रजालवत् सर्वं कदाचिद् मायया असृजत् तदा ज्ञानादयः सर्वे वार्तामात्रं न वस्तुतः. वियदादि जगत् सृष्ट्वा तदाविश्य द्विरूपतो जीवान्तर्यामिभेदेन क्रीडति स्म हरिः क्वचिद्, अचिन्त्यानन्तशक्तेः तद् यद् एतद् उपपद्यते. अतएव श्रुतौ उक्ताः सृष्टेः भेदाः हि अनेकधा" (त.दी.नि.१।३६-४०) इति तेषां हि अनेकविधसृष्टिप्रकाराणां यथायथम् अत्रैव अन्तर्भावः ऊह्यः.

* ननु एकस्यैव अद्वितीयस्य सच्चिदानन्दरूपस्य ब्रह्मणो अभिन्ननिमित्तोपादान-त्वाङ्गीकारे सर्वविधासु सृष्टिषु सत्ताचैतन्यानन्दादीनाम् अन्वयः कुतो न उपलभ्यते कुतश्च वा न स्वीक्रियते का हानिः इह भवित्री? इति चेत् न, यस्माद् न उपलभ्यते तस्माद् आत्मनो अविद्यैव उपालम्भनीया. ब्रह्मवादिभिस्तु अस्माभिः क्वचिद् धर्मतिरोभावः क्वचिच्च धर्मितिरोभावः क्वचित्तु धर्मधर्मिणोः उभयोः सत्त्वेऽपि तयोः एकतरस्य उभयोः वा अविद्यावशाद् अनुभवाक्षमतापि भगवल्लीलेच्छाप्रयुक्ता अङ्गीक्रियते. किञ्च नच अयम् अस्ति नियमो यत्

च अन्तःकरणादिगतमेव. जीवव्यामोहिकया तया तदन्तःकरण-बहिःकरणयोरेव तदुत्पादनात्. विषयदेशे प्रतीतिस्तु संस्कारादिप्राबल्यतया व्यत्यासात्. नच "व्यत्यासो न शक्यवचनः" इति शङ्क्यं, भ्रमदृष्ट्या घटादिदर्शने तथा निश्चयात्. चक्षुरादिनिष्ठायाएव भ्रमेः घटादौ भानात्. अन्यथा सर्वेषामपि तथा भानप्रसङ्गात्. नच "इन्द्रजालादौ सर्वेषां तथाभानाद् विषयदेशएव सा विषयता उत्पद्यतइति व्यत्यासो न युक्तिसहः" इति वाच्यं, तत्रापि सामाजिकचक्षुःष्वेव तदुत्पत्तेः. अन्यथा दूराद् आगतस्यापि तददर्शनाभावप्रसक्तेः. "जित्वा बलाद् निबद्धाक्षान् नटो हरति तद्धनम्" (भाग.पुरा.८।११।४) इति वाक्यात् तथा प्रसिद्धेश्चेति न कोऽपि क्वापि(पा.भे.२९) शङ्कांशः(पा.भे.३०)

(स्वमतवैशिष्ट्यनिरूपणेन उपसंहारः)

ननु अस्तु एवं तथापि नाशोत्पत्तिभेदेष्टानिष्टशुद्धाशुद्धादि-प्रतीतीनां जायमानत्वाद् वादिप्रतिवादिनोः प्रापञ्चिकप्रतीतौ आपततो न कोपि विशेषः इति चेत् किम् एतावता! वस्तुतस्तु अस्ति विशेषो. यथा चतुरतर-तक्षनिर्मितो यन्त्रेण सञ्चरन्नपि काष्ठकेशरी भुजङ्गमो वा ज्ञाततत्वस्य न भयादिकं जनयितुं शक्नोति प्रत्युत कुतुकं निर्मातृमाहात्म्यमेव च ख्यापयति; तथा, प्रकृतप्रतीतिरपि विस्मयम् उत्पादयन्ती भगवतोऽपि अलौकिकं माहात्म्यमेव व्याचष्टे, नतु इतरवत् संसारयति इति. एतेन भगवन्मूर्ति-दर्शनादौ भक्ताभक्तादीनां विषय-विषयतयोरेव यथायथं बोधइति न कोऽपि क्वापि शङ्कांशः इति दिक्.

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाम्बुजचेतसा।

सर्वेषां कारणधर्माणां कार्येषु प्राकट्यं वा प्रत्यभिज्ञानं वा कारणगतं सर्वविधार्थक्रियाकारित्वं वा नियमेन भवितव्यमेव. यथाच आहुः न्यायकुसुमाञ्जलिकाराः "यज्जातीयात् कारणात् यज्जातीयं कार्यं दृश्यते तथाभूतात् तथाभूतमात्रम् अनुमातव्यं नतु यावद्धर्मकं कारणं तावद्धर्मकं कार्यं व्यभिचारादिति किम् अनेन अप्रस्तुतेन?" (न्या.कु.स्त.१) इति अचिन्त्यानन्तशक्तिमति ब्रह्मणि न किं-किं समुपपद्येत?

निबन्धाद्युक्तमार्गेण सृष्टेर्भेदो निरूपितः ॥८॥

इति श्रीमद्-वल्लभाचार्यमतवर्ति-श्रीवल्लभनन्दनचरणैकतान-
श्रीपीताम्बरतनुज-पुरुषोत्तम-विरचित-पञ्चमः
सृष्टिभेदवादः सम्पूर्णतामगात्

तदेतत् सर्वं ब्रह्ममाहात्म्यबोधनेन भक्त्युपकारायैव इति हृदयम्.

सम्पादितेन मूलेन तथा सिद्धप्रयोजना।
पांक्तालापनरूपातु व्याख्या न लिखिता मया॥
सृष्टिभेदोपपाद्यानाम् अंशानामुपपादिका।
विवृता कृपया येषां ते प्रसीदन्त्वहर्निशम्॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्रीपुरुषोत्तमचरणकृपाधनेन श्याममनोहरेण
विरचिता 'सृष्टिभेदप्रकाशिका'ख्या
विवृत्तिः सम्पूर्णा

पाठभेदावली

१.'प्रागभावादिकारणत्वाद्' इति क पाठः. २."जन्या या कृतिः तया अजन्यम्" इति आशयः. अथवा "जन्यो देहवान् यः तस्य कृत्या अजन्यम्" इत्यपि युक्तम्. ३.इदं क पुस्तके नास्ति. ४.'मृत्तिकादिः' इति ख पाठः. ५.'तोप'/'बन्दूक' इति भाषा इति क. ६.ग्रन्थकृद्धस्ताक्षरीये 'तर्कपादे' इति पाठो अस्तीत्यतो मुद्रितः 'तर्कवादे' इति पाठस्तु अशुद्धएव. ७.'स्व'इति ख पुस्तके नास्ति. ८.'तत्संघाद्' इति मूलाक्षरे भाति. ९.'तयापि' इत्यपि पाठः. १०."ननु यत्र पक्वे" इत्येतावान् अंशो मूलाक्षरे पंक्त्यन्तश्लिष्टो नास्ति किन्तु पत्रशीर्षभागे लिखितो दृश्यते. ११.मूलाक्षरे न किन्तु पत्रशीर्षभागे. १२.इत आरभ्य "आत्मान्यत्वे" इत्यन्तः पाठः ख पुस्तके नास्ति. १३.'कार्यजन्यत्वाद्' इति क पाठः. १४.'परिस्थितिः' इति मु.पा. १५."इति सुखादिकत्वे" इति ख पाठः. १६.'रूपत्वे' इति ख पाठः. १७.'शक्या' इति ख पाठः. १८.'पदनेषु' इति मु.पा. १९.'अतीत' इति ख पाठः. २०.'धान्याद्' इति ख पाठः. २१.'जाग्रत्यनुभव' इति क पाठः. २२.'मायिकवद्' इति ख पाठः. २३.'विवर्तितः' इति ख पाठः. २४.'दृष्टान्तिमे' इत्यपि पाठः उपलभ्यते. निजहस्ताक्षरीयमातृकायामपि

अयं भागः त्रुटितो अस्ति. तथात्वे "दृष्टश्च असौ अन्तिमश्च=दृष्टान्तिमः, तस्मिन् दृष्टान्तिमे" इति विग्रहः स्यात्. २५."त्वदमिमतं तमेव आदाय" इत्यपि पाठः. २६.अत्र मुद्रितपाठोक्तः श्लोकस्तु अशुद्धएव त्रयोदशाध्याये अनुपलम्भात्. २७.'वस्तुवा' इति प्रतिभूपुस्तकद्वयेऽपि अशुद्धएव पाठः उपलब्धः. २८.'सर्वभवनसामर्थ्यरूपाम्' इति यावत्. २९.'क्वापि' इति क्वचित् नास्ति. ३०.'शङ्कालेशः' इति ख पुस्तकम्.



।। अवतारवादावल्यां ।।

षष्ठः

।। आविर्भावतिरोभाववादः ।।

(मङ्गलाचरणेन उपक्रमः)

यदाविर्भाव आनन्द[१] आविर्भवति सर्वतः ।।
तिरोभवन्ति सन्तापास् तं श्रये गोकुलेश्वरम् ।।१।।

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

आविर्भावतिरोभावप्रकाशिका

एकमेवाद्वितीयं यद्ब्रह्माविर्भवति नैकधा।
कर्मणा नामरूपाभ्यां बृहन्तं तद् विचिन्तये ।।

अथ प्रारिप्सितस्य वादस्य आविर्भावतिरोभावरूपविषयवस्तुस्वरूपं निरूपयितुं तयोः खलु भगवच्छक्तिरूपतां च द्योतयितुं तादृक्शक्तिमतो भगवतः समाश्रयणमुखेन मङ्गलम् आचरन्ति **यदाविर्भावे** इति. *ननु श्रुतिप्रामाण्यवादिभिः शाङ्करवेदान्तिभिः नैयायिकैः च उपस्थापिते विवर्तवादे आरम्भवादेपि वा जागरूके कथम् अकस्माद् आविर्भावतिरोभाववादः प्रस्तूयते? आविर्भावतिरोभावशीलस्य जगतो हि नित्यत्वे तदुत्पत्तिसंहारबोधकानां शास्त्रवचनानाम् अप्रामाण्यप्रसक्तेः च. अथ अनित्यत्वेतु जगतो हि आविर्भावतिरोभावौ उत्पत्तिविनाशापरपर्यायावेवेति व्यर्थोऽयं प्रयासः* इति चेत् न, श्रुतिसिद्धयोः हि सत्कार्यसत्कारणवादयोः जागरूकयोः विवर्तारम्भवादौ

१." 'आनन्दः' इति सर्वेभ्यो हेतुभ्यः स्वस्मिन् आत्मनि आविर्भवति इति अर्थः" इति (नि.ह.लि.टि.).

नैव प्रामाणिकौ भवितुम् अर्हतः. तथाच छान्दोग्योपनिषदि तावत् श्रूयते ''**तद्ध एके आहुः 'असदेव इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तस्माद् असतः सद् जायत', कुतस्तु खलु, सौम्य!, एवं स्यादिति कथम् असतः सद् जायेत? इति सत्त्वेव, सौम्य!,** इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत '**बहु स्यां प्रजायेय**' '' (छान्दो.उप.६।२।१-२) इति. एवं हि असतः कारणतायाः कार्यतायाः च श्रुत्या कण्ठतो निराकरणाद् तावेतौ उभावपि वादौ अश्रौतावेव. नापि नामरूपकर्मणाम् आविर्भावतिरोभावौ अश्रौतौ * इति वक्तुं साम्प्रतं, छान्दोग्यबृहदारण्यकोपनिषदोः आविर्भावतिरोभावयोः निरूपणोपलम्भादेव. तथाहि ''**आत्मतः आविर्भावतिरोभावौ**''—''**तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तत् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत 'असौनाम अयम् इदंरूप' इति. तदिदमपि एतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते...**'' - ''**सा ह इयम् ईक्षाञ्चक्रे 'कथन्नु मा आत्मनएव जनयित्वा सम्भवति हन्त! तिरोसानि' इति सा गौः अभवद्, ऋषभः इतरः तां समेव अभवत्. ततो गावो अजायन्त. वडवा इतरा अभवद् अश्ववृष इतरो...**''(छान्दो.उप.७।२६।१ — बृह.उप.१।४।४) इति.

ननु सर्वम् एतद् अनाद्यविनाशिनि चिदेकरसे ब्रह्मणि स्वतो अनुपपद्यमानं सत् मायोपाधिकृतं मिथ्यावभासनमेव इति प्रमाणयति इति चेत् न, '**एकमेव अद्वितीयम्**'इति श्रुतिविरुद्धतया तादृङ्मायायाः जगद्धेतुत्वे प्रमाणाभावाद्. मायायाश्च पुनः हेतुत्वाङ्गीकारे ब्रह्मणो हि ''**जन्माद्यस्य यतः**'' (ब्र.सू.१।१।२) इति सूत्रोक्तलक्षणे अतिव्याप्तिदोषापत्तेः. नच * सूत्रस्यास्य मायोपाधिके ब्रह्मणि तात्पर्यात् न क्षतिः * इति वाच्यम्, तस्य शुद्धाद् भिन्नत्वे अद्वितीयत्वक्षतेः, जिज्ञास्यप्रतिपाद्ययोः ब्रह्मणोः मिथो द्वैतं विना मायोपाधिकब्रह्मणो निरूपणाशक्यत्वेन ''*आम्रान् पृष्टः कोविदारान् व्याचष्टे*'' इति न्यायानुसरणप्रसङ्गात् च. नच * मायायाः सदसद्विलक्षणतया न तदुपहितब्रह्मणा सद्वितीयतापत्तिः * इति वाच्यम्, 'इदमा' निर्दिष्टस्य अस्य जगतः आविर्भावात् पूर्वमपि ''**सत्त्वेव इदम् अग्रे आसीद्**'' इति सत्त्वस्यैव अवधारणेन सदसद्विलक्षणमायोपादानकत्वेतु सदसद्विलक्षणत्वावश्यम्भावेनापि सत्त्वानुपपत्तेः तादवस्थ्यात्. तस्माद् मायावादाभिमतो विवर्तवादो न श्रौतः.

तस्यैतस्य वादस्य यथा श्रौतौ सत्कार्यसत्कारणवादौ मूलभूतौ तथा उपादानोपादेयांशांशितादात्म्यवादो अविकृतपरिणामवादः च इति द्वौ वादौ एतन्मूलकौ विज्ञेयौ. तत्रापि भगवती श्रुतिरेव प्रमाणं तथाहि प्रथमे वादे तावद् ''**ऐतादात्म्यम् इदं सर्वं, स आत्मा, तत् त्वम् असि**'' (छान्दो.उप.६।८।७) इति उपादानोपादेययोः ब्रह्मजगतोः यथा तादात्म्यं तथैव अंशांशयोः ब्रह्मजीवयोरपि तादात्म्यं कण्ठतः इह प्रतिपादितमेव. अविकृतपरिणामवादस्तु पुनः ''**वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्**'' (छान्दो.उप.६।१।४) इति ''**चिद्रूपएव अविकारो हि उपलब्धा सर्वत्र, नहि अस्ति द्वैतसिद्धिः, आत्मैव सिद्धो अद्वितीयो, मायया हि अन्यदिव. सवा एष आत्मा परएव. एषएव सर्वम्**'' (नृसिं.उत्त.ता.उप.९) इति अविकृतस्यैव आत्मनः सर्वरूपता निरूपिता. एवम् इह वादपञ्चकं क्रोडीकृतं समवधेयम्.

इह हि केचन भागवतपरायणाः सन्तोऽपि प्रत्यवतिष्ठन्ते तथाहि : सदसद्विलक्षणमायायाः तदुपात्तप्रपञ्चमिथ्यात्वस्य च अङ्गीकारो हि यदि मायावादत्वेन निन्द्यते चेत् तदा श्रीभागवतेऽपि अस्य उपलम्भात् तदप्रामाण्यप्रसक्तिरपि दुरुद्धरा भवेद् इति. तथाहि ''**सएव इदं ससर्ज अग्रे भगवान् आत्ममायया सदसद्रूपया**'', ''**सा वा एतस्य सन्द्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका माया नाम... यया इदं निर्ममे जगत्**'', ''**यस्मिन् इदं सदसदात्मतया विभाति माया विवेकविधुति स्रजि वाहिबुद्धिः**'' (भाग.पुरा.१।२।३०, ३।५।२५, ४।२२।३८) इत्येवमादिषु नैकवचनेषु सदसद्विलक्षणरूपायाः मायायाः सृष्टिहेतुत्वेन समुल्लेखात्.

अत्र ब्रूमः सोऽयं हि महानेव मायिको धूलिप्रक्षेपो! यतोहि एतदादिवचनोक्तं सदसदात्मकत्वं यदि सदसद्विलक्षणमिथ्यात्वरूपं चेत्, तदा वदतु भवान् तदुभयवैलक्षण्येन केनेव भाव्यम्? न तावत् पारमार्थिकत्वेन इति वक्तुं युज्येत ''***सद्भिन्नत्वे सति असद्भिन्नत्वे सति सदसद्भिन्नत्वम्***'' इति अद्वैतसिद्धौ मिथ्यात्वस्य लक्षणत्वेन अङ्गीकारात्. किञ्च भगवद्गीतायां ''**अनादिमत् परं ब्रह्म न 'सत्' तत् न 'असद्' उच्यते**'' (भग.गीता.१३।१२) इत्यत्र ब्रह्मणोऽपि सदसद्वैलक्षण्यनिरूपणोपलम्भेन तस्यापि मिथ्यात्वापातो नूनं दुरुद्धरएव.

अथ इह भाष्यकृत्सूचितया दिशया अभिप्रायान्तरमेव इति चेत्, तदा भागवतवचनेष्वपि श्रीधर्याम् अभिप्रायान्तरवर्णनादेव गतं सृष्टिकरणरूपायाः मायायाः सदसद्वैलक्षण्यरूपं मिथ्यात्वम्. तथाहि प्रथमस्कन्धीयवचने **'सदसद्रूपया'**= कार्यकारणात्मिकया इति व्याख्यानात्. तृतीयवचनेतु **'सदसदात्मिका'**= द्रष्टृदृश्यानुसन्धानरूपा कार्यकारणरूपा. यद्वा **'सद्'**=दृश्यम् **'असद्'**=अदृश्यम् आत्मस्वरूपं च तयोः **आत्मा** यस्याः इति व्याख्यानात्. तुरीयवचनेऽपि **'सदसदात्मतया'**=उत्कृष्टनिकृष्टभावेन कार्यकारणभावेन वा (द्रष्ट.भाग.श्रीध.१।२।३०, ३।५।२५, ४।२२।३८)इति व्याख्यानोपलम्भादेव.

ननु तथापि आविर्भावतिरोभावयोः भागवते क्वापि भगवच्छक्तिषु अगणनाद् नैतयोः तच्छक्तित्वं सम्भवदुक्तिकम् इति चेत् न, "**एकः स्वयं सन् जगतः सिसृक्षया द्वितीयया आत्मनि अधियोगमायया सृजसि अदः पुनः ग्रसिष्यसे यथा ऊर्णनाभिः भगवन् स्वशक्तिभिः**" इत्यत्र श्रीधर्यां "**स्वयम् एकएव सन्नपि आत्मनि अधिकृतया योगमायया** हेतुभूतया याः स्वीकृताः शक्तयः **सत्त्वाद्याः ताभिः... स्वव्यतिरिक्तसाधनानपेक्षत्वे दृष्टान्तम्** आह **'यथा' इति**" (भाग.श्रीध.३।२-१।१९)इति व्याख्यानोपलब्धेः. तेन प्रथमं तावद् योगमायायाः चिच्छक्तिरूपायाः भगवदव्यतिरेको अवश्यम् अभ्युपेयः. तत्र 'सत्त्वाद्याः' इति पदेन आविर्भावतिरोभाव-शक्ती गणिते न वा इति विचिकित्सायां यदि यूयं भागवतानुशीलनपराः तदा "**विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमो अर्हति इह?**" (भाग.पुरा.२।७।४०) इति वचनानुरोधाद् नापि चेद् गणिते मा स्ताम्! तयोः सत्त्वेतु का विप्रतिपत्तिः? *ननु याभ्यां शक्तिभ्यां भगवान् जगत् सृजति हरति च तयोः 'आविर्भावतिरोभावे'ति नाम्न्येव विवादो अस्माकम्* इति चेत् न, "**जीवस्य मायारचितस्य नित्याः आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताः,**" "**आविर्भावस्तु सम्भवः,**" "**तिरोधानेन सो असृजत्**" (भाग.पुरा.५।११।१२, ३।३१।४४, ३।२०।४४) इत्येवमादिषु अनेकेषु वचनेषु नामन्यपि भागवतावगाहिनां कृते नैव अप्रसिद्धे इति. सति चैवं जगदुत्पादिका जगन्नाशिका च इति ये द्वे भगवतः शक्ती तेएव कुतो न 'आविर्भावतिरोभाव'पदवाच्ये भवितुम् अर्हतः? अथ उच्येत यद्येवं ततो ते शक्ती मायातो न व्यतिरिच्येयातां

तदपि असाम्प्रतं, यस्माद् मायापि यदि सृष्टिकरणरूपा तदा "**सएष आद्यः पुरुषः कल्पे-कल्पे सृजति अजः आत्मा आत्मनि आत्मना आत्मानं संयच्छति च पाति च**" (भाग.पुरा.२।६।३८) इत्यस्य भावार्थदीपिकायां श्रीधरस्वामिभिरपि "**भगवान् यः... सृष्ट्यादि करोति 'आत्मात्मन्यात्मनात्मानम्' इति कर्ता अधिकरणं साधनं कर्म च स्वयमेव**" इति व्याख्यातत्वादेव मायापि न भगवत्स्वरूपव्यतिरिक्ता. अतो अकामैरपि गलेपतितं महर्घं भागवतरहस्यभूतं कण्ठाभरणमिव एतद् अतीव समादरेण स्वकण्ठे धारणीयमेव.

यः पुनः [1]सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतरहितं ब्रह्म इति वाल्लभवेदान्तेऽपि शाङ्करवेदान्तवद् अङ्गीकाराद् आविर्भावतिरोभावरूपे द्वेअपि शक्ती पारमार्थिकतया न स्वीकर्तुं शक्ये, तयोः ब्रह्मातिरिक्तसत्ताकत्वे द्वैतापत्तेः अवश्यम्भावात्. किञ्च [2]इमे शक्ती ब्रह्मणो विलक्षणे सलक्षणे स्वरूपान्तर्गते वा? न तावद् आद्यं, विजातीयभेदापत्तेः. न द्वितीयं, सजातीयत्वसम्पातात्. नापि तृतीयं, स्वगतभेदावहत्वात्. किञ्च [3]यत्र यस्य कार्यस्य यस्मिन् क्षणे आविर्भावः तस्मिन्नेव न तिरोभावइति अन्योन्याभावो अवश्यम् अभ्युपेयः. सतु सर्वविधाभावं निराचिकीर्षुणा वाल्लभवेदान्तिना न शक्यस्वीकरणइति [4]न आविर्भावतिरोभावौ मायातो व्यतिरिक्तौ, भ्रमरूपायास्तु तस्याः स्वीकारे न कापि क्षतिरिति. तस्माद् ब्रह्मणः एकस्यैव पारमार्थिकी सत्ता सृष्ट्यादिकन्तु मायिकम् अवस्तुभूतं, [5]मायाच औपचारिकदृष्ट्या 'शक्ति'पदवाच्यापि न ब्रह्मणो अतिरिक्ता भ्रमरूपत्वाद्. अतो न किञ्चिद् असमञ्जसम् इति महान् फटाटोपः सतु सर्वथैव असमञ्जसः इति ज्ञेयम्.

तथाहि [1]शाङ्करवेदान्ते यथा पञ्चपादिकाकृद्भिः "**ननु विषयिणः चिदेकरसस्य कुतो धर्माः ये विषये अध्यस्येरन्? उच्यते : आनन्दो विषयानुभवः नित्यत्वम् इति सन्ति धर्माः, अपृथक्त्वेऽपि पृथगिव अवभासन्तइति न दोषः**" (ब्र.सू.शां.भा.पञ्च.पा.वर्ण.१) इत्यत्र चिदेकरसे ब्रह्मणि केषाञ्चिद् धर्माणाम् अपृथक्त्वेऽपि पृथक्तया अवभासो निर्दुष्टतया अङ्गीकृतः; तथैव, वाल्लभवेदान्तेऽपि सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतरहिते ब्रह्मणि आविर्भावतिरोभावरूपे द्वेअपि शक्ती

अपृथग्भूतेपि पृथक्तया कुतो न स्व-स्वकार्यजनने समर्थे भवेताम्? केवलाद्वैतवादोपस्कृते मायावादेऽपि आनन्दविषयानुभवनित्यत्वानामपि ब्रह्मातिरिक्तसत्ताकत्वे द्वैतापत्तेः अवश्यम्भावात्. ब्रह्मानतिरेकेतु धर्माणाम् अध्यासो अपगतएव इति ''अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा निमित्ताद् अपराद्धेषोः धानुष्कस्येव वल्गितं'' वृत्तान्तम् अनुसरति भवान् अत्र!.

एतेनैव [२]सालक्षण्यादिविकल्पानामपि ''यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि तादृशो नैकः पर्यनुयोक्तव्यः तादृगर्थविचारणे'' इति आभाणकविषयतया द्वितीयोऽपि आक्षेपः उपेक्ष्यएव.

[३]तृतीयस्यापि आक्षेपस्य एतादृश्येव गतिः वेदितव्या. यदि आनन्दो विषयानुभवः च इति ब्रह्मणो अपृथक्त्वेऽपि पृथगिव अवभासमानयोः धर्मयोः मध्ये यदा एको विषयानुभवो अवभासते तदा न अपरः आनन्दानुभवः, ''**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन**'' (तैत्ति.उप.२।९) इति श्रुत्या तदनुभवे भयराहित्यश्रावणात्. तच्च भयराहित्यं यदि सत्यपि विषयानुभवे स्वीक्रियते चेत् को नु नाम इह मुक्तये यतेत? वैषयिकसुखस्य ब्रह्मानन्दानतिरेकात्. अथ वैषयिकसुखस्य ब्रह्मानन्दाद् व्यतिरेकेतु आनन्दविषयानुभवौ मिथो ब्रह्मणः च भिन्नावेव अङ्गीकर्तव्याविति द्वैतापत्तिः. यदितु अपृथक्त्वेऽपि पृथगिव अवभासेते एतौ, तदा आविर्भावतिरोभावावपि अपृथक्त्वेऽपि पृथगिव समवभासेतां का हानिः!

[४]तदेतद् भगवत्पादश्रीमच्छङ्कराचार्याणामपि न अनभिप्रेतमिव आलक्षयामः. तथाच उच्यते तैः ''**शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था** कल्प्यमाना न अन्या **असती वा कार्यं नियच्छेद्, असत्त्वाविशेषात् च. तस्मात् कारणस्य आत्मभूता शक्तिः शक्तेः च आत्मभूतं कार्यम्**'' (ब्र.सू.शां.भा.२।१।१८) इत्यत्र. तस्माद् यदि आविर्भावतिरोभावौ मायातो अव्यतिरिक्तौ तदा मायापि ब्रह्मणो अव्यतिरिक्ततया ब्रह्मात्मभूतैव इति सन्तोष्टव्यम्. अन्यथा ब्रह्मकारणताहानेः. तदेतत् दृढीकृतं भगवत्पादेनापि ''तत्र '**इदं**'शब्दवाच्यस्य **कार्यस्य प्राग् उत्पत्तेः** '**सच्**'छब्दवाच्येन

कारणेन सामानाधिकरण्यस्य श्रूयमाणत्वात् सत्त्वानन्यत्वे प्रसिद्ध्यतः.यदितु प्राग् **उत्पत्तेः असत् कार्यं पश्चाच्च उत्पद्यमानं कारणे समवेयात्** तदा अन्यत् कारणात् **कार्यं स्यात्. तत्र 'येन अश्रुतं श्रुतं भवति' इति इयं प्रतिज्ञा पीड्येत. सत्त्वानन्यत्वागतेस्तु इयं प्रतिज्ञा समर्थ्यते**'' (ब्र.सू.शां.भा.२।१।१८) इति वदता. नच * एतत् सर्वं प्रौढिवादावलम्बनेन श्रुतिविरुद्धारम्भवादं निराकर्तुमेव न पुनः स्वमतम् आख्यातुम् * इति वक्तुं युक्तं, नित्यानित्यवस्तुविवेकशीलस्य इहामुत्रार्थफलभोगविरक्तस्य शमदमादिसाधनसम्पन्नस्य मुमुक्षुजनस्य कृते श्रुतिसूत्रव्याचिख्यासिषोः भाष्यकारस्य श्रुतिसूत्रानभिप्रेतार्थसम्भाषणं न न दोषायेति. नच * इह इष्टापत्तिरपि शक्या, ब्रह्मणोहि अकारणत्वेतु तदात्मभूतायाः मायायाअपि कारणत्वं न उपपद्येत.

यच्चापि उक्तं [५]* मायाच औपचारिकदृष्ट्या 'शक्ति'पदवाच्यापि न ब्रह्मणो अतिरिक्ता भ्रमरूपत्वाद् * इति तद् न सम्भवति, यस्मात् ''सएव आत्मा मायाम् आधाय स्वस्मिन् स्वकृतप्रपञ्चरूपकार्यस्य उपादानत्वं निमित्तत्वं च आरोप्य कर्तृत्वम् आसज्जते'' इत्यपि ब्रवीति भवान्. ततश्च मायाधानकर्तृत्वं ब्रह्मणि तावद् [क]मायोपाधिकम् आहोस्वित् [ख]स्वतः? मायाधिष्ठानत्वमपि पुनः [ग]मायिकं वा स्याद् [घ]अमायिकं वा? तत्र न प्रथमः, [क]'सएव' इति एवकारवैयर्थ्यापाताद् आत्माश्रयदोषापत्तेः च. न द्वितीयः, [ख]ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वहानेः. नापि तृतीयः, [ग]यस्मात् मायाधिष्ठानत्वस्य मायिकत्वे तयैव मायया चेद् आत्माश्रयो अन्यया कयाचित् चेत् तदपि धारणं विना न सम्भवतीति प्रथमस्याः धारणहेतुत्वे अन्योन्याश्रयः तृतीयस्याः कस्याश्चिद् हेतुत्वकल्पनेतु चक्रकानवस्थापत्त्योः सम्पातः. तथा न तुरीयोऽपि [घ]अमायिकत्वेतु अनयैव दिशा अन्येषामपि धर्माणां ब्रह्मणि विद्यमानतायां मायायाः अपेक्षाराहित्यं समानयोगक्षेमन्यायेन अभ्युपगन्तव्यम्.

तस्माद् विवर्तवादो न श्रौतः इति आविर्भावतिरोभाववादएव श्रुत्यादिशास्त्राभिप्रेतो ज्ञेयः. अथ भवतु विवर्तवादो शास्त्रानभिप्रेतः परन्तु आरम्भवादं विना नूतनस्यैव कार्यस्य उत्पत्तिः यदि न स्वीक्रियते चेत् तदा कार्यानुकूला कृतिः कर्तरि जलताडनवद् प्रयोजनरहिता स्यात्. ईश्वरस्यापि निष्प्रयोजनं जगन्निर्मातुः अज्ञजनसाधारण्यं समापतेत. तस्मात् सर्वथा व्यवहाराविसंवादितया आरम्भवादएव

(असत्कार्यवादिनाम् आविर्भाव-तिरोभावयोः दुर्निरूपत्वाक्षेपः)

(योग्यतायोग्यते ज्ञप्तेः बहिरन्तःप्रवेशतः ॥
भिन्नतावस्थयोर्वा स्यान्नित्यतानित्यते किमु ? ॥२॥
आविर्भावतिरोभावौ दुर्निरूपौ ततो मतौ ॥
उत्पत्तिनाशौ स्वीकार्यौ ह्यसत्कार्यावलम्बनात् ॥३॥)

*ननु इदम्[२] अनुपपन्नं कार्योत्पत्तिनाशौ अनुपगच्छतां कार्याविर्भाव-तिरोभावयोरपि दुर्निरूपत्वात्, तयोः अनुभवयोग्यता-तदयोग्यतात्मकत्वेन[पा.भे.१] उत्पत्तिम् अन्तरेण कार्यवर्तमानतायाः च अशक्यवचनत्वात्. अन्यथा प्रागभावदशायामपि तत्प्रत्यक्षप्रसङ्गात्. नच *प्रागभावएव प्रतिबन्धकः* इति वाच्यं, तस्य कारणत्वात्. नच *नियतावधिकत्वेन कार्यस्य कारणे सत्ता अनुमातुं शक्या* इति वाच्यं, तत्प्रागभावसत्तयैव नियतावधिकत्वसिद्धेः. किञ्च कारणे कार्यसत्तायां, 'पश्चाद्भावित्वेन[पा.भे.२] अभिमतस्यापि कार्यस्य कारणात् पूर्वं सत्त्वेन, सिद्धत्वाद् दर्शनयोग्यत्वमात्रं वाच्यं नतु जननम्[पा.भे.३]. तथासति[३] शक्तस्य शक्यकरणाभावाद् अशक्तिप्रसक्ति[४]. ततश्च कार्यानुत्पादस्य आकस्मिकवादस्य वा प्रसङ्गः[पा.भे.४]. एवं सहजशक्त्यसिद्धौ कार्यकारणभाव-स्यापि असिद्धेः 'कारणा'दिपदेषु तत्तदभिधायिकायाः पदशक्तेरपि अपायः. ततश्च लौकिकवैदिक-व्यवहारोच्छेदापत्तौ प्रयोजनस्यापि अभावे प्रसक्ते आधेयशक्तेरपि वैयर्थ्यापत्तिः च.

नच *कारणाद् बहिर्भावरूपा[पा.भे.५] उत्पत्तिः अभ्युपेयतएवेति न दोषः* इति वाच्यं, यत्र एकस्मिन् फले बहूनि बीजानि तेभ्यः च अनन्तानि फलानि, तेभ्यः च तथैव बीजानि इत्येवं परम्परा, तत्र एकस्मिन् मूलभूते फले वा बीजे वा तावतां सत्त्वाद् युगपद् बहिर्भावापत्तेः क्रमासङ्गत्यापत्तेः

अङ्गीकरणीयः इति आशंकते '*ननु' इत्यारभ्य "इति प्राप्ते" इत्यन्तं यावत्. अत्र पूर्वपक्षसंग्रहकारिके मद्योजिते ज्ञेये.

---

२. 'सुखाविर्भावितिरोभावकथनम्' इति [नि.ह.लि.टि.] ३. "जननस्य :अव्राच्यत्वे सति" इति[नि.ह.लि.टि.] ४. "शक्तिमतोः अभावेन अशक्तिप्रसक्तिः" इति अर्थः[नि.ह.लि.टि.].

च. नच *निमित्तान्तर-समवधानाभावात् न दोषः[पा.भे.६]* इति वाच्यं, तथापि उत्पत्तेः बहिर्भावरूपत्वसिद्धौ कार्यस्य पूर्वकाले सत्त्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च उत्पत्तेः बहिर्भावरूपत्वसिद्धिरिति अन्योन्याश्रयेण तदुपगमस्यैव असङ्गतिः.

नापि * "*विमतः*[५][पा.भे.७] *प्रवाहो अनादिः प्रवाहत्वाद्, बीजाङ्कुरप्रवाहवद्*" [पा.भे.८] इति अनुमानेन अनादिसृष्टिम्[पा.भे.९] उपगम्य क्रमोपपत्तिः* इति वाच्यं हेतोः साध्यसमत्वात्. अस्यैव प्रवाहरूपतायाः विचार्यत्वात्. यत्र गोधूमादिबीजनाशे वेणुगोधूमैः गोधूमानां, लुलायशृङ्गात् कदल्याः, काशाद् इक्षोः च अङ्कुरोत्पत्तिः, ततः तेभ्यो गोधूमादिभ्यो वेण्वाद्यनुत्पत्तिः तत्र आदौ पश्चात् च विच्छेदेन[पा.भे.१०] व्यभिचारात्. "*विमतः प्रवाहः सादिः प्रवाहत्वाद् वैणवगोधूमप्रवाहवद्*" इति हेतोः साधारणत्वात् च. नच व्यतिरेकदृष्टान्तेन निर्वाहः, क्षुद्रनदीप्रवाहादौ अनादित्वाभावेऽपि प्रवाहत्वदर्शनेन व्यतिरेकव्यभिचारात्. नच *महत्त्वेन हेतौ विशेषिते न कोऽपि दोषः* इति वाच्यं, गङ्गादृष्टान्तेन तत्रापि व्यभिचारात् पुराणादौ गङ्गोत्पत्तिस्मरणात्, शब्दस्य प्रमाणत्वात्. तस्मात् न क्रमसङ्गतिः.

अथ *उत्पत्तिः न बहिर्भावः किन्तु मृदवस्था गता पिण्डावस्था जाता, सा गता घटावस्था जाता इत्यादिप्रतीतेः तन्त्ववस्थानुपमर्देन पटावस्थादर्शनात् च अवस्थाविशेषएव सा* इति विभाव्यते, तदापि अवस्थाविशेषस्य कादाचित्कत्वाद् जन्यत्वं वाच्यमेव, तत् सुतरामेव दुर्वचम्, उत्पत्तेः अनिरुक्तत्वात्. किञ्च[पा.भे.११] अवस्थान्तरं कार्यम् इत्यपि असङ्गतं, तथा सति पुत्रोऽपि पित्रवस्थान्तरं स्यात्. तथाच पिण्डावस्थावत् पितुः नाशः स्यात्. तन्तुवद् अनाशाङ्गीकारेऽपि सर्वो व्याप्रियेत. अतो अंशएव पुत्रः. एवम् अङ्कुरादिरपि बीजांशएव नतु अवस्थान्तरम् समानन्यायात्. तथाच विभागेन बहिर्भावद्वारा हेतुत्वमात्रं बीजादौ सेत्स्यति. तावतापि न अभिमतसिद्धिः बहिर्भावरूपायाः उत्पत्तेः पूर्वमेव दूषितत्वात्. अतो वैशेषिकप्रतिपन्नः उत्पत्तिवादएव साधीयान्. अथ अस्तु या काचिद् उत्पत्तिः; तथापि, भवद्रीत्या तौ आविर्भाव-तिरोभावौ दुर्वचौ.

---

५. 'विमतः'=कार्यकारणप्रवाहः इति [नि.ह.लि.टि.].

तथाहि — तौ नित्यौ अनित्यौ वा ? न आद्यो घटादिवस्तूपलम्भानुपलम्भयोः सातत्यप्रसङ्गात्. नच इष्टापत्तिः, तयोः विरुद्धत्वेन सहावस्थानायोगात्. ग्रहिलतया तथा अङ्गीकारे वस्त्वनिर्वाच्यत्वप्रसङ्गात्. घटाद्याविर्भावनाय तिरोभावनाय च साधने प्रवृत्तिदर्शनेन प्रत्यक्षविरोधात्. तादृग्विरुद्धधर्माश्रयभूतस्य धर्मिणो असिद्धौ तयोरपि अशक्यत्वेन शून्यवादापत्तेः च. नच *घटाद्युपलम्भानुपलम्भयोः कादाचित्कत्वं तत्तत्कारणस्तोमपरम्पराकादाचित्कत्वेन समर्थनीयम्* इति वाच्यम्, अन्ततः ईश्वरेच्छापर्यन्तं धावने तस्याअपि नित्यत्वेन तद्दोषतादवस्थ्यात्, एकतरपक्षपाते इतरोच्छेदप्रसङ्गात् च. तयोः घटादिवस्तुधर्मत्वेन धर्मिणां कादाचित्कत्वे धर्मभूतयोः तयोः नित्यत्वस्य गन्धादिवद् अशक्यवचनत्वात् च. नच *जातिवद् अदोषः* इति वाच्यं, तद्वदेव सामान्य-धर्मत्व-प्रसङ्गात्. नच इष्टापत्तिः, सर्वस्य युगपद् दृश्यत्वादृश्यत्वप्रसङ्गात्. नच ईश्वरेच्छया[पा.भे.१२] निर्वाहो, दत्तोत्तरत्वात्.

न द्वितीयः, कार्यान्तरवत् तयोरपि स्वकारणाद् बहिर्भावस्य स्वकारणे अन्तर्भावस्य अवश्यवाच्यत्वेन पुनः तदीययोरपि तयोः तथात्वेन अनवस्थापातात्. नच *अनादिः अनवस्था न दोषः* इति वाच्यं तथापि अनिर्वाहात्. तेषाम् अनित्यत्वेन कार्यत्वाद् आद्यक्षणसम्बन्धस्य अवश्यवाच्यत्वेन क्षणानां च उपाधिसम्बन्धाद्[६] जायमानत्वेन[पा.भे.१३] तत्रापि[७] उक्तविकल्पैः तेषां क्षणघटकतायाएव दुर्निरूपत्वात्. तेषाञ्च स्वस्वकारणादेव बहिर्भावादेः वाच्यत्वेन कारणानां[८] च अनुपलभ्यमानत्वेन अप्रामाणिकत्वात् च. अनादित्वस्य "बहु स्याम्" इत्यादिश्रुतिविरुद्धत्वात् च. अतः सत्कार्यवादम् आलम्ब्य आविर्भावतिरोभावसमर्थनं न कथमपि सुघटम् ※ इति प्राप्ते —

'तथाहि' इति असत्कार्यवादम् अवलम्ब्य उपस्थापिते एतस्मिन् पूर्वपक्षे प्रथमं तावद् आविर्भावो नाम अनुभवयोग्यता, तिरोभावः च अनुभवायोग्यता, इति आद्यकल्पसमालोचने उत्पत्तेः प्राक् कार्यस्य, ध्वंसाद् ऊर्ध्वञ्च उत्पन्नस्यापि उभयोः कालयोः सत्त्वाभावादेव, न अनुभवयोग्यता. तस्मादेव च कारणाद् असति

---

६. 'सूर्यपरिस्पन्दः'[नि.ह.लि.टि.] ७. 'सूर्यपरिस्पन्दरूपोपाधावपि'[नि.ह.लि.टि.]
८. 'सूर्यपरिस्पनदकादाचित्कत्वकारणानाम्' [नि.ह.लि.टि.]

वस्तुनि तदनुभवयोग्यतायाः अप्रसक्तत्वादेव योग्यतानिषेधोऽपि न सम्भवी इति आक्षिप्यते. अत्र 'अनुभव'पदेन इन्द्रियजन्यो अपरोक्षानुभवएव ग्राह्यः, परोक्षानुभवाभावेतु कार्योपादानगोचरा कर्तुः कार्यजननानुकूला कृतिरपि न सम्भवेत्. ततश्च परोक्षानुभवेतु ज्ञानविषयस्य सद्भावो अनियामकएव. अन्यथा असदपि कार्यम् असत्कार्यवादिना कर्त्रापि उत्पादयितुम् अशक्यमेव स्यात्. इह सिद्धान्तिनो हि उत्तरपक्षस्तु न तावद् नियमेन अपरोक्षज्ञानमेव 'अनुभव'पदेन विवक्षितं किमुत तेभ्यस्तेभ्यो नाम-रूप-कर्मभ्यो विशिष्टो यो हि उपादानद्रव्यसद्भावः तद्विषयकं परोक्षापरोक्षान्यतरज्ञानमेव. तच्च नहि घटाविर्भावात् पूर्वं 'घट'इति नामविशिष्टा वा पृथुबुध्नोदराकृतिरूपविशिष्टा वा जलादिधारणकर्मक्षमा वा मृत्तिका अस्ति इति कस्यापि प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा ज्ञानं जायते. तस्माद् तादृगनुभवयोग्यतायाः अविषयतया घटो न आविर्भूतः इति कायवाङ्मनसां व्यवहारः. एवमेव घटध्वंसोत्तरमपि विज्ञेयम्.

नच *नाम-रूप-कर्मभिः आविर्भावतिरोभावौ न श्रुतिसिद्धौ* इति वाच्यं, "**सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यदास्ते**" (तैत्ति.आर.३।१२।७), "**तस्माद् एतद् ब्रह्म नाम रूपम् अन्नं च जायते**"-"**यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषम् उपैति दिव्यम्**"(मुण्ड.उप.१।१।९-३।२।८), तथैव प्रश्नोपनिषद्यपि "**भिद्येते... नामरूपे पुरुष इति एवं प्रोच्यते**" (प्रश्नोप.६।५), "**तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तत् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत**"(बृह.उप.१।४।७) "**त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म. ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति... सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति... सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा. आत्मा उ एकः सन् एतत्त्रयम्**" (बृह.उप.१।६।३) इत्याद्यनेकैः वचनैः उत्पत्तेः नामरूपकर्माविर्भावरूपत्वश्रावणाद् नाशस्य च नामरूपकर्मणां तिरोभावरूपत्वश्रावणात् च. तस्माद् ये प्रशमिततर्कदर्पाः श्रुत्यर्थविवेचकाः तेषान्तु तत्तदुत्पत्तिविनाशयोः तत्तन्नामरूपकर्मणाम् आविर्भावतिरोभावरूपत्वे शङ्का नैव उदेतीति श्रुतिप्रमाण्ये अर्धश्रद्धानामेव अत्र अनादरो न पूर्णश्रद्धावताम्.

द्वितीयकल्पेतु कारणाद् बहिर्भावरूपः उत्पत्तिरूपः आविर्भावः. पुनः स्वोपादाने

(कारणगतशक्तिविशेषरूपौ तौ इति सिद्धान्तप्रतिपादनम्)

उच्यते तौ हरेः शक्ती नियताविच्छया ततः ॥
धर्माधर्मस्य संसिद्धेः कारणं च न दुर्वचम् ॥४॥

तथाहि — कारणगतौ शक्तिविशेषौ एतौ. नच *अतिरिक्तशक्तिकल्पने मानाद्यभावः* शङ्क्यः, तन्तुतुरीवेमादिभ्यः पटोत्पत्तिदर्शनात् मृद्दण्डचक्रादिभ्यः

अन्तःप्रवेशः च ध्वंसरूपः तिरोभावः इति तत्रापि तत्तन्नाम-रूप-कर्मणां उपादानद्रव्याद् बहिर्भावोहि आविर्भावः तेषां वा पुनः तत्रैव अन्तर्भावो योऽसौ तिरोभावः इति विज्ञेयः. तत्र तेषां-तेषां नाम-रूप-कर्मणां क्रमेण वा युगपद् वा आविर्भावे तिरोभावेऽपि वा पूर्वपक्ष्यापादितानां असङ्गत्यन्योन्याश्रयादिरूपाणां दोषाणाम् अप्रसक्तिरेव.

तेनैतेनैव नाम-रूप-कर्मवैशिष्ट्यावगमेन तृतीये अवस्थाभेदकल्पेऽपि समाधानं सुकरमेव.

तुरीयेतु कल्पे आविर्भावतिरोभावौ नित्यौ वा अनित्यौ वा इति विकल्पना तत्तु असत्कार्यवादिनां मतेऽपि उत्पत्तिविनाशौ नित्यौ वा स्याताम् अनित्यौ वा? इति विकल्पे नित्यत्वाश्रयणे उत्पत्तिध्वंससातत्ये कुतो भवेताम्? अनित्यत्वाश्रयणेतु प्रागभावद् अनादिसान्तौ वा प्रध्वंसाभाववद् साद्यनन्तौ वा क्षणिकौ वा? तत्र न आद्यः, उत्पत्तिनाशयोः अनादिसान्तत्वे स्वकालात् पूर्वमपि आपत्तिः. न द्वितीयः, स्वकालोत्तरमपि तयोः सातत्यापत्तिः. न तृतीयः, क्षणिकत्वेतु घटोत्पत्तेः पूर्वं तदुत्पत्त्युत्पत्तिः घटोत्पादनकारणसामग्र्या अन्यया कयाचिद् वा? सापि घटोत्पत्तिसमकालीना वा स्यात् पूर्वकालीना वा? समकालीनत्वे उत्पत्तिक्रियाजन्या घटोत्पत्तिः इति वक्तव्यम्. पूर्वकालीनत्वे तु अनवस्था. *ननु घटोत्पत्तिरेव घटः* इति चेत् तदा क्रियाद्रव्ययोः भेदाय वितीर्णः तिलाञ्जलिः. अथ घटोत्पत्तिरूपायाः क्रियायाः उत्पत्तिः घटोत्पादनकारणसामग्रीतो व्यतिरिक्तया कयाचित् सामग्र्या जायते इति अङ्गीकारेतु अनवस्था दुरुद्धरेति एतेषां विकल्पानाम् उपेक्ष्यैव सिद्धान्तं निरूपयन्ति 'उच्यते' इत्यारभ्य ''अतिरिक्तैव सा अङ्गीकार्या'' इत्यन्तं यावत्.

च घटोत्पत्तिदर्शनात् तत्र-तत्र तज्जननशक्तेः[पा.भे.१४] निश्चयात्. साच न स्वभावो, नापि स्वरूपं, तथा सति तस्य सार्वदिकत्वात् शीर्णेभ्योऽपि तन्त्वादिभ्यो पटाद्युत्पत्तिप्रसङ्गाद्[पा.भे.१५], भर्जितबीजेभ्योऽपि अङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गात् च, मणिसमवधानेऽपि वह्नेः तृणादिदाहप्रसङ्गात् च. अतः कालेन भर्जनेन च नाश्या, मणिसमवधानप्रतिबध्या च, काचित् स्वभावात् स्वरूपात् च अतिरिक्तैव सा अङ्गीकार्या.

इदम् अत्र अवधेयं : तार्किकैस्तु परित्यक्तशास्त्रप्रामाण्यादरैः लाघवगौरवादिदोपचिन्तनमोहातिभरेण अनादृतएव शक्तिकरणताग्रहः. येतु पुनः शास्त्रप्रामाण्यबद्धादराः तेषान्तु शक्तेः करणतायां न काचिद् विप्रपत्तिः जागर्ति. यस्माद् **''दीर्घं ह्यङ्कुशं यथा शक्तिं बिभर्षि मन्तुमः''** (ऋक्संहि.१०।१३४।६) इति **''परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते''**(श्वेता.उप.६।८) इति संहितोपनिषदोः शक्तेः निरूपणेनैव तस्याः सद्भावेतु न सन्देहः कश्चित् सम्भवति. करणत्वमपि तस्याः **''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते''** (बृह.उप.२।५।१५) इत्येवमादिवचनेषु श्रावितमेवेति न तत्रापि काचिद् अनुपपत्तिः मन्तुं शक्या.

*ननु अस्मिन्नेव वचने **''न तस्य कार्यं करणं च विद्यते''** (श्वेता.उप.६।८) इति ब्रह्मणः कार्यकरणादिनिषेधात् शक्तिसद्भावोऽपि न तस्याः करणतायां प्रमाणम् भवितुम् अर्हति* इति चेत् न, **''पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भव्यम्''** (श्वेता.उप.३।१५) इति तत्स्वरूपप्रतिपादनेन सर्वस्यापि जनिष्यमाणस्य जडजीवान्तर्यामिरूपस्य कार्यभूतस्य जगतः तत्पूर्वभूतायाः करणरूपायाः सर्वभवनशक्तिरूपायाः मायायाअपि स्वतन्त्रात् कर्तृरूपात् परमेश्वराद् न आत्यन्तिको भेदः इत्येवंनिरूपणपरत्वेनैव तद्भिन्नयोः कार्यकरणयोः निषेधो निर्वक्तुं शक्यो, नच एतावता तदात्मकयोरपि तयोः निषेधो अत्र कल्प्यो भवति. तदेतद् उपबृंहितं विष्णुपुराणेऽपि **''सएव सर्वभूतेशो विश्वरूपो यतो अव्ययः सर्गादिकं ततो अस्यैव भूतस्थम् उपकारकम्''** इति पूर्वाध्याये निरूपिते अग्रिमे **''निर्गुणस्य अप्रमेयस्य शुद्धस्यापि अमलात्मनः कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽपि उपपद्यते?''** इति आशङ्कायाः निरसनाय **''शक्तयः सर्वभावानाम् अचिन्त्यज्ञानगोचराः यतो अतो ब्रह्मणः तास्तु सर्गाद्याः भावशक्तयः भवन्ति... पावकस्य यथा उष्णता''**

(विष्णुपुरा.१।२-३।६७-१-३) इति तन्निरासात् च.

इह ब्रह्माभिन्नयोः कार्यकरणयोः अभावोक्त्या मायिकयोः मिथ्याकार्यकरणयोः कल्पनां कुर्वाणाः एतासां कारिकाणां श्रीश्रीधरस्वामिकृतायां टीकायां "**सर्वेषां भावानां पावकस्य उष्णताशक्तिवद् अचिन्त्यज्ञानगोचराः शक्तयः सन्त्येव. ब्रह्मणः पुनः ताः स्वभावभूताः स्वरूपाद् अभिन्नाः शक्तयः, 'परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते' इति श्रुतेः**" (वि.पु.आ.प्र.१।३।२) 'आत्मप्रकाशा'भिधायां यद् अभिहितं तदपि न हन्त मन्वते. तत्तु "अश्वारूढाः कथञ्च अश्वान् विस्मरेयुः सचेतनाः" इति भट्टपादोक्तिं स्मारयति. एतदेव नवमाध्यायेऽपि "**यः कारणं च कार्यं च कारणस्यापि कारणं कार्यस्यापि यः कार्यं प्रसीदतु स नो हरिः**" (विष्णुपुरा.१।९।४६) इत्यात्रापि स्फुटीकृतमेवेति स्वतो भिन्नानां कार्यकरणानां निषेधो, नहि स्वात्मकयोरपि कार्यकरणयोः निषेधे पर्यवसायी इति केनापि वक्तुं शक्येत.

ननु अत्र श्रीश्रीधरस्वामिभिः शक्तेः स्वभावरूपता अभ्यधायी. इहतु पुनः आविर्भावतिरोभाववादे शक्तेः स्वभावात् स्वरूपाद् वापि भेदएव प्रतिपाद्यतइति किं केन सम्बाध्येत! तदेतद् विचार्यते यस्माद्धि जगत्कर्तुः सच्चिदानन्दरूपस्य भगवतः सत्यसङ्कल्पशक्त्या तिरोहितचिदानन्दांशेषु मृत्तन्त्वादिजडकारणेषु घटपटादिकार्यात्मना आविर्भावाय इच्छाशक्तितिरोभावप्रयुक्तेन कर्तृत्वशक्तेरपि तिरोभावः, तस्माद् घटपटाद्याविर्भावकशक्त्याधारत्वमेव केवलं मृत्तन्त्वादिषु उपलभ्यते. ताः हि घटपटाद्याविर्भाविकाः शक्तयः चेद् यदि मृत्तन्त्वादीनां स्वभावरूपाः कुलालतन्तुवायादीनां कर्तृत्वम् अन्यथासिद्धिदोषेण निरस्तमेव स्यात्. सच्चिदानन्दरूपस्य सर्वभवनसमर्थस्य ब्रह्मणस्तु अभिन्ननिमित्तोपादानरूपत्वेन तच्छक्तयोऽपि तदात्मिकाएवेति तासां स्वभावतोक्तिः न दोषाय. अतः सुष्ठूक्तं यत् शक्तिः **काचित् स्वभावात् स्वरूपात् च अतिरिक्तैव अङ्गीकार्या** इति. इयं व्यवस्था ब्रह्मोपादानके जडकारणेषु ब्रह्मणितु सर्वमपि ब्रह्मात्मकमेवेति शक्तिरपि तदात्मिकेति न दोषः कश्चन.

अत्र कणभक्षाक्षचरणपक्षसंरक्षणदक्षाः विद्वांसो हि इमं कारणस्वरूपातिरिक्तशक्तिपक्षं न क्षमन्ते. ते खलु एवम् आपादयन्ति : [१]कारकव्यापारात् पूर्वमपि

घटसद्भावे स घटो यदि अभिव्यक्तेन रूपेण वर्तते चेद्, ध्रुवं तदा कारकव्यापाराणां वैफल्यम्. अथ मृत्पिण्डेन रूपेण सद्भावेतु तेनैव रूपेण सद्भावो अभ्युपेयो न घटरूपेण.

ननु [२]मृत्पिण्डएव घटात्मको भवति " इति चेत् न, स यदा घटात्मको भवति तदैव घटसद्भावो न ततः पूर्वम्. यदितु [३]मृत्पिण्डएव घटरूपधारणानुकूला काचन शक्तिः न तन्तुष्विति सैव घटरूपेण आविर्भवति, तदा स आविर्भावो मृत्पिण्डाद् अभिन्नो वा भिन्नो वा? अभिन्नः चेत् मृत्पिण्डदशायामपि अनुभूयेत. भिन्नः चेत् तथाविधाविर्भात् पूर्वं मृत्पिण्डोऽपि आविर्भूतघटरूपेण असन्नेवेति न निस्तारः. किञ्च [४]सोऽपि सद् वा असद् वा? तत्र सत् चेद् घटोत्पत्तेः प्रागपि घटाविर्भावो कुतो न अनुभूयते? असत्त्वेतु असत्कार्यवादापत्तिरेव. अपरञ्च [५]कार्यात्मना अवस्थानं चेद् आविर्भावो तदपि पूर्वन्तु असदेव. यदितु [६]घटाकृतिः चेद् आविर्भावः सापि पूर्वम् असत्येव. [७]प्रतीतिरूपत्वेतु आविर्भावस्य सा घटप्रतीतिः चक्षुःसंनिकर्षादिसामग्रीजन्या न दण्डचक्रादिसामग्रीजन्येति आविर्भावस्तु कारणसामग्रीजन्यतया निरूप्यतइति वैषम्यम्. [८]"**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**" इति भगवद्वाक्येनापि न एतस्य आविर्भावपक्षस्य समुद्धारो, यस्माद् वचनस्यास्य शशशृङ्गादितौल्यनिराकरणएव तात्पर्यात्. [९]शक्त्यात्मनापि कार्यस्य सद्भावो न सम्भवदुक्तिको, यतः सा शक्तिः घटस्वरूपाद् भिन्ना वा अभिन्ना वा स्यात्? भिन्नत्वे अन्येनैव केनचिद् रूपेण घटसद्भावो न स्वेन रूपेण. अभिन्नत्वेतु शक्तिविद्यमानतादशायां घटविद्यमानत्वापत्त्या प्रागपि आविर्भावात् स घटो अनुभूयेत. [१०]कार्यस्य असत्त्वे शशविषाणादेरपि उद्भवाशङ्का व्यर्थैव, यतोहि नैयायिकाः नहि "यद्यद् असद् तत्तद् उत्पद्यते" इति ब्रुवन्ति किन्तु "यद्यत् क्रियते तत्तद् असद्" इत्येव. तस्मात् प्रागसत्त्वं कार्यत्वे प्रयोजकं नतु असत्त्वमात्रम्. [११]कारणत्वमपि न तावत् कार्यानुकूलशक्तिमत्त्वं वा आविर्भावयोग्यशक्तिमत्त्वं वा, विकल्पासहत्वात्. तथाहि शक्तिः इयं नित्या वा अनित्या वा स्यात्? नित्यत्वे सति नित्यकार्योत्पत्तिः, अनित्यत्वेतु अनन्तशक्ति-तत्प्रागभावध्वंसकल्पने गौरवः. अतो योग्यतावच्छिन्नस्वरूपसहकारिसन्निधानाद् नातिरिक्तः पदार्थः कश्चित् शक्तिरूपः. योग्यतापि च न

पदार्थान्तरं किन्तु वस्तुविशेषएव. एवं वस्तुविशेषनियमाद् उपादाननियमसिद्धिः. किञ्च [१२]असत्कार्यवादाङ्गीकारएव उपादानग्रहणं सार्थकं भवति न पुनः सत्कार्यवादाङ्गीकारे. तथाच उक्तम् **"उत्पत्तौ खलु सिद्धायाम् उपादानं विचार्यते सतस्तु नैव नास्तीति किम् उपादानचिन्तया!"** इति. ब्रह्मवादेतु पुनः सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वेन, सर्वस्य सर्वत्र च सत्त्वेनापि उपादाननियमो सर्वथा व्यर्थः. किञ्च सर्वस्य सर्वात्मकत्वेतु [१३]अन्नस्यापि मांसरूपत्वानपायाद् अन्नभक्षणे मांसभक्षणापराधेन प्रत्यहं अन्नभक्षणहेतुके प्रत्यहं प्रायश्चित्तानुष्ठाने धर्मशास्त्रोल्लंघनदोषापत्त्यापि सत्कार्यवादो अनादरणीयएव. [१४]तस्मात् कार्यकारणयोः अभेदे सति 'कार्ये'ति आख्यैव विरुद्धा, 'कारणे'त्येकयैव आख्यया निखिलव्यवहारनिर्वाहोपपत्तेश्च. [१५]यथैव शशविषाणादेः असत्त्वजननानर्हत्वे प्रत्यक्षसिद्धे तथैव घटादीनामपि प्रागसत्त्वजननार्हत्वे-अपि प्रत्यक्षसिद्धे. तयोस्तु एकत्र प्रत्यक्षप्रामाण्याङ्गीकारो अपरत्र न इत्यत्र विनिगमकाभावोऽपि दोषएव. [१६]सतो जन्माङ्गीकारे ब्रह्मणोऽपि सद्रूपत्वेन ब्रह्मणोऽपि जन्यत्वेन अनित्यतापत्तिः दुष्परिहरा. तस्मात् सिद्धं [१७]कारणत्वं हि अतिरिक्तः पदार्थः इति. अतिरिक्तपदार्थत्वानभ्युपगमेतु कारणत्वस्य **"स्वर्गकामो यजेत"** इति इष्टसाधनाताबोधकविधिवाक्यस्यापि अप्रामाण्यापत्तेः. यतोहि स्वर्गाव्यवहितपूर्ववृत्तितावच्छेदकानन्यथासिद्धिनिरूपको धर्मो हि अप्रसिद्धएवेति. तस्माद् धर्मविधायकवेदवचसां प्रामाण्यरक्षणायापि सत्कार्यवादो असन्नेव इति अभ्युपगन्तव्यः.

तच्च [१८]कारणत्वं द्विविधं : १.फलोपधायकतारूपम् एकम् २.अपरन्तु स्वरूपयोग्यतारूपं च इति. तत्र अव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन फलविशिष्टत्वं फलोपधायकत्वम्. स्वरूपयोग्यत्वन्तु कारणतावच्छेदकधर्मवत्त्वम्. एतादृशं स्वरूपयोग्यत्वमेव 'नियतपूर्ववृत्तिजातीयता'पदेन गृहीतम्. इत्येवम् असत्कार्यवादएव सर्वथा दोषरहितः.

अत्र ब्रह्मवादिनाम् अस्माकम् अभिप्रायस्तु एवं वेदनीयः. तथाहि यद् उक्तं [१]*"कारकव्यापारात् पूर्वमपि घटसद्भावे स घटो यदि अभिव्यक्तेन रूपेण वर्तते चेद्, ध्रुवं तदा कारकव्यापाराणां वैफल्यम्. अथ मृत्पिण्डेन रूपेण*

सद्भावेतु तेनैव रूपेण सद्भावो अभ्युपेयो न घटरूपेण" इति, तत्र न वयं कारकव्यापारात् पूर्वं 'घटः'इति नामाभिधेयतां वा पृथुबुध्नोदराकृतिं वा जलाद्याहरणधारणक्षमतां वा अभिव्यक्तां स्वीकुर्मो, येन कारकव्यापारो व्यर्थो भवेत्. *"सविशेषणे प्रसक्तौ विधिनिषेधौ विशेषणमेव उपसंक्रामतः विशेष्ये बाधके सति"* इति न्यायेन नामादीनां विशेष्यभूतस्य सद्रूपकारणद्रव्यस्य पूर्वसिद्धतया उत्पत्तेः अनावश्यकत्वेन विशेषणरूपाणां खलु नाम-रूप-कर्मणामेव अभिव्यक्त्येकप्रयोजनो हि कारकव्यापारो न पुनः नामाद्याश्रयीभूतद्रव्योत्पत्तिप्रयोजनकः. नहि मृण्मयघटजननानुकूलेन कारकव्यापारेण मृत्तिका जन्यमाना क्वचिद् अनुभूयते. तस्मात् कार्योपादानरूपयोः घटमृत्पिण्डयोः नामाकृत्यर्थक्रियाणां भेदोऽपि द्रव्यैक्याविरोध्येव. तस्मात् नहि मृत्पिण्डरूपेण तद्द्रव्यसद्भावे 'घट'नामरूपकर्मसमवायितार्हद्रव्यस्य अभावं स्वीकर्तुं सत्कार्यवादिनः समुत्सुकाः भवन्ति. एतनैव [२]*"मृत्पिण्डएव घटात्मको भवति * इति चेत् न, स यदा घटात्मको भवति तदैव घटसद्भावो न ततः पूर्वम्"*. इत्यपि आपत्तिः निरस्तैव वेदितव्या. अन्यथा मृद्घटद्रव्ययोः भेदो अङ्गीक्रियते चेत्, को नाम इह जगति घटं निर्मातुं मृत्तिकाम् उपाददेत!

यत् पुनः अवादिषुः [३]*"आविर्भावो मृत्पिण्डाद् अभिन्नो वा भिन्नो वा स्यात्? अभिन्नः चेत् मृत्पिण्डदशायामपि अनुभूयेत. भिन्नः चेत् तथाविधाविर्भात् पूर्वं मृत्पिण्डोऽपि आविर्भूतघटरूपेण असन्नेवेति"* इति, तत्र अस्माकं सिद्धान्ते भेदाभेदोभयनिरासेन भेदसहिष्णवभेदरूपतादात्म्याङ्गीकारादेव भेदाभेदविकल्पने स्वतएव भिद्येते. दर्शितन्तु श्रुतिसिद्धत्वं तादात्म्यस्येति नच अस्याः कल्पनायाः अप्रसिद्धता नवा अप्रमाणतापि कैश्चिद् वक्तुं पार्येत. एतेनैव [४]*"सोऽपि सद् वा असद् वा? अथ सत् चेद् घटोत्पत्तेः प्रागपि घटाविर्भावो कुतो न अनुभूयते? असत्त्वेतु असत्कार्यवादापत्तिरेव"* इत्यपि निरस्तं ज्ञेयं, शक्तिरूपेण सत्त्वेऽपि शक्यरूपेण उद्भवानङ्गीकारात्. उद्भूतानुद्भूतरूपयोः नैयायिकैरपि सत्त्वासत्त्वविकल्पे नहि अन्यः परिहारः शक्यः कर्तुं 'सत्त्वासत्त्वा'भ्यामेव सर्वोपपत्तौ 'उद्भूतानुद्भूत'प्रयोगवैयर्थ्यापत्तेः च.

एतनैव [५]*"कार्यात्मना अवस्थानं चेद् आविर्भावो तदपि पूर्वन्तु असदेव.*

[६] *घटाकृतिः चेद् आविर्भावः सापि पूर्वम् असत्येव.* [७] *प्रतीतिरूपत्वेतु आविर्भावस्य सा घटप्रतीतिः चक्षुःसंनिकर्षादिसामग्रीजन्या न दण्डचक्रादिसामग्रीजन्येति आविर्भावस्तु कारणसामग्रीजन्यतया निरूप्यतइति वैषम्यम्.''* इति यद् आपादितं तदपि निःसारितं ज्ञेयम्. आविर्भावो नाम नामरूपकर्मणाम् अनुद्भूतानाम् उद्भाविका कारणद्रव्यगता शक्तिः. सा सत्येव 'घट'नामाभिधेयतां घटाकृतिं तदीयार्थक्रियां च स्वस्मिन् मृद्वस्तुनि अभिव्यनक्ति; तयाच तथाविधप्रतीतिगोचरतामपि तस्याम् आदधाति इति न किञ्चिद् एतद्. नहि घटप्रतीतिः चक्षुःसंनिकर्षादिसामग्रीजन्येति दण्डचक्रादिसामग्र्यजन्यमपि घटं प्रतीतिगोचरताम् आपादयितुं सा सामग्री स्वतःसमर्था!

योऽपि भगवद्वचनाभिप्रायनिरूपणपराक्रमः [८] ''*''**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**'' इति वचनस्य शशशृङ्गादितौल्यनिराकरणएव तात्पर्याद्''* इति; यच्च, [१०] *''कार्यस्य असत्त्वे शशविषाणादेरपि उद्भवाशङ्का व्यर्थैव, यतोहि नैयायिकाः नहि ''यद्यद् असद् तत्तद् उत्पद्यते'' इति ब्रुवन्ति किन्तु ''यद्यत् क्रियते तत्तद् असद्'' इत्येव. तस्मात् प्रागसत्त्वं कार्यत्वे प्रयोजकं नतु असत्त्वमात्रम्''* इति कुशकाशावलम्बनं, तदेतद् उभयमपि विचार्यमेव. इदम् अत्र पिपृच्छिषितव्यं भवति : प्रागसत्सनातनासतोः भेदे तावत् को हेतुः? तत्र इत्थं यदि उच्येत *''यत्तु न कदापि सत्त्वेन जायते यथा शशविषाणादिकं तत् सदैव असद् इति. घटस्तु प्राग् असन्नपि पश्चात् सत्त्वेन उत्पद्यते. सोऽयमेव प्रागसत्सदातनासतोः भेदे हेतुः''* इति, तदिदमपि असाम्प्रतमेव 'प्रागसद्' इति असतः पूर्वकालवर्तित्वं चेद् वदतोव्याहतिः — 'पूर्वकालवर्ति' इति 'नास्ति' इति च. अथ असतः पूर्वकालवर्तित्वाभावेतु प्रागभावएव न सिद्ध्येत्. तस्माद् न असतोः द्वैविध्यं भगवद्वचनाभिप्रेतम् इति वक्तुं युक्तम्. अथ उत्तरकालवर्तिप्रतियोगिको अभावः प्रागभावो, असत्तु निष्प्रतियोगिकएवेति अयमेव भेदः चेत्, चेत् तदा प्रतियोग्यनुयोगिनोः इतरेतरापेक्षितया तादृक्प्रतियोगितानिरूपको यो अनुयोगी तस्य सत्तां विना प्रतियोगितायाअपि असिद्धत्वेनैव यदनुयोगिको अभावः तद्वस्तुरूपएव सो अभावो भवतु न पुनः असदेव. यदितु सद्रूपानुयोगिप्रतियोगिभ्यां कश्चन भिन्नएव अभावः इति आग्रहः तदा तथाविधानुयोगिप्रतियोगिभ्यां तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको

अन्योन्याभावरूपो वा किमु स प्रागभावः? यदि एवं तदा तस्य सत्त्वाविरुद्धतया पुनः कथञ्चित् सत्त्वापत्तिः भवित्री. अथ आत्यन्तिकासत्त्वरूपत्वेतु तुच्छत्वाविशेषापत्तिरिति घट्टकुट्यां प्रभातः. किञ्च ''**नासतो विद्यते भावः**'' इति भगवद्वचनपूर्वार्धस्य — असतः शशशृङ्गादेः भावो न विद्यते — इत्यत्र तात्पर्यकल्पनापूर्वकं यत् सतः तद्वैलक्षण्यकल्पनं तदपि ''**नाभावो विद्यते सतः**'' इति वाक्योत्तरार्धेन असङ्गतमेव, भवन्मते सतो अभावचतुष्टयाङ्गीकारादेव. तस्माद् वाक्योत्तरार्धस्य का गतिः? वयन्तु मन्महे — उत्तरकालीनस्य सतो घटः प्रागभावो न विद्यते — इत्येव!

यातु [९] *''शक्त्यात्मनापि कार्यस्य सद्भावो न सम्भवदुक्तिकः, सा शक्तिः घटस्वरूपाद् भिन्ना वा अभिन्ना वा स्यात्? भिन्नत्वे अन्येनैव केनचिद् रूपेण घटसद्भावो न स्वेन रूपेण. अभिन्नत्वेतु शक्तिविद्यमानतादशायां घटविद्यमानत्वापत्त्या प्रागपि आविर्भावात् स घटो अनुभूयेत''* इति व्यर्थविकल्पना, तत्र उपादानकारणनिष्ठा शक्तिः करणरूपा तया जातम् उपादेयं च कार्यं शक्यं, तत्र शक्यशक्तिमतोः द्रव्यैक्येऽपि नाम-रूप-कर्मभेदइति, ब्रह्मवादे ऐक्यसहिष्णुभेदस्य तादात्म्यरूपत्वाङ्गीकारेण नैयायिकानां यद् नभसि असिपरिभ्रामणं न तत् श्रुत्यादिप्रमाणसिद्धं सत्कार्यवादं छेत्तुम् अलम्.

यदपि उक्तं [११] *''कारणत्वमपि न तावत् कार्यानुकूलशक्तिमत्त्वं वा आविर्भावयोग्यशक्तिमत्त्वं वा, विकल्पासहत्वात्. तथाहि शक्तिः इयं नित्या वा अनित्या वा स्यात्? नित्यत्वे सति नित्यकार्योत्पत्तिः अनित्यत्वेतु अनन्तशक्तितत्प्रागभावध्वंसकल्पने गौरवः. अतो योग्यतावच्छिन्नस्वरूपसहकारिसन्निधानाद् नातिरिक्तः पदार्थः कश्चित् शक्तिरूपः. योग्यतापि न पदार्थान्तरं किन्तु वस्तुविशेषएव. एवं वस्तुविशेषनियमाद् उपादाननियमसिद्धिः''* तदपि न चारु. यतोहि शक्त्यनङ्गीकर्तॄणां ''कारणत्वं च पदार्थान्तरम्'' इति वादिनां मतेऽपि तथाभूतं कारणत्वं नित्यं वा स्याद् अनित्यं वा इति विचिकित्सायां कोऽयं तार्किकसमये कारणत्वाय सहकारिणां पक्षपातो यत् ते तस्माएव स्वसान्निध्यं प्रददन्ते शक्तयेतु स्वसान्निध्यं

न प्रददेरन् इति!

अथ एतत् स्याद् [१२] ''*असत्कार्यवादाङ्गीकारएव उपादानग्रहणं सार्थकं भवति न पुनः सत्कार्यवादाङ्गीकारे, ब्रह्मवादेतु पुनः सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वेन सर्वस्य सर्वत्र च सत्त्वेनापि उपादाननियमो व्यर्थएव*'' इति. तत्र ब्रह्मवादिनोऽपि एवं संगीर्यन्ति ''***कार्याविर्भावसिद्ध्यैतु ह्युपादानविचिन्तना, कार्यासत्त्वे त्वसम्बद्धोपादानेनापि किं भवेद्!***'' इति.

एतेन यद् वलिगतं [१३] ''*सर्वस्य सर्वात्मकत्वेतु अन्नस्यापि मांसरूपत्वानपायाद् अन्नभक्षणे मांसभक्षणापराधः*'' इत्यादिकम्. तत्र ''**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति एतं ह वाव न तपति किम् अहं साधु न अकरवं किम् अहं पापम् अकरवमिति... आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति**'' (तैत्ति.उप.२।९ - ३।६) इति श्रुतेः आनन्दात्मकं ब्रह्म स्वीकुर्वन्तो ब्रह्मवादिनो वयं नूनं पापप्रायश्चित्ततापासंस्पृष्टाएव. इदम् अत्र अवधेयं : भक्षितस्य अन्नस्य शरीरे मांसाद्युत्पादकतया अन्ने यथा मांसादिप्रागभावः तथा कीटसरीसृपद्विजाण्डपशुष्वपि भक्षितेषु सत्सु मांसादिजनकतोपलम्भेन तत्रापि प्रागभावो विद्यतएवेति अन्नवत् तत्रापि कार्यकारणयोः भेदाङ्गीकारेण च नैयायिकैः कुतो न ते भक्ष्यन्ते? अथ मांसादिभेदो न भक्ष्याभक्ष्यत्वनियामको किन्तु विधिनिषेधावेव * इति चेत्, स्वागतं तर्हि सद्वर्त्मनि भवताम्! ब्रह्मवादिनामपि अस्माकं न अभेदो भक्ष्याभक्ष्यत्वनियामको किमुत विधिनिषेधावेवेति समानो योगक्षेमः. यतोहि ''**शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थम् इति... दर्शितो अयं मया आचारः धर्मम् उद्वहतां धुरं...द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च संस्कारेण अथ कालेन महत्त्वाल्पतया अथवा शक्त्याशक्त्या अथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने...क्वचिद् गुणोऽपि दोष स्याद्, दोषोऽपि विधिना गुणो, गुणदोषार्थनियमः तद्भि(वि!)दामेव बाधते**'' (भाग.पुरा.११।२१।३-१६) इति नाम-रूप-कर्मभेदेन लीलां कुर्वता भगवता शास्त्रेषु यद्भक्षणेन प्रत्यवायो

निरूपितः तद्भक्षणेनैव प्रायश्चित्तव्यवस्थाम् अङ्गीकुर्मो न पुनः नैयायिकानां तर्कव्यवस्थाम्. तस्माद् भगवतो हि दुरत्यया काचन शक्तिः तार्किकेषु जागर्ति ''**नैतद् एवं यथात्थ त्वं यद् अहं वच्मि तत् तथा एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्यया... परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां... पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुः विवक्षितम् एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानि इतराणि च पूर्वस्मिन्वा परस्मिन्वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः**'' (भाग.पुरा.११।२२।५-६) इत्युक्तत्वादेव भगवद्वचनएव विधिनिषेधत्वरूपं सामर्थ्यं स्वीकुर्मो न तार्किकवचनेषु इति अलम्.

एतावांस्तु परं विशेषो यद् नैयायिकानां बुद्धिष्वपि जातानां तर्कोत्थापत्तीनां पदार्थान्तररूपं कारणत्वं वयं नैव अङ्गीकुर्मः, प्रत्युत, भगवतः काञ्चन शक्तिमेव. यया शक्त्या विवादविरामो न कदापि जायेत! ततोहि ते क्षम्याः यथा उच्यते भागवते ''**त्वं ब्रह्म परमं साक्षाद् अनाद्यन्तम् अपावृतं सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययोद्भवः उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयम् अकृतात्मभिः... गूढः चरसि भूतात्मा भूतानां भूतभावनः न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते**'' (भाग.पुरा.११।१६।१-४) इति. ततो यत् तद् ब्रह्म नैयायिकाः न पश्यन्ति तदपि आनन्दरूपस्य भगवतो व्यामोहकलीलैव!

तस्मात् [१४] कार्यकारणयोः अभेदेऽपि 'कार्यम्' इति आख्यापि अविरुद्धा, 'कारणम्' इति आख्यापि अविरुद्धैव ''**कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवद् अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य भावाद्वैतं तद् उच्यते**'' (भाग.पुरा.७।१५।६३) इत्यत्र भावाद्वैतदर्शनविधानपूर्वकमेव ''**यद् यस्य वा निषिद्धं स्याद् येन यत्र यतो नृप! स तेन ईहेत कर्माणि नरो न अन्यैः अनापदि**'' (भाग.पुरा.७।१५।६६) विधिनिषेधव्यवस्थानिर्वाहोपदेशात् सर्वमपि उपपद्यतएव. अन्यथा प्राणप्रतिष्ठासंस्काररहितायाः प्रतिमायाः पूजनं निषिद्धं तत्सहितायाः च विहितं तत्र नैयाकिकैः भेदो वा अभेदो वा अभ्युपगम्येत? आपणात् परिक्रीतमूर्त्यारम्भकावयवानां नाशानुपलम्भेन प्रतिष्ठासंस्कारोत्तरं तेषां उत्पत्त्यनुपलम्भेनापि भेदस्य वक्तुम् अशक्यत्वेनैव तत्र अभेदस्य विहितनिषिद्धानियामकत्वम् अकामैरपि अङ्गीकरणीयमेव.

यत्तु [१५] ''*यथैव शशविषाणादेः असत्त्वजननानर्हत्वे प्रत्यक्षसिद्धे तथैव घटादीनामपि प्रागसत्त्वजननार्हत्वेअपि प्रत्यक्षसिद्धे. तयोस्तु एकत्र प्रत्यक्षप्रामाण्याङ्गीकारो अपरत्र न इत्यत्र विनिगमकाभावोऽपि दोषएव*''इति प्रतिपादितं तत्तु बलवच्छ्रुतिप्रमाणेन प्रत्यक्षस्य बाधादेव न अङ्गीकरणीयम्. अन्यथा जगतो ब्रह्मोपादानकत्वेन ब्रह्मात्मकत्वानङ्गीकारे परमेश्वरप्रतिमापूजनमपि धर्मरूपं न स्यात् प्रत्यक्षेण प्रतिमायाः परमेश्वररूपत्वादर्शनात्.

यातु [१६] ''*सतो जन्माङ्गीकारे ब्रह्मणोऽपि सद्रूपत्वेन ब्रह्मणोऽपि जन्यत्वेन अनित्यतापत्तिः दुष्परिहरा*'' इति उक्तिः सापि ''**अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्**'' (तैत्ति.आर.३।१३।१) इति श्रुत्या नैयायिकानाम् अधीरत्वद्योतिकेति वयन्तु धैर्यधारणेनैव तूष्णीम्भावं स्वीकुर्मः.

[१७] ''*स्वर्गाव्यवहितपूर्ववृत्तितावच्छेदकानन्यथासिद्धिनिरूपको धर्मो हि अप्रसिद्ध-एवेति* '**स्वर्गकामो यजेत**' *इत्येवमादीनाम् इष्टसाधनताबोधकानां वैदिकविधीनां प्रामाण्यरक्षणायापि कारणत्वं हि अतिरिक्तः पदार्थः इति स्वीकार्यम्*'' इति या असत्कार्योपपत्तिः उपदिष्टा सातु न्यायशास्त्राध्येतृणामेव कृते बहुभीषिका न जातु वेदान्तशास्त्रचिन्तनपराणां शक्तिकरणतावादिनां कृते, विहिते यागादिकर्मणि स्वर्गादृष्टकारणतावत् स्वर्गप्रदादृष्टशक्त्याधारकत्वेऽपि न्यायतौल्यादेव.

यत्तु [१८] ''*कारणत्वं द्विविधं : १.फलोपधायकतारूपम् एकम् २.अपरन्तु स्वरूपयोग्यतारूपं च इति. तत्र अव्यवहितपूर्ववृत्तित्वसम्बन्धेन फलविशिष्टत्वं फलोपधायकत्वम्. स्वरूपयोग्यत्वन्तु कारणतावच्छेदकधर्मवत्त्वम्. एतादृशं स्वरूपयोग्य-त्वमेव 'नियतपूर्ववृत्तिजातीयता'पदेन गृहीतम्*'' इति विवृतम्. तत्र स्वरूपयोग्यं कारणं स्वरूपेण कार्यजननाय योग्यमपि सत् कार्यं यदि न जनयति तदा अयोग्यतयैव अङ्गीकुर्वन्तु भवन्तः. अथ योग्यत्वेऽपि सहकारिणीं कारणसामग्रीम् अपेक्षते अतः एवं नाङ्गीक्रियते * इति चेत् तदा कारणसामग्र्याएव योग्यत्वम् अङ्गीकार्यं न पुनः सामग्रीघटकस्य यस्य कस्यापि स्वरूपयोग्यतारूपं कारणत्वम् ''यत्

(कारणे कार्यजननशक्तिरूप-सामर्थ्यविशेषानङ्गीकर्तृणां शङ्का)

❊ ननु तन्त्वादीनाम् अविशीर्णत्वेन बीजानां च अभर्जितत्वेन रूपेणैव कार्यजननदर्शनाद् रूपभेदमात्राङ्गीकारेण निर्वाहे अतिरिक्तशक्तिकल्पनं गुरुभूतम्. एवञ्च वह्निस्थलेऽपि मणेः प्रतिबन्धकत्वेन तदभावस्य प्रतिबन्धकाभावरूपत्वात् तस्य सहकारित्वेन निर्वाहात्[१] च ज्ञेयम्. नच *प्रतिबन्धकत्वं नाम कारणीभूताभावप्रतियोगित्वं[पा.भे.१६] तथा सति मण्यादेः प्रतिबन्धकत्वं तदभावस्य च करणत्वमिति कल्पनाद्वयेन गौरवम्* इति वाच्यम्, अतिरिक्तशक्तिवादेऽपि तन्नाशकतत्प्रतिबन्धकयोः तवापि आवश्यकत्वेन च तौल्यात्. वस्तुतस्तु न मण्यादीनां प्रतिबन्धकत्वं न वा तदभावस्य कारणत्वं किन्तु उत्तेजकाभावविशिष्ट-मण्यभावविशिष्ट-वह्नित्वेन वह्नेरेव कारणत्वमिति एकेनैव कार्यकारणभावेन निर्वाहात् लाघवमेवेति अतिरिक्तशक्तिकल्पना अजागलस्तन-प्रायैव❊ इति चेत्.

कार्यं प्रति कारणस्य पूर्ववृत्तिता येन रूपेण नाम *स्वरूपयोग्यत्वरूपेण* **गृह्यते तत् कार्यं प्रति तद्रूपं नाम** *स्वरूपयोग्यत्वरूपम्* **अन्यथासिद्धं यथा घटं प्रति दण्डत्वम्**'' इति दण्डत्ववत् स्वरूपयोग्यत्वमपि अन्यथासिद्धमेव. किञ्च ''**यस्य** *स्वरूपयोग्यत्वस्य* **स्वातन्त्र्येण** *सामग्रीतः स्वातन्त्र्येण* **अन्वयव्यतिरेकौ न स्तः किन्तु कारणम्** *कारणसामग्रीम्* **आदायैव अन्वयव्यतिरेकौ गृह्येते तद्** *स्वरूपतो योग्यं सामग्रीघटकम्* **अन्यथासिद्धम्**'' इति अन्यथासिद्धिलक्षणस्य स्वरूपयोग्ये कारणे अतिव्याप्तेरपि दुष्टमेव कारणताद्वैविध्यं न्यायमते. ततोऽपि इह प्रष्टव्यं भवति : द्विविधे इमे कारणे भिन्ने अभिन्ने वा? यदि आद्यं तदा यत् फलोपधायकं न तत् स्वरूपतः कार्यजननाय अलम्. अथ अभिन्ने न तदा द्वैविध्यम्. अतोऽपि असत्कार्यवादाङ्गीकारो मुधैव. तस्मात् न केवलं श्रुत्यादिशास्त्रविरुद्धो असत्कार्यवादो अपितु युक्त्यापीति तदुपपादकयुक्तिनिरसनाय पूर्वोत्तरपक्षौ युक्त्यैव आरचयन्ति ''*ननु तन्त्वादीनाम् अविशीर्णत्वेन बीजानां च'' इत्यारभ्य ''नाम्न्येव कलहः पर्यवस्यति न स्वरूपे इति मुधैव अयम् आग्रहः इति दिग्''

---

१. ''अतिरिक्तशक्तिवादेऽपि तन्नाशकतत्प्रतिबन्धकयोः तवापि आवश्यकत्वाद्-'' इति [नि.ह.लि.टि.].

इत्यन्तं यावत्.

इह अपरे पुनः *"यज्जातीयं प्रति यज्जातीयस्य कारणता तज्जातीयस्य उत्पत्तिः तज्जातीयेन कारणेनैव भवति. घटजातीयं प्रति दण्डादिजातीयानां कारणता विद्यते अतो दण्डादिजातीयैः घटजातीयस्य उत्पत्तिः भवति. शशशृङ्गजातीयं प्रति कस्यचिदपि कारणत्वाप्रसिद्ध्या न तस्य उत्पत्तिः सम्भवति"* इति वर्णयन्तः कार्यस्य उत्पत्तौ कार्यस्य सत्त्वं न उपयोगीति प्रागभावात् शशशृङ्गादेः भेदं समर्थयन्ति. तत्र *"अयं घटोऽयमपि घटः"* इति अनुगताकारिका बुद्धिः घटत्वरूपधर्मे प्रमाणरूपापि न तस्य जातित्वे प्रमाणं **"जातिव्यक्तिविभागो अयं यथा वस्तुनि कल्पितः"** (भाग.पुरा.६।१५।८) इति श्रीभागवतवचनेन बाधितत्वात्. किञ्च वस्तुस्वरूपे तावद् 'घटे'ति नाम्नः पृथुबुध्नोदराकृतेः जलाहरणधारणाद्यर्थक्रियायाः च स्वसमानेतरघटसाधारण्येन या आश्रयिता अनुभूयते तथा असाधारणतापि तद्व्यक्त्यंशत्मना अनुभूयते. सेयम् उभयात्मिका प्रतीतिरेव जातिव्यक्तिविभागकल्पना-प्रसू. तत्र जातिः तावद् नैयायिकैः **"नित्यत्वे सति अनेकसमेवेतता"** (सि.मु.८)रूपेण अङ्गीकृता तथैव **"समवायत्वं नित्यसम्बन्धत्व"**(तत्रैव.११)रूपेण अङ्गीकृतम्. सति चैवं सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वेन कार्यकारणयोः एकतराभावे सम्बन्धभङ्गभियापि वस्तुनो जात्यात्मना नित्यत्वं व्यक्त्यात्मनातु अनित्यत्वमिति एकस्यैव वस्तुनः उभयविधत्वम् अकामैरपि स्वीकरणीयमेव. ततश्च ब्रह्मवादवदेव इहापि मूलसदंशादारभ्य मृदाद्यन्तं यावद् तत्तन्नामरूपकर्माश्रयस्य नित्यत्वं वा पूर्वसिद्धत्वं वा नाम-रूप-कर्मणां च आविर्भावतिरोभावशालित्वमपि नातीव विरुद्धम्. तस्मात् कार्यद्रव्यस्य नामरूपकर्मविशेषणविशिष्टतयैव प्रागभावो न पुनः विशेष्यांशेन तत्समवायिद्रव्यतयापीति सत्कार्यवादिनां प्रक्रिया दोषरहितैव. नच * तार्किकशिरोमणिना रघुनाथेन प्रागभावस्य अतिरिक्तत्वं खण्डितम्. अतो वस्तुतः प्रागभावसत्त्वे प्रमाणाभावेऽपि न्यायनये देशकालौ तुल्ययोगक्षेमाविति एकस्मिन्नपि काले देशाद्यवच्छेदकभेदेन घटादेः भावाभाववद् एकस्मिन्नपि देशे कालावच्छेदकभेदेन भावाभावौ सम्भवतः. तस्मात् कपाले स्वकीयोत्पत्तिप्राक्क्षणे घटस्य असत्त्वेऽपि तदुत्तरक्षणावच्छेदेन घटसत्त्वे बाधकाभावः. शशशृङ्गादीनान्तु अलीकतया नहि घटस्य अनुत्पन्नस्यापि शशशृङ्गेण

(तत्समाधानम्)

मा एवं, गुरुशरीरकारणतावच्छेदकप्रवेशेन अत्रापि गौरवानपायात्. अवच्छेदकशरीरे मण्यभावस्य प्रतिबन्धकाभावत्वेन प्रवेशे प्रतिबन्धकस्य च पूर्वोक्तलक्षणकत्वे अत्रापि कार्यकारणभावद्वयकल्पना, प्रतिबन्धककल्पना (पा.भे.१७) च इति कल्पनात्रयापत्तेः. किं(? ञ्च!) सामग्रीहेतुत्वं प्रतिबन्धकत्वम् इति लक्षणकत्वेऽपि कल्पनाद्वयेन पूर्वोक्ततौल्यात्. मण्यभावत्वेन प्रवेशेतु नानाकार्यकारणभावकल्पनापत्त्या अत्यन्तमेव गौरवात्. मन्त्रौषधादिभिरपि दाहाभावदर्शनात्. यत्किञ्चिन्मणेः सद्भावे दाहदर्शनेन व्यभिचारापत्तेः च. एवम् उत्तेजकानामपि नानात्वेन तत्तत्स्वरूपेण प्रवेशे पूर्ववदेव गौरवात्. 'यत्किञ्चित्'त्वेन प्रवेशे यावत्तदभावविशिष्ट-मण्यभावविशिष्ट-वह्नेः दाहं प्रति अकारणत्वात् ततो दाहाभावप्रसक्तेः. 'यावत्'त्वेन प्रवेशे च यत्किञ्चिदुत्तेजक-विशिष्टमणिसत्त्वेऽपि दाहाभावापत्तेः. तादृशतद्विशिष्टवह्निना दाहदर्शनात् तथात्वेन वा, यावत्तदभावविशिष्ट-मण्यभावविशिष्ट-वह्नित्वेन वा कारणता इति सन्देहानपायेन कार्यकारणभावशरीरस्य तावदुत्तेजक-तदभाव-मणि-तदभाव-तत्तद्वैशिष्ट्य-ज्ञाना- धीनतया तादृशतच्छरीरज्ञानस्य दौर्घट्येन च कारणताग्रहस्यैव दुर्लभत्वात् च. अतो दाहं प्रति वह्नित्वेनैव कारणता लाघवात् सार्वजनीनत्वात् च(पा.भे.१८) अनिच्छतापि आदरणीया. अतो मणिप्रतिबध्या स्वभावाद्यतिरिक्ता (पा.भे.१९) शक्तिः काचिद् अभ्युपेयैव. एवं बीजानामपि अभर्जितत्वेनैव न कारणता दावाग्निदग्धेभ्योऽपि वेत्रबीजेभ्यः कदलीकाण्डजननस्य भामतीनिबन्धे प्रदर्शित-त्वात्. वराहशोणित-मेदःसेचित-कदल्या दाडिमफलजनकत्वस्य तरुचिकित्सा-ग्रन्थे चित्रीकरणे प्रसिद्धत्वात् च. अतः तत्रापि भर्जनादिना (पा.भे.२०) काचित् नाश्यते काचिद् आधीयते इति अवश्यं मन्तव्यम्.

साम्यम् * इति वाच्यं, सतएव देशकालवस्त्वच्छेदकभेदैः भावाभावौ सुवचौ तयोः आविर्भावतिरोभावाविरुद्धत्वात्. असतस्तु अवच्छेदकभेदेनापि सत्त्वापादनम् अशक्यमे-वेति. किञ्चिदनुयोगितानिरूपितप्रतियागिताश्रयीभूतस्य असत्त्वाभ्युपगमो "मम माता वन्ध्या" इति वदतोव्याघातरूपएव. अपिच प्रागभावस्य अतिरिक्तत्वाभावे सत्कार्यवादः श्रुत्यादिशास्त्रसिद्धः शास्त्रप्रामाण्यवादिभिः नैयायिकैरपि अङ्गीकरणीयएव.

(पूर्वपक्षे अप्रसिद्धकारणरूपकल्पनया नाम्न्येव कलहः)

वस्तुतस्तु कार्यकारणभावपक्षेऽपि प्रसिद्धरूपातिरिक्तरूपान्तरस्य उत्पत्त्यादिशालिनो अवश्यकल्पनीयतया कार्यकारणभावशरीरस्य तावत् नाम्न्येव कलहः पर्यवस्यति, नतु स्वरूपे इति मुधैव अयम् आग्रहः इति दिक्.

अत्र पुनः आक्षिपन्ति नैयायिकाः : शक्तेः अतिरिक्तत्वकल्पनायां मानाभावात् नहि तावद् ''आविर्भावकशक्त्याधारकत्वं कारणत्वम्'' इति कारणलक्षणं सम्भवति, शक्तिस्वीकरणं विनापि कार्योत्पादसम्भवात्. प्रतिबन्धकेन शक्तेः कीदृशः प्रतिबन्धः ? इति प्रश्ने विनाशएव इति वक्तव्यम्. अन्यथा प्रतिबन्धसद्भावेऽपि शक्तिसत्त्वे कथङ्कारं कार्यप्रतिबन्धो भवेत् ? तथाच अनन्तशक्ति-तद्ध्वंस-तत्प्रागभावकल्पनापेक्षया प्रतिबन्धकाभावस्य प्रतिबन्धकाभावविशिष्टस्यैव कारणत्वं लाघवात् स्वीकार्यम्. शक्तेः अतिरिक्ततायां एषा अपरापि अनुपपत्तिः : भावकार्यस्य समवायिकारणजन्यत्वेन शक्तेरपि भावकार्यत्वेन शक्त्यनुकूला अपरा शक्तिरपि समवायिकारणे स्वीकार्या; एवं तस्याअपि जननाय अन्येति अनवस्था. अतएव निर्वचनचतुरेण गदाधरेण कारणतावादे ''**कारणत्वस्य निरुक्तरूपत्वे तद्घटकान्यथासिद्धिनिरूपकधर्मभेदकूटस्य प्रातिस्विकरूपेण युगसहस्रेणापि ज्ञातुम् अशक्यतया कारणत्वस्य दुर्ज्ञेयत्वापत्तिः**'' (वादवारि. ३०।पृ. २०७)इति उक्तमेव. अतएव पदार्थतत्त्वनिरूपणे दीधितिकृतः कारणत्वस्य पदार्थान्तरत्वं स्वीकुर्वन्ति. तच्च यथायथं प्रत्यक्षानुमित्यागमादिग्राह्यम्. एवञ्च शक्तिः चेद् यदि अतिरिक्ता कारणत्वरूपैव. एतावान् परं भेदः कारणत्वस्य उत्पादविनाशशालित्वाभावः शक्तेस्तु वाल्लभैः उत्पादविनाशशालित्वाभ्युपगतौ अनन्तशक्ति-तत्प्रागभाव-तत्प्रध्वंसादिकल्पनया गौरवदोषः. तस्मात् कारणत्वमेव पदार्थान्तरमिति निर्दुष्टः पक्षो नैयायिकानाम्.

अत्र वाल्लभानां समाधानं तावद् एवं पुरस्कर्तुं शक्यते : नच अयम् अस्ति नियमो यत् प्रतिबन्धकेन तावत् कारणशक्तेः विनाशएव कर्तव्यो, विनाशं विनापि उपरोधस्य दृष्टचरत्वादेव. नहि सूर्योपरागे सूर्यस्य प्रकाशनशक्तेः विनाशः केतुना क्रियते दृश्यतेतु उपरोधः आपामारपण्डितजनैः सर्वैरपि. अथ उच्यमानेऽपि विनाशे ''**'णश'=अदर्शने**'' इति व्युत्पत्त्या विशेषेण अदर्शनं विनाशइति न

अतो बीजादिपरिणामस्थलेऽपि सैव मन्तव्या. नच उक्तदूषणग्रासः, उक्तरीत्या सिद्धायाअपि तस्याः भगवदिच्छया नियतत्वात्. नच तस्याअपि नित्यत्वात् तद्दोषतादवस्थ्यम् ''*इदम् अस्मिन् काले, अस्मिन् देशे, एवम्, अस्माद्, बहिर्भवतु. इदञ्च अस्मिन् अन्तर्भवतु*'' इति तदाकारस्य फलबलेन कल्प्यत्वात्(पा.भे.२१).

(समानन्यायेन असत्कार्यवादेऽपि ईश्वरेच्छायाः कुतो न नियामकत्वम् ? इति शङ्कानिरासः)

ननु एवं सति ईश्वरेच्छया वस्तूत्पत्तिरेव अङ्गीक्रियताम् इति चेत्, मा एवम्, असत्कार्यवादे उत्पत्तेः अशक्यवचनत्वात्.

तथाहि—उत्पत्तिः नाम प्रागभावो वा धर्मान्तरं वा? न आद्यः तस्य अजन्यस्य कार्यप्राक्कालवर्तित्वेन इदानीं घटोत्पत्तिः भविष्यतीति

विनाशोऽपि शक्तेः असत्त्वापादको येन पौनःपुन्येन प्राक्प्रध्वंसाभावादिकल्पनानैयत्यं गले पतितं स्यात्. ततो विनापि शक्तिध्वंसं तदुपरोधेन कार्याजननं न दोषाय. तथैतया उपरोधकल्पनयैव ''*भावकार्यस्य समवायिकारणजन्यत्वेन शक्तेरपि भावकार्यत्वेन शक्त्यनुकूला अपरा शक्तिरपि समवायिकारणे स्वीकार्या; एवं तस्याअपि जननाय अपरेति अनवस्था*'' इति अनवस्थापत्तिरपि अप्रसक्तैव. ''**'पत्लृ'=गतौ**'' इति धातोः 'उद्'उपसर्गयोगेन व्युत्पन्नेन 'उत्पत्ति'पदेनापि कारणान्तःस्थितानां नाम-रूप-कर्मणाम् 'उद्' उपरि बहिः वा आगमनम् उत्पत्तिरिति प्रागभाव-प्रध्वंसाभावौ ब्रह्मवादिनां कृते न नियतसमाश्रयौ भवतः. तस्माद् न दोषो वक्तुं शक्यः कथञ्चन.

तस्मात् सुष्ठुक्तं ''वस्तुतस्तु कार्यकारणभावपक्षेऽपि प्रसिद्धरूपातिरिक्तरूपान्तरस्य उत्पत्त्यादिशालिनो अवश्यकल्पनीयतया कार्यकारणभावशरीरस्य तावत् नाम्न्येव कलहः पर्यवस्यति, नतु स्वरूपे इति मुधैव अयम् आग्रहः'' इति.

प्रतीत्यभिलापयोः बाधप्रसङ्गात्. न अन्त्यः, तस्य एकनिष्ठत्वे कार्यानुत्पाददशायां कार्यस्य असत्त्वात् कारणादिनिष्ठत्वमेव तस्य वाच्यं, तथा सति तद्विषयिणी 'उत्पद्यते' इति प्रतीतिः स्यात्. द्विनिष्ठत्वेऽपि *''संयुक्तौ इमौ''* इतिवद् *''उत्पद्येते इमौ''* इति प्रतीतिः स्यात्. आद्यक्षणे घटादिरूपप्रतियोग्यभावेन संयोगाभावप्रतीतिवद् *'उत्पद्यते'* इति प्रतीतिः च न स्यात्. नच * ''*'दश दिनानि अतीयुः'—'षड्भिः अहोभिः गन्ता'*'' इत्यादौ भूतभव्यदिवसेषु असत्स्वपि संख्यारूपो धर्मो यथा उपेयते तथा उत्पत्तिरपि अनुत्पन्नघटाद्याधारा अभ्युपेया * इति वाच्यं,. तेषां दिनानामपि कालचक्रे सूर्यपरिस्पन्दवशेन तत्तद्-वत्सरर्तु-गततया पुनः-पुनः परिवर्तमानानां सतामेव संस्कारादिना उपनये तत्र अपेक्षाबुद्ध्या संख्याकल्पनस्य शक्यत्वेऽपि, उत्पत्तेः अकाल्पनिकत्वेन अत्र तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्. अथ *अपेक्षाबुद्ध्या तत्र संख्या जन्यतएव न कल्प्यते * इति चेत्, न, समवायिनं विना केवलनिमित्तेन कार्यजननस्य क्वापि असिद्धत्वेन, अत्र तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्.

(निरुपादानककार्योत्पत्तिनिरासः)

नच *चिन्तामण्यादौ निरूपादानक-दधि-वसन-सुवर्णादि-जननस्य दृष्टत्वात् न दोषः * इति वाच्यम्, अविक्रियमाणानां तेषामेव उपादानत्वाद्, योगिवत् सामर्थ्यविशेषेण दध्यादि-जनकभूत-भेदाकर्षणस्य तत्र शक्यवचनत्वात् च. अनुपादानकसृष्ट्यङ्गीकारे **''सर्वस्य समवाय्यसमवायिनिमित्तजन्यत्वम्''** इति वैशेषिकादिसिद्धान्तहानेः च.

(उत्पत्तेरपि उत्पत्तेः अवश्यस्वीकर्तव्यत्वेन उत्पत्त्यनुपपत्तिः इति निरूपणम्)

किञ्च संख्यायाइव उत्पत्तेरपि जन्यत्वात् तस्याअपि उत्पत्तिः स्वीकार्या. तथा सति निष्प्रमाणिका अनवस्थापत्तिः तत्तत्कारणादिकल्पनागौरवग्रासः च. नच * *''उत्पत्तिः जाता''* इत्यादि प्रत्ययानुरोधाद् उत्पत्तेः उत्पत्तिम् अङ्गीकृत्य' विशेषाणां स्वतो व्यावर्तकत्ववत् सा स्वतएव * इति वाच्यम्, आत्माश्रयापत्तेः, विशेषाणामपि उपगमातिरिक्त-प्रमाणरहितत्वेन दृष्टान्ताभावात् च. नच *वर्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वमेव सा * इति वाच्यं, तस्य पूर्ववादएव

दूषितत्वात्, कारणावस्थाविशेषेणैव निर्वाहात्. प्रतियोगित्वस्य स्वरूपसम्बन्धविशेषत्वेन स्वरूपद्वयात्मकत्वाद् घटस्वरूपस्य तदानीम् अभावेन तस्यापि वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच *भाविनीं सत्ताम् आदाय तत्र प्रतियोगित्वं * शक्यवचनं, धर्मिणो[पा.भे.२२] असत्त्वेन भाविसत्तायाः निश्चयाभावेन तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्. नापि *आद्यक्षणसम्बन्धः सा * इति वाच्यं, प्रतियोगिसत्तां विना क्षणसम्बन्धस्य अशक्यवचनत्वात्, तस्यापि आद्यक्षणसम्बन्धएव 'उत्पत्ति'पदार्थइति ज्ञप्तौ आत्माश्रयात् च. नच *ईश्वरेच्छया असदेव उत्पद्यते * इति वाच्यं, मानाभावात्, मायिकत्वापातात् च, *''घटो भवति''* इति प्रयोगानुपपत्तेः च, प्रथमान्तविशेष्यक-शाब्दबोधस्य तदभिमतत्वात्. क्रियाश्रयत्वस्य च कर्तृत्वाद् भवनक्रियाश्रये घटएव आख्याताभिहिते[पा.भे.२३] लडर्थस्य कालस्य समानपदोपात्तत्वेन अन्वयात् तदानीं घटानङ्गीकारे तस्य अशक्यवचनत्वात्. नच *व्यापारस्यापि समानपदोपात्तत्वेन कालान्वयस्य तत्र शक्यवचनत्वात् न प्रयोगानुपपत्तिः * इति वाच्यम्, एवमपि आश्रयवर्तमानत्वम् अन्तरेण व्यापारवर्तमानतायाः अनुपपद्यमानत्वाद् घटादिसत्तायाः अर्थादेव सिद्धेः. पदान्तरोपात्त-फलान्वय-पक्षेऽपि सत्तारूपस्य उत्पत्तिरूपस्य वा यस्य-कस्यापि फलस्य धर्मत्वेन धर्मिणं विना असिद्ध्या धर्मिणोऽपि सत्तायाः अर्थादेव सिद्धेः. नच *कालस्य कर्तरि अन्वये उच्यमाने उत्पत्त्यनन्तरमपि[पा.भे.२४] कालान्वितस्य कर्तुः घटस्य सत्त्वाद् *''उत्पद्यते घटः''* इति प्रयोगापत्तिः * इति वाच्यं, व्यापारादिद्वारैव अन्वयाङ्गीकाराद् व्यापारादितिरोभावाद् द्वाराभावेन कालान्वयाभावात् तादृशप्रयोगाभावस्य अनायासेन सिद्धेः.

''तस्य पूर्ववादएव'' इति सृष्टिभेदवादे इति अर्थः. ''नापि आद्यक्षणसम्बन्धः सा'' इत्यत्र. *ननु पूर्वं सम्बन्धप्रतियोगिसत्तायाः अभावेऽपि घटाद्युत्पत्तिक्षणे सम्बन्धप्रतियोगिनो घटादेः सत्त्वात् क्षणसम्बन्धः सुवचः * इति चेत् न, यतोहि प्रथमक्षणसम्बन्धरूपा हि उत्पत्तिरिति उत्पन्नस्य घटस्य प्रथमक्षणसम्बन्धो वा प्रथमक्षणसम्बद्धस्य घटस्य उत्पत्तिः वा वाच्या? नाद्यः, नहि उत्पन्नस्य घटस्य अजागलस्तनप्राया उत्पत्तिः वक्तुं योग्या. न द्वितीयः, प्रथमक्षणसम्बद्धस्य घटस्य उत्पत्तेस्तु उत्पत्तेः पूर्वं तस्य असत्त्वाभ्युपगमेनैव व्याहता सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वेन

तस्माद् असत उत्पत्तिर् न युक्तिम् अधिरोहति ॥
अतो धर्मी पूर्वसिद्धः सर्वथैवाभ्युपेयताम् ॥५॥
तथा *'नष्टो घट'* इति व्यवहारस्य सिद्धये ॥
तदाप्युपेयस् तेनायं धर्मी सिद्धः सनातनः ॥६॥
एवञ्च धर्मिनित्यत्वे ब्रह्मतादात्म्यम् अस्य च ॥
बोध्यं ''पुरुषएवेदं''-''स वै सर्वमिदं जगत्'' ॥७॥
''इदं सर्वं यदयमात्मे''त्यादि श्रुतिदर्शनात् ॥
तथा सति ''स भूतं स भव्यम्'' एतच्छ्रुतेर् बलात् ॥८॥
तादृशव्यवहारेऽपि न क्षतिस्तस्य काचन ॥
शक्तिस्तु सिद्धा प्राक् तेन शक्ताद् हेतोर्बहिः स्थितिः ॥९॥
आविर्भावस्तिरोभावस् तस्मिन्नेव स्थितिर्मता ॥
अयं '''जनी' प्रादुर्भावे'' '''णश'चादर्शने'' इति ॥१०॥
धात्वर्थदर्शनाद् अर्थः पुष्टस्तेनात्र कार्यता ॥
कारणत्वं च सुघटं तत्प्रकारोऽधुनोच्यते ॥११॥

तथाहि ''परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते'' (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुतेः ''मयूराः चित्रिता येन शुकाश्च हरितीकृताः. हंसाश्च श्वेतगरुतः स मे विष्णुः प्रसीदतु'' (   ) इति वाक्यात् च पूर्वोक्ताअपि शक्तयो भगवतएव. भगवतैवच विभज्य *प्रजायेय* इति इच्छया तत्र-तत्र रूपे स्थापिताः.

प्रतियोगिनश्च सम्बद्धत्वासम्भवादेव इति आक्षिपन्ति ''प्रतियोगिसत्तां विना क्षणसम्बन्धस्य अशक्यवचनत्वात्. तस्यापि आद्यक्षणसम्बन्धएव 'उत्पत्ति'पदार्थ- इति ज्ञप्तौ आत्माश्रयात् च'' इति. तदेतत् सर्वं पुनः कारिकाभिः संगृह्णन्ति **तस्माद् असतः** इत्यारभ्य **तत्प्रकारो अधुना उच्यते** इत्यन्तं यावत्. *ननु एवम् आविर्भावस्यापि आविर्भावो भवति न वा? न भवति चेद् घटोऽपि न आविर्भवेत्. आविर्भवति चेद् सोऽपि आविर्भूतो भवति न वा इति समानो

किञ्च आविर्भावतिरोभावावपि भगवतः शक्ती ''आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः'' (   ) इति वाक्यात्. 'आविर्भाव'- 'तिरोभाव'शब्दौच करणव्युत्पन्नौ भावव्युत्पन्नौ च. तत्र आद्ये पक्षे '''आविः'=प्रकटं भावयति'', उपादानान्तःस्थं कार्यरूपं[पा.भे.२५] बहिः प्रकटं करोति या निमित्तगता उपादानगता च शक्तिः सा 'आविर्भाव'शब्दवाच्या. एवं '''तिरो'=अप्रकटं भावयति'' बहिष्ठं कार्यं उपादानान्तः स्थापयति या शक्तिः नाशकगता[पा.भे.२६] सा 'तिरोभाव'शब्दवाच्या. द्वितीयपक्षे आविर्भवनम्=आविर्भावः, तिरोभवनं=तिरोभावः. तत् च अस्मिन् सृष्टिकालात्मके स्थूलोपाधौ[पा.भे.२७] तदवयवात्मक-तत्तत्कालोपाधि-क्रमिके [पा.भे.२८] *''तस्य-तस्य तथा-तथा तत्तदुपलम्भो भवतु''* इति तदा तत्र तस्य तथा *''तत् मा भवतु''*इति इच्छाविषयत्वम् इति फलति. तदपि त्रिविधं तद् उक्तम्[पा.भे.२९]-

अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः ॥
नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा ॥१३॥

अर्थस्तु[पा.भे.३०] : अनित्ये उत्पत्तिनाशरूपम्. तद्[१०] उपपादितम्. नच उत्पन्ने बहिर्भूतप्रतीत्यभावः शङ्क्यो, अङ्कुरादौ तथा प्रत्ययात्, न्यायसामान्येन अन्यत्रापि शक्यवचनत्वात् च. नित्ये परिच्छिन्ने जीवादौ गमागमरूपम्. नित्यापरिच्छिन्ने भगवति प्राकट्याप्राकट्यरूपम्[पा.भे.३१]. तेषां[पा.भे.३२] सर्वेषां स्वरूपभेदेऽपि अनया दिशा 'आविर्भाव'-'तिरोभाव'पदाभ्यां संग्रहः.

योगक्षेमः* इति चेत् मैवं, भगवतः शक्तित्वेन सर्वदा विद्यमानतयैव यदा घटः आविर्भवति तदा सा शक्तिः व्यापारान्विता, यदातु घटः आविर्भूतो न अनुभूयते तदा सा व्यापारान्विता न जाता इति अनुमेयत्वात्.

*ननु आविर्भावतिरोभावयोः श्रुत्यादिशास्त्रसिद्धत्वेऽपि एतयोः भगवच्छक्ति

१०.''अनित्ये जननम्'' इत्यादि विद्वन्मण्डनकारिकाविवरणसमये उपपादितम् इति अर्थः[क].

रूपत्वं यद् उच्यते न तत् प्रामाणिकं, भागवते तट्टीकायां श्रीधर्यां वापि कुत्रचित् शक्तिगणनासु नामतो अनुल्लेखाद्* इति चेत् न, के यूयं खलु इत्यम् अनुयोगकारिणः किं शाङ्कराः वा स्वतन्त्राः वा? न आद्याः, भगवत्पादशङ्कराचार्यैरपि "जगदुत्पत्त्यादिषु आविर्भूतनिमित्तशक्तिभिः विभूतिभिः अनेकधा तिष्ठन् 'नैकात्मा'" (विष्णुसह.ना.भा.४६८) इत्यत्र 'आविर्भूतनिमित्तशक्ति'पदेन आविर्भाविकायाः भगवच्छक्तेः अभ्युपगमादेव.

तथाच आह पञ्चीदशीकारोऽपि "जगद्योनिः भवेद् एष प्रभवाप्ययकृत्त्वतः, आविर्भावतिरोभावौ उत्पत्तिप्रलयौ मतौ...आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्त्वेन हेतुना आरम्भपरिणामादिचोद्यानां न अत्र सम्भवः" (पञ्चद.६।१८२-१८६) इति. अत्र 'परिणाम'पदो विकारवाचको ज्ञेयो ब्रह्मणो अविकारित्वश्रुतेः. तस्मादेव वयं वाल्लभाः सकलकुचोद्याविषयम् एतम् अविकृतपरिणामवादमेव श्रुत्यादिप्रमाणैकगम्यम् ऊहामहे. भवांस्तु पुनः स्वपरम्परायाम् अभ्युच्चयेन अङ्गीकृतमपि एनं न अङ्गीकरोति इति चित्रम्!

अथ स्वातन्त्र्येऽपि श्रीश्रीधरस्वाम्यनुसारित्वं चेत्, तेषामपि पुनः "श्रीमच्चित्सुखयोगिमुख्यरचितव्याख्यां निरीक्ष्य स्फुटं तन्मार्गेण सुबोधसंग्रहवतीम् 'आत्मप्रकाशा'भिधां श्रीमद्विष्णुपुराणसारविवृतिं कर्ता यतिः श्रीधरस्वामी" (वि.पु.आ.प्र.१।१।१) इत्यत्र शाङ्करमतानुगामित्वं कण्ठतो निरूपितमेवेति निजाचार्योक्तं विस्मर्तुं नहि स्वामिनोऽपि अर्हन्ति.

ननु एतस्मादेव कारणात् तेऽपि जगतो अवास्तवत्वं स्वीकुर्वन्तः आविर्भावतिरोभावशक्त्योरपि आविद्यकत्वमेव अङ्गीकुर्युः न वास्तविकत्वं यथाच उच्यते तैः "अतः तत्त्वज्ञानबाधितत्वात् न प्रपञ्चो वास्तवः" (तत्रैव.१।१२।३९) इति चेत् मैवं, ते किम् अङ्गीकुर्वन्ति तत्तु तएव ज्ञातुं समर्थाः. वयन्तु एतदेव जानीमो यत् पुनः तैरेव व्याख्यातं—

(१) "लोकेहि सर्वेषां भावानां मणिमन्त्रादीनां शक्तयो अचिन्त्यज्ञान-गोचराः. अचिन्त्यं तर्कासहं यद् ज्ञानं कार्यान्यथानुपपत्तिप्रमाणकं

तस्य गोचराः सन्ति. यद्वा अचिन्त्याः भिन्नाभिन्नत्वादिविकल्पैः चिन्तयितुम् अशक्याः केवलम् अर्थापत्तिज्ञानगोचराः सन्ति. यतः एवम् अतो ब्रह्मणोऽपि ताः तथाविधाः सर्गाद्याः सर्गादिहेतुभूताः भावशक्तयः स्वभावसिद्धाः सन्त्येव. पावकस्य दाहकत्वादिशक्तिवत्. अतो गुणादिहीनस्यापि अचिन्त्यशक्तिमत्त्वाद् ब्रह्मणः सर्गादिकर्तृत्वं घटते इति अर्थः."

(२) "यतो वस्तुतः तद्रूपाव्यतिरेकाद् जगदपि ज्ञानमयमेव... ज्ञानात्मकमेव सर्वम् इत्यत्र विद्वदनुभवं प्रमाणयन्ति 'येतु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत् ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर' इति ज्ञायते अनेन इति ज्ञानं=वेदान्तपुराणादि तद्विदः. श्रुतिश्च 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'-'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'."

(वि.पु.आ.प्र.१।३।२, ४।४०-४१).

तस्माद् भागवतपरायणाः सन्तोऽपि यद् आविर्भावतिरोभाववादप्रतिचिक्षिप्सवः वदन्ति "'तदेतद् अक्षयं नित्यं जगद्...आविभार्वतिरोभावजन्मनाशविकल्पवद्' (-वि.पु.१।२२।६०) इति विष्णुपुराणश्लोके शब्दमात्रोपलम्भनाद् आविर्भावतिरोभावसि-द्धान्तस्य प्रामाणिकता साध्यते, सन्दर्भान्तरेतु तदपि आपातरमणीयम्. 'ज्ञानस्वरूपो भगवान्...शैलाब्धिधरादिभेदान् जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि' (तत्रैव.२।१२।३८)... 'तस्मान् न विज्ञानम् ऋते अस्ति किञ्चित्...' (तत्रैव.२।१२।४३) इति विष्णुपुराणेऽपि श्रीमद्भागवतवदेव जगत्सत्तानङ्गीकाराद्" इति तैः श्रीश्रीधरस्वामिकृतेन एतेन आत्मप्रकाशेन विद्योतितं विष्णुपुराणम् अध्येतव्यम्. तत्र मूलवचनानि—

द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्तञ्चामूर्तमेव च।
क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेष्ववस्थिते॥
अक्षरं तत् परं ब्रह्म क्षयं सर्वमिदं जगत्।
एकदेशस्थितस्याग्नेः ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा॥
परस्य ब्रह्मणः शक्तिः तदेतदखिलं जगत्॥
तत्राप्यासन्नदूरत्वाद् बहुत्वस्वल्पतामयः।

एवञ्च यन्निष्ठाविर्भाव-शक्तिरूपाद् धर्माद् यस्य आविर्भवनरूपधर्मसिद्धिः[पा.भे.३३] तस्य तत् कारणम् इति उच्यते. यन्निष्ठतिरोभाव-शक्तिरूप-धर्माद् यस्य तिरोभवनरूपधर्मसिद्धिः तस्य तत् नाशकम् इति उच्यते. एतेनैव कार्यं नाश्यं च व्याख्यातम्. तथैव उक्तरीतिकान्तर्भावबहिर्भावाख्य-नाशोत्पत्तिशालित्वमेव अनित्यत्वम् इत्यपि. अनेनैव न्यायेन आविर्भावतिरोभावयोरपि[पा.भे.३४] अनित्यत्वं, सदातनत्वं भगवद्रूपत्वं च अवसेयम्. इच्छायाः च नियामकत्वात् न तयोः उत्पत्त्याद्यर्थं कारणान्तरादेः अपेक्षा. कालस्यापि तन्नियतत्वाद् यथायोग्यमेव विशेषणत्वम् इति. यत्परिस्पन्दावच्छिन्ने काले उत्पत्तिः नाशः च, तस्य परिस्पन्दान्तरेण तिरोभावे तद्विशिष्टयोः उत्पत्तिनाशयोरपि तिरोभावाद् उत्पन्ने नष्टे च घटे न 'उत्पद्यते'-'नश्यति' इति प्रयोगापत्तिः

ज्योत्स्नाभेदोऽस्ति तच्छक्तेः तद्वन् मैत्रेय विद्यते॥

....

तदेतद् अक्षरं नित्यं जगद् मुनिवराखिलम्।
आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत्॥
सर्वशक्तिमयो विष्णुः स्वरूपं ब्रह्मणोऽपरम्॥

एतेषां श्लोकानां व्याख्याने आत्मप्रकाशकाराः वदन्ति—

"ननु अक्षरस्य परब्रह्मणः तद्विलक्षणं क्षरं रूपं कथं स्याद् इति आशङ्क्य दृष्टान्तेन उपपादयन्ति 'एकदेश...'इति. प्रादेशिकस्यापि अग्नेः दीपादेः दाहकस्यापि तद्विलक्षणा ज्योत्स्ना प्रभा यथा तत्प्रकाशशक्तिविस्तारः तथा ब्रह्मणः शक्तिकृतो विस्तारः इदम् अखिलं ब्रह्मादिरूपं जगद्."

(वि.पु.आ.प्र.१।२२।५५-५९).

ननु इहैव अविद्यावरणप्रयुक्ताल्पत्वबहुत्वयोः व्यवस्थापनात् न किमपि असमञ्जसम् इति चेत् न, जगतो विज्ञानविजृम्भिततोक्तिः इयं न खलु अज्ञानविजृम्भिततायै कल्पेत. यदितु तथा केनचित् कल्प्येत ब्रह्मविज्ञानमपि अज्ञानरूपं स्याद् अज्ञानमेव वा ब्रह्मविज्ञानरूपं भवेत्. न जातु अग्नेः ज्योत्स्ना तमोरूपिणी भवितुम् अर्हति नापि पारमार्थिकं ज्ञानं मिथ्याविद्यारूपं वा भवत् क्वचिद् विजृम्भते.

(षड्विधभावविकारेषु आविर्भावतिरोभावप्रक्रियायाः संगतिः)

एवं ब्रह्मवादे :—

(१)वृद्धिरपि कृशत्वतिरोभावसहितस्थूलत्वप्रादुर्भावः.
(२)अपक्षयः तद्विपरीतः.
(३)विपरिणामोऽपि पूर्वरूपरसादितिरोभावसहकृतो रूपरसान्तरादिप्रादुर्भावएव.
(४)सत्तातु नैसर्गिक्येव.

इति ब्रह्मोपादानकसृष्टिव्यवस्था[पा.भे.३५]

(शिष्टासु चतसृषु सृष्टिषु एतन्निगमनम्)

मुख्यायाः लीलासृष्टेस्तु नित्यत्वेन अभिन्नत्वात् प्राकट्याप्राकट्याभ्यां लीलासम्पत्तिः.

तस्माद् ये सत्कार्यवादं नाङ्गीकुर्वन्ति ते स्वमातुः गर्भादपि स्वस्य आविर्भावं निराचिकीर्षेयुः, ततः स्वजन्मनः प्राक् स्वप्रतियोगितानिरूपितमातृगर्भानुयोगिकप्रागभावस्य मोहाद् वा, स्वमातृरूपप्रतिपन्नोपाधौ "नासं न जातो नापि भविष्यामि" इति स्वस्य तत्र त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगितायाः मोहाद् वापि! सोऽयं तार्किकतायाः उत्कर्षः चेद् वरम् अस्माद् उत्कर्षाद् उत्कर्षात्यन्ताभावो अप्रमाणसिद्धोऽपि! वयन्तु ब्रह्मोपदिष्टे **"उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुः, अधोक्षज!, आगसे? किम् 'अस्ति-नास्ति'व्यपदेशभूषितं तव अस्ति कुक्षेः कियदपि अनन्तः!"** (भाग.पुरा.१०।१४।१२) इति सिद्धान्ते श्रद्दधानाः जाताजातयोः घट'तत्प्रागभावा'ख्ययोः भगवति सामानाधिकरण्यमेवेति नातीव विरोधं तत्र पश्यामः.

एवं सच्चिदानन्दस्य कृत्स्नप्रज्ञानघनस्य ब्रह्मणो अंशितया ततः आविर्भूतानाम् आनन्दांशानां चिदंशानां सदंशानामपिवा तत्त्वतो सच्चिदानन्दघनता अक्षुण्णैव. तथापि सदंशेषु चिदंशस्य, चिदंशेषु आनन्दांशस्य तिरोभावेन भगवदिच्छया भावविकाराणां प्रतीतिः अब्रह्मविदामेव न पुनः ब्रह्मविदामपि. तेषान्तु सर्वत्र सच्चिदानन्दरूपा ब्रह्मात्मकतैव अनुभूतिगोचरा भवति तद् उक्तं **"ज्ञानस्व रूपम् अखिलं जगद्**

तृतीयस्याः ब्रह्मविवर्तभूतायाः प्राकृतत्वेन विकारित्वात् प्रथमसमयसंसर्गी भावविकारः उत्पत्तिः चरमसमयसंसर्गी भावविकारो नाशः. अस्त्यादयोऽपि तथा, तादृश्येव तत्र इच्छेति.

चतुर्थ्यान्तु ख्यातिरूपाः सर्वे[पा.भे.३६] (पदार्थाः!) इति न काचिद् अनुपपत्तिः.

इति श्रीवल्लभाचार्यवाणीसूचितया दिशा[पा.भे.३७]।।
आविर्भावतिरोभावप्रपञ्चोऽयं विचारितः ।।१४।।

इति श्रीवल्लभाचार्य-चरणपराग-प्रभावाधिगत-सर्वसिद्धेः
श्रीपीताम्बरसुतस्य पुरुषोत्तमस्य कृतौ षष्ठः[पा.भे.३८]३
आविर्भावतिरोभाववादः सम्पूर्णः

एतद् अबुद्धयो अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसम्प्लवे'' (विष्णुपुरा.१।४।४०) इति, ये ज्ञानव्यतिरिक्तम् अर्थस्वरूपं मत्वा मायिकम् इति वा नश्वरम् इति वा वदन्ति ते मोहसम्प्लवएव तरन्ति. येतु पुनः सर्वत्र भगवद्बुद्ध्या भगवद्रूपं मत्वा आविर्भावतिरोभावशक्तिकृतां भगवल्लीलां मन्वते ते न जातु मोहसम्प्लवे मज्जन्ति. यस्माद् विष्णुपुराणमेव अत्र **''यः कारणञ्च कार्यञ्च कारणस्यापि कारणं कार्यस्यापि च यः कार्यं प्रसीदतु स नो हरिः''** (तत्रैव १।९।४६) इति सर्वरूपस्य श्रीहरेः प्रसादं विना सर्वत्र भगवद्रूपताबुद्धिः मुनीनामपि दुर्लभैव इति सूचयति. तद् अभ्युपगतं वैतण्डिकेनापि श्रीहर्षेण **''ईश्वरानुग्रहाद् एषा पुसाम् अद्वैतवासना महाभयकृतत्राणा द्वित्राणामेव जायते''** इति. अतः सर्वमपि समञ्जसमेव इति विदांकुर्वन्तु कोविदाः.

प्रशमितसकलकुचोद्यं वेदान्तादिप्रमाणवेद्यञ्च।
अविकृतपरिणतिशीलं ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं हि।।
निराचिकीर्षुः सन्तापं भक्तानामिह भूतले।
आविश्चिकीर्षुरानन्दं स्वात्मना स्वात्मके स्वयम्।।
निःसाधनफलात्मा यः श्रीकृष्णस्तत्पदाब्जयोः।
अर्पिता मामिका वृत्तिर् आविर्भावप्रकाशिका।।

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्रीपुरुषोत्तमचरणकृपाधनेन श्याममनोहरेण विरचिता 'आविर्भावतिरोभावप्रकाशिका'ख्या
विवृत्तिः सम्पूर्णा

पाठभेदावली

१.'तदयोग्यतात्मकत्वेन' इति ग-घ पाठः 'तदयोग्यतात्मकत्वाद्' इति क-ख पाठयोः. २.'तत्पश्चाद्' इति मुद्रितः पाठः. ३.'तज्जननम्' इति मुद्रितः पाठः. ४.'प्रसङ्गः' इति क-ख पाठः 'प्रसक्तिः' इति ग-घ पाठः. ५.'बहिर्भाव' इत्येव मु.पाठे अन्येषु 'बहिर्भावरूपा' इति. ६.''...समवधानाभावाद् न तदा कार्यकारण..'' इति मु.पा. ''...समवधानाभावाद् न दोषः इति वाच्यं...असङ्गतिः'' इति ख-घ पाठयोः. ७.''विमतः प्रवाहः'' इति मु.पा. ८.'बीजाङ्कुर' इत्यस्माद् अनन्तरं 'प्रवाह'इति मु.पाठे नास्ति. ९.''अनादित्वम् उपगम्य'' मु.पा. १०.''पाश्चात् च विच्छेदेन'' इत्यत्र 'विच्छेदेन' इति मु.पाठे नास्ति. ११.''अनिरुक्तत्वात्'' इत्यस्माद् अनन्तरं 'किञ्च'इति घ पाठो मुद्रिते नोपलभ्यते. १२.''नच इच्छया'' इत्यनयोः मध्ये 'ईश्वर'इति मु.पाठे नास्ति. १३.'जायमानत्वे' इति ग पाठः. १४.''जननानुकूलायाः शक्तेः'' इति ग पाठः ''जननतानुकूलायाः शक्तेः'' इति घ पाठः. १५.'पटाद्युत्पत्तिः' इति ख पाठानुरोधाद् 'घटाद्युत्पत्तिः' इति मु.पा.अशुद्धो भाति. १६.''कारणीभूताभावप्रतियोगित्वं'' इत्यस्माद् अनन्तरं ''तथा...प्रतिबन्धकत्व-म्'' इति अंशो मु.पाठे नोपलभ्यते. १७.'प्रतिबन्धकल्पना' इति मु.पा. १८.''सार्वजनीनत्वात् च'' इत्यस्माद् अनन्तरं ''अनिच्छतापि आदरणीया'' इति मु.पाठे नास्ति. १९.''स्वभावाद् अतिरिक्ता'' इति मु.पा. २०.'भर्जनेन' इति मु.पा. २१.'कल्पनीयत्वाद्' इति मु.पा. २२.''धर्मिणोः सत्त्वेन'' इति मु.पा. २३.'आख्यानाभिहिते' इति मु.पा. अशुद्धएव. २४.'उत्पद्यमानोत्पत्त्यनन्तरम्' इति मु.पा. २५.'कार्यरूपम्' इति ख पाठः ''बहिस्थितं कार्यम्' इति ग पाठः. २६.'नाशकादिगता' इति ग-घ पाठयोः 'नाशकगता' इति मु.पा. २७.'स्थूलकालोपाधौ' इति ग-घ पाठयोः. २८.'कालोपाधिनिमित्तके' इति मु.पा. २९.''तदपि त्रिविधं'' इत्यस्माद् अनन्तरं ''तद् उक्तं'' इति ग-घ पाठयोः. ३०. ''अनित्ये...'' कारिका ख पाठे नास्ति. तदुत्तरम् 'अर्थस्तु' इति ग-घ पाठयोः मु.पाठे

नास्ति. ३१.'अप्राकट्यम्' इति मु.पाठे नास्ति. ३२.'एतेषाम्' इति ग-घ पाठयोः. ३३."रूपधर्मः सिद्ध्यति" इति ग-घ पाठयोः 'धर्मिसिद्ध' इति मु.पा.अशुद्धएव. ३४."आविर्भावतिरोभावयोरपि" इति ग-घ पाठयोः "आविर्भावतिरोभावयोः नित्यत्वम्" इति मु.पा. अशुद्धोऽपि स्यात्. ३५.'स्त्ववस्था' इति मु.पा. अशुद्धः. ३६.'सर्वा' इति मु.पा.अशुद्धः. ३७.'दृशा' इति मु.पा. ३८. ग-घ आदर्शयोः अस्य वादस्य पञ्चत्वोक्तिः. सृष्टिभेदवादे पञ्चमसंख्याके ग्रन्थकृतापि "**आविर्भावतिरोभाववादे वक्ष्यमाणेन**" इति उल्लेखात् तदुत्तरत्वसिद्धिः. यद्यपि प्राचीनेष्वपि सर्वेषु आदर्शेषु भेदाभेदवादस्यैव पञ्चत्वोक्तिः तथापि आविर्भावतिरोभाववादस्यतु सर्वेषु आदर्शेषु, ग्रन्थकर्तुः च निजहस्ताक्षरैः लिखितटिप्पणीसंवलिते आदर्शेऽपि, षष्ठत्वोक्तेः अनुपलम्भात् अनुचितइव भाति तथापि विषयक्रमविचारौचित्येनैव भेदाभेदस्य चतुर्थतया अस्य च षष्ठतया अस्माभिः उपन्यासः.



।। अवतारवादावल्यां ।।

सप्तमः

।। ख्यातिवादः ।।

(मङ्गलाचरणेन उपक्रमः)

यन्मायया[1] बहिःक्षिप्ता ख्यायते बुद्धिरर्थवत्[2] ।।
निवर्तते[3] च यद्बोधात् तं नमामि जनार्दनम्[4] ।।१।।

(बुद्धेः त्रिक्षणावस्थाननियमवादेन आक्षेपः)

[5]ननु[5] किम् इदम् अपूर्वम् उच्यते बुद्धेः ख्यानम् ?(पा.भे.१) तस्याः त्रिक्षणावस्थायित्वनियमेन अमूर्तत्वेन च बहिःक्षेपनिवृत्त्योः[6] अशक्यवचनत्वेन

ख्यातिवादटिप्पणी

अस्य वादस्य '**ख**' संकेतिते आदर्शे पत्राणां परितो रिक्तभागे ग्रन्थकर्तुः हस्ताक्षरसदृशैरेव केषाञ्चिद् हस्ताक्षरैः लिखिताः काश्चन टिप्पण्यः समुपलभ्यन्ते. एवं '**ग**' संकेतिते आदर्शेऽपि कतिचन टिप्पण्यो अन्येन केनचिद्वा विदुषा लिखिताः सन्ति. तदुभाभ्यां सह कतिचन टिप्पण्यः आद्यसम्पादकेनापि स्वपरादिभेदोल्लेखं विनैव प्रकाशिताः आसन्. अस्माभिस्तु इह साकल्येन तत्तत्संकेतभेदोल्लेखपुरस्सरं ताः प्रकाश्यन्ते. यास्तु अस्मदीयाः टिप्पण्यः तासां (श्या) इति सङ्केतः(सम्पादकीयम्).

१.**यन्मायया** इति द्वितीयस्कन्धनवमाध्यायीय "**ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत**"(भाग.पुरा.२।९।३३)इतिश्लोकसुबोधिनीस्वारस्यात् '**मायया**' इत्यस्य समानीतविषयया इति अर्थः(ख). २.**अर्थवद्** इति अर्थाभावेऽपि अर्थवद् भासते इति अर्थः(ग). ३.**निवर्तते च यद् बोधाद्** इत्येतेन सिद्धान्ते अख्यातिरपि अङ्गीकृता बोध्या. तत्प्रकारस्तु अग्रे स्फुटीभविष्यति. ४.**जनार्दनम्** इति जनां मायाम् अर्दयतीति जनार्दनः इति व्युत्पत्तेः(ग). ५.अत्र बुद्धिस्थैर्यादिख्यानम् असहमानो नैयायिकः शङ्कते **ननु** इत्यादिना(ग). ६.**बहिःक्षेपनिवृत्त्योः** इति निवृत्त्यभावे

तत्ख्यानस्य सुतरां तथात्वात्[७]. नच सा स्थिरा इति वाच्यं, मानाभावात्. नच ज्ञानधारायाअपि दर्शनात् तस्याः स्थैर्यं शङ्कनीयम्, उपेक्षाबुद्ध्यादौ[८] व्यभिचारात्. धारावाहिकस्थले सजातीयज्ञानान्तरोदयेन तथाबुद्धेः[९] सूपपादत्वात्. अन्यथा शब्द-बुद्धि-कर्मणां त्रिक्षणावस्थायित्व-नियम-भङ्गप्रसङ्गात्. नच * अनन्त-बुद्धि-तत्प्रागभाव-ध्वंसादि-कल्पनागौरवम् अप्रामाणिकम् * इति वाच्यं, धारावाहिक-व्यतिरिक्त-स्थले तथात्वस्य निश्चयात्. अन्यथा सर्वत्र ज्ञानधारापत्तेः[१०]. मायायाः आमोक्षम् अनुवर्तमानत्वेन स्थिरत्वपक्षे तवापि सर्वदा भ्रमापत्तेः, आत्मनो ज्ञानरूपत्वाङ्गीकाराद् ज्ञानस्य ख्याने आत्मख्यात्यापत्तौ बाह्यमतप्रवेशात् च. अतो[पा.भे.२] बुद्धिस्थैर्य-मायाकृतव्यत्यासात्[पा.भे.३] सर्वदा तदभावकारणादि-कल्पनापेक्षया युक्त्यन्तराणामेव ज्यायस्त्वात् ख्यात्यन्तरमेव[११] आदरणीयम्. नतु कल्पनागौरवग्रस्ता विक्षिप्तबुद्धिरूपा अन्यख्यातिः * इति प्राप्ते —

(अन्यख्यातिवादोपपादनाय मतान्तरीयख्यातिवादनिरासाय च संग्रहकारिकाः)

उच्यते —

यथार्थतान्यथाख्यातौ मुष्टतत्तास्मृतावपि ॥
स्मरणानुव्यवसितिः स्याद् ग्रहणस्मरणात्मके ॥२॥
ज्ञानद्वये चैकज्ञानतुल्यत्वस्य विरोधनम् ॥
संस्कारादेः[१२] बलिष्ठत्वाद् नापेक्षा रजतस्य च ॥३॥
अनिर्वाच्यस्यातएव[१३] नासत्ख्यातिः सदादृता ॥

त्रिक्षणावस्थायित्वम् अमूर्तत्वम् उभयत्र[ग]. ७.तथात्वाद् इति अशक्यवचनत्वाद् इति अर्थः[ग]. ८.**उपेक्षाबुद्ध्यादौ व्यभिचाराद्** इति उपेक्षात्मकानुभवात् संस्कारस्य अनुत्पन्नत्वेन स्मृत्येकतन्त्रस्थैर्यस्य व्यभिचाराद् इति अर्थः. **आदि** पदेन उ...कर्तृत्वकल्पानां ..त्यम्[ग]. ९.**तथाबुद्धेः** इति एकधाराबुद्धेः इति अर्थः[ग]. १०.**अन्यथा सर्वत्र ज्ञानधारापत्तेः** इत्यत्र 'अन्यथा' इत्यस्य ज्ञानस्थैर्याङ्गीकारे इति अर्थः. ...तदभावेन ज्ञानस्य त्रिक्षणावस्थायित्वमेव अङ्गीकार्यम् इति भावः[ग]. ११.**ख्यात्यन्तरमेव** इति अन्यथाख्यातिरेव आदरणीया इति अर्थः[ग]. १२.**संस्कारादेः** 'आदि'पदेन मायापि संग्रहीता ज्ञेया[ग]. १३.**अनिर्वाच्यस्यातएव** इति

सर्वदा तत्प्रसङ्गाच्च[१४] सदसत्ख्यातिरप्यतः ॥४॥
अतएव चाभिनवा[१५]न्यथाख्यातिर्न युज्यते ॥
बुद्धिस्तत्त्वान्तरं तेन नात्रात्मख्यातिसंशयः ॥५॥
कार्यः सर्वजनीनत्वात् तत आद्रियतामियम्[१६] ॥

आत्माहि निर्विषयज्ञानात्मको, बुद्धिस्तु विशिष्टज्ञानाकारा तत्त्वान्तरं, "**बुद्धिर् विज्ञानरूपिणी**"[१७] (भाग.पुरा.२।१०।३३) इति वाक्यात्. अतो न आत्मख्यातिवादापत्तिः. साच न ज्ञानं[१८] "यो बुद्धिमान् तस्य पदार्थज्ञानं भवति" "सुबुद्धिः अयं पदार्थान् जानाति" इति ज्ञानकरणत्वेन लोके व्यपदेशात्. बुद्ध्यभावे बालस्य सम्यक्पदार्थज्ञानाभावदर्शनात् च. किन्तु ज्ञानजनिका यस्य शक्तिः तादृशो अहंकारभेदः सा. "**ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर् बुद्धिः प्राणस्तु तैजसः**[१९]" (भाग.पुरा.२।५।३१) इति द्वितीयस्कन्धे अहंकारभेदेषु गणनात्. अतएव च[२०] स्थिरा. तेन मूर्तायाः तद्वृत्तेः[२१] मायया बहिःक्षेपादिकं न दुर्घटम्.[पा.भे.४] एवं ज्ञानमेव बहिः क्षिप्यते इति पक्षेऽपि न दोषः, त्रिक्षणावस्थायित्व-नियममात्रैकशरणानां तज्ज्ञान-तत्प्रागभाव-ध्वंस-कल्पना-पेक्षया ज्ञानस्थैर्यकल्पनस्य, विरुद्ध-वृत्ति-तिरोभाव्यत्व-कल्पनस्यैव च लघुत्वात्. उपेक्षाबुद्ध्यादौ शीघ्रं विरुद्धवृत्त्युदयेन पूर्वज्ञानतिरोभावेऽपि अन्यत्र तिरोभावादर्शनेन, त्रिक्षणावस्थायित्वनियमस्य अप्रयोजकत्वात् च. नच मूर्तत्वाभावो, अर्थदर्शनोत्तरं नेत्रनिमीलनेन तदर्थाकारस्य अनुभवेन अविवादत्वात्. अतः शुक्तिरजतादिस्थले मायया बहिःक्षिप्त-बुद्धिवृत्तिरूपं ज्ञानमेव अर्थाकारेण ख्यायते इति मन्तव्यम्. नच इदानीं मायायाः सर्वदा सत्त्वात् सर्वदा

संस्कारप्राबल्यादेव सर्वदा तत्प्रसङ्गादेव एवं स्यात् नतु प्रमाबुद्धिः...[ग]. १४.**सर्वदा तत्प्रसङ्गाच्च** इति सर्वदा तत्प्रसङ्गादेव इति अर्थः[ग]. १५.**अतएव च अभिनवा** इति संस्कारादेः बलिष्ठत्वादेव[ख]. १६.ततः आद्रियताम् इयम् इति अन्यख्यातिः[ख]. १७.**बुद्धिर्विज्ञान...**इति विशेषेण ज्ञानं विज्ञानं तदात्मिका इति अर्थः[ग]. १८.**साच न ज्ञानम्** इति नैयायिकं परिहरति[ख]. १९.**प्राणस्तु तैजसः** इति राजसाहंकारः इति अर्थः[ग]. २०.**अतएवच** इति अहंकारभेदादेव[ख]. २१.**तद्वृतेः** इति जन्यज्ञानरूपायाः इति[ख-ग].

भ्रमापत्तिः, संस्कारप्राबल्यस्यापि सहकारित्वात्. अतिरिक्त-संस्कारानङ्गीकारपक्षेतु उद्बोधकैरेव अन्तःशयानायाः बुद्धिवृत्तेः[पा.भे.५] तादृशज्ञानस्य उद्बोधइति तदा सदृशादृष्टचिन्तादि-रूपोद्बोधकसामग्री- प्राबल्यस्यैव सहकारित्वात्. अतः प्रबलसंस्कारेण प्रबलोद्बोधकसामग्र्या वा सहकृता माया बुद्धिं बहिः क्षिपति न इतरथेति, न सर्वदा तदापत्तिरिति, आत्मनः ख्यानन्तु असङ्गतमेव. तस्य अहंवित्तिवेद्यत्वाद् ''गौरो अहम्'' इतिवद् ''अहं रजतम्'' इति प्रतीत्यापत्तेः. तदभावे आत्मनः ख्यानएव मानाभावात च. तस्माद् अन्यख्यातिरेव सर्वजनीना.

(अन्यथाख्यातिवादः)

अत्र **नैयायिकाः** ** मायाकृत-बुद्धिव्यत्यास-कल्पनापेक्षया चाकचक्या-द्युद्बुद्ध-संस्कार-सहकृतेन दोषोपहतेन्द्रियेण संप्रयुक्तं शुक्त्यादिकमेव रजताद्यात्मना गृह्यते इति कल्पनस्य लघुत्वात् संप्रयुक्तस्य अन्यथाभानेन अन्यथाख्यातिरेव आदरणीया ** इति आहुः.

(विषयस्य अन्यथात्वनिरुक्तेः खण्डनेन अन्यथाख्यातिवादनिरासः)

तद् न अन्यथात्वे यथार्थतापत्तेः. तथाहि किम् इदम् अन्यथात्वं नाम [क]आरम्भो ? [ख]विपरिणामः ? [ग]तादात्म्यविशेषो[२२] वा ? सोऽपि [१]विशिष्टस्य वा ? [२]विशेषणस्य वा ? [३]विशेष्यस्य वा ? इति.

तत्र न [कखग] आद्याः [क] संप्रयुक्तस्य शुक्त्यादेः मृदः घटस्येव रजतस्य आरम्भे, [ख] दुग्धस्य दधिरूपेणेव रजताद्याकारेण परिणामे वा, [ग] लोहादीनां स्पर्शमणिस्पर्शे सुवर्णाद्यात्मकत्ववद् रजतात्मकत्वे वा, घटदधिवत् सुवर्णवत् च अर्थानतिक्रमाद् रजतमेवं स्यात्, तज्ज्ञानस्य च यथार्थत्वं स्यात्. तथा सति भ्रमएव उच्छिद्येत. अर्थक्रियापि तेन सिद्ध्येत्.

न [१-२-३] अन्ये [क-ख/१] विशेषणस्य आरम्भे परिणामे च, शुक्तित्वस्य

२२.तादात्म्यविशेष इति भेदसहिष्णुः अभेदः तादात्म्यम् इति तल्लक्षणम्[ग].

द्रव्यरूपतापत्तिः जातिताहानिः च इति अधिकदूषणद्वयापत्तेः. [ग/१] तादात्म्यपक्षे च तादात्म्यकारणानिर्वाच्यतापत्तेरेव अधिकत्वात्.

न [१-२-३] इतरे [क-ख-ग/२-३] विशेष्यस्यैव पूर्वोक्तरीतिकान्यथात्वपक्षेऽपि दग्धपटन्यायेन यथार्थत्वापत्तेरेव दूषणत्वाद्, विशेषदर्शनोत्तरमपि दुष्टरजतप्रतीत्या-पत्तेः च.

अथ अन्यत्र सतः तत्र अलब्धसत्ताकत्वेऽपि प्रकारीभावो अन्यथात्वम् इति उच्यते इति चेद्, न, तत्र अलब्धसत्ताकेन तेन लब्धसत्ताक-शुक्तित्वादि-तिरस्कारस्य अशक्यवचनत्वाद्, अतिप्रसङ्गात्[२३]. ''अर्थस्मृत्या उपनयोत्तरं लब्धसत्ताकस्य''[२४] इति विशेष्यते[पा.भे.६] इति चेद्, न, अन्यतरेण अन्यतरतिरस्कारात् पुरुषभेदेन तत्र[२५] युगपद्भ्रमप्रमानुपपत्तेः. अतिरस्कारेतु उभयोः दण्डकुण्डलवान् इतिवद् उभय-शबल-ज्ञानापत्तेः. अथ गुणदोषयोः तत्र नियामकत्वमिति न एवं ज्ञानम् इति चेद्, न, गुणदोषयोः विषयनिष्ठत्वे तयोः उभयं प्रति साधारणत्वेन उक्तदोषतादवस्थ्यापत्तेः. तयोः तत्तत्करणनिष्ठत्वे च एकस्य रजतशकलयोः[२६] रङ्ग-रजत-भ्रम-प्रमा-समूहालम्बनानुपपत्तेः. आत्मनिष्ठत्वेऽपि तदनुपपत्तेः दुर्वारत्वाद् न किञ्चिद् एतत्. अथ ''इदं रजतम्'' इत्यत्र ''रजताभिन्नः पुरोवर्ती''[पा.भे.७] इति प्रतीत्या रजतभेदाभावएव प्रकारीभूय भासते. सच व्यापकइति[२७] न कोऽपि दोषः इति[२८] यदि विभाव्यते तदपि न मञ्जुलं, रजतभेदाभावस्य अभावप्रतियोगिकाभावतया भावरूपप्रतियोग्यात्मकत्वेन अतिरिक्तपक्षेऽपि प्रतियोगिमात्रनिष्ठत्वेन प्रतियोगिव्य-तिरिक्ते तस्य प्रकारीभवितुम् अनर्हत्वात्[२९]. तादृशाभावस्य व्यापकत्वएव-

२३.**अतिप्रसङ्गाद्** इति अलब्धसत्ताकेन पटत्वादिना घटत्वतिरस्कारापत्त्या पटत्वप्रकारकं ज्ञानं स्यात्[ख]. २४.**अर्थस्मृत्या उपनयोत्तरं लब्धसत्ताकस्य** इति तथाच अन्यत्र सतः तत्र अर्थस्मृत्या उपनयोत्तरं लब्धसत्ताकस्य प्रकारीभावः अन्यथात्वम् इति अर्थः[ख]. २५.**तत्र** भ्रमप्रमयोः इति अर्थः[ख]. २६.**एकस्य रजतशकलयोः** रजतस्य शकलयोः इति अर्थः[ख]. २७.**सच व्यापकः** इति व्याप्यवृत्तिः इति अर्थः[ख]. २८.**इति न कोऽपि दोषः** इति अव्याप्यवृत्तित्वप्रयुक्तभ्रमप्र-मासमूहलम्बनात्मकः इति अर्थः[ख]. २९.**प्रकारीभवितुम् अनर्हत्वाद्** इति

मानाभावात्, प्रतियोगिनः रजतभेदस्य व्यापकत्वे तदभावस्यैव असम्भवात् च. अव्यापकत्वेऽपि प्रतियोगिमात्रव्यावृत्तत्वेन तदितरत्र[३०] सत्त्वात् प्रतियोग्यभावयोः सहानवस्थानविरोधस्य दुर्वारत्वात्. ग्रहिलतया सहस्थितिकल्पनापक्षेऽपि तत्र तस्य सत्तालाभकल्पनं, सहस्थितिकल्पनं, तेन च रजतभेदाभिभवकल्पनं, कालान्तरे च भेदेन अभिभवादिकल्पनम् इति कल्पनाचतुष्टयगौरवस्य दुष्परिहरत्वात् प्रमाणविरहात् च न इदम् अतिरम्यम्. किञ्च भेदा भावस्य अतिरिक्तत्वपक्षे भेदाभावस्य यो अभावः तदभावः रजतभेदाभावइति ''रजताभिन्न-भिन्न-भिन्नः पुरोवर्ती'' इति प्रतीत्यापत्तिरपि[३१] अधिका ज्ञेया.

(ज्ञानस्य अन्यथात्वे शङ्कासमाधाने)

ननु मास्तु विषयस्य अन्यथात्वं तथापि ''रजताकारग्रस्तं ज्ञानं शुक्तिम् आलम्बते'' इति आकारके ज्ञानस्य अन्यथात्वपक्षे किं बाधकम् इति चेद्, न, तादृशज्ञानस्य शुक्त्यालम्बकत्वात् तत्र शुक्त्या स्वाकारसमर्पणे ''रजतम् अहम् अनुभवामि'' इति अनुव्यवसायो न स्यात् ''शुक्तिं रजतत्वेन जानामि'' इति च स्यात्, असमर्पणेतु शुक्त्यालम्बनएव प्रमाणविरहो विरुद्धानुव्यवसायाद् इति. अथ *रजतज्ञानं स्वप्रयुक्तव्यवहारविषयां शुक्तिं करोति इदमेव आलम्बकत्वम्* इति चेद्, न, यत्र रजतज्ञानोत्तरं सद्यएव[पा.गे.८] बाधो विषयान्तरज्ञानं वा तदा शुक्तेः तत्प्रयुक्तव्यवहाराविषयत्वाद् ज्ञानस्य तदनालम्बकत्वे रजताकारग्रस्तस्यापि तस्य प्रमात्वापत्तेः. नच इष्टापत्तिः, संघातात्मज्ञानस्यापि प्रमात्वापत्तेः. आत्मनः संघातात्मज्ञानप्रयुक्त-व्यवहाराविषयत्वात् संघातात्मज्ञानस्य तदनालम्बकत्वेन संघातात्माकारग्रस्ततानपायात्. नच *इदानीं तस्यापि अस्तु प्रामाण्यम्* इति वाच्यं, तथा सति समर्थप्रवृत्तेः पूर्वं सर्वत्रैव अप्रामाण्याग्रहेण उक्ततुल्यत्वाद् भ्रमोच्छेदापत्तेः.

रजतभेदाभावस्य रजतात्मकत्वे रजतभेदप्रकारत्वं रजतातिरिक्तत्वे घटभेदाभावस्येव रजतप्रकारत्वं स्यात् नतु पुरोवर्तिप्रकारत्वेन अर्थः[ख]. ३०.**तदितरत्र** इति शुक्त्यादौ इति अर्थः[ख]. ३१....**भिन्नः पुरोवर्ती इति प्रतीत्यापत्तिरपि** इत्यत्र 'अपि'ना आत्माश्रयोऽपि समुच्चीयते[ख].

यदपि *सौरालोकतदभावाभ्यां कमल-विकास-मुकुलीभावाविव दोषतदभावाभ्यां रजतशुक्तिभावौ समर्थितौ* तदपि मतं, प्रतिनियत-समकालिक-विरुद्धप्रतीत्योः दर्शनादेव ग्रन्थान्तरे परास्तमिति अन्यथाख्यातिवादएव असाधुः इति दिक्.

ननु पूर्वोत्पन्ने प्रमारूपे रजतादिप्रत्यक्षे देशकालादीनामपि विशेषणत्वेन भानाद् बहिःक्षिप्तेऽपि तस्मिन् तद्विशिष्टमेव रजतं भासताम् इति चेद्, न, संस्कारादेः शब्दस्य च पदार्थमात्रापेक्षत्वेन तद्वैशिष्ट्यस्य अनियामकत्वात्. स्मृत्युपनीतं संस्कारोपनीतं वा रजतं भासते इति वदतः प्रतिवादिनोऽपि पूर्वोक्तदूषणोद्धाराय सादृश्याद्युद्बुद्धः संस्कारः पदार्थमात्रम् अपेक्ष्यैव स्मृतिं जनयति उपनयति वा तं, नतु देशादिवैशिष्ट्यमपि अपेक्षते इत्यस्य अवश्यंवाच्यत्वेन समाधेः समत्वात् च. अत्र 'शब्द'ग्रहणन्तु श्रुतपदार्थविषयकस्यापि भ्रमस्य संग्रहाय इति ज्ञेयम्. अतो न कोऽपि दोषः.

(विपरीतख्यातिवादः)

भाट्टास्तु *भ्रमस्थलेऽपि रजतादिज्ञानस्य संस्कारम् अन्तरेण असम्भवात् तज्ज्ञानं स्मृतिरूपमेव अङ्गीकार्यम्. नच तत्तास्फुरणापत्तिः, कर्तृगतदोषेण तत्प्रमोषात्. दोषाभावेतु रजतसादृश्यस्फूर्तिः शुक्तिस्फूर्तिः वा स्यात्. दोषाश्च क्वचिद् रागादयः, क्वचित् प्रबलालोकादिना विवेकासामर्थ्यं, क्वचिद् अन्यचित्तता इत्येवमादयो अननुगताः तथा-तथा दर्शनाद् उन्नेयाः. तस्मात् प्रमुष्टतत्ताका स्मृतिरेव अङ्गीकार्या* इति अख्यातिम्[३२] आहुः.

३२.यद्यपि कुमारिलभट्टानुसारिभिः मीमांसकैः स्वमतत्वेन अख्यातिः न स्वीक्रियते तथापि तदभिमतायाः विपरीतख्यातेः अख्यातौ पर्यवसानं द्योतयितुं कदाचिद् एवम् निरूपणं स्याद्. भाट्टाभिमतख्यातिस्वरूपविषये अधोनिर्दिष्टानि वचनानि अवगन्तव्यानि (१)''**सम्बन्धिदर्शनं हि, सदृशदर्शनवत्, संस्कारम् उद्बोधयते. क्लृप्तंहि तस्य कारणत्वं, संस्कारः च उद्बोधितः स्मृतिं जनयति इति अविवादम्. स्मृतेश्च प्रमोषः शुक्तिरजतादिवेदनेषु क्लृप्तएव.**'' (शास्त्रदीपिकायाम् अनुमाननिरूपणे प्रभाकरमतविमर्शे). (२)''**सर्वत्र संसर्गमात्रम् असदेव अवभासते. संसर्गिणस्तु**

(तन्निरासः)

तद् न, ''रजतम् अहम् अनुभवामि'' इति अनुव्यवसायबाधापत्तेः, 'स्मरामि' इति अनुव्यवसायापत्तेः च.

(विवेकाख्यातिवादः)

प्राभाकरास्तु * मास्तु केवला स्मृतिः तथा किन्तु ग्रहणस्मरणात्मकं ज्ञानद्वयमेव अत्र अख्यातिरूपम् अङ्गीकार्यं स्मृतिप्रमाणभेदेन ज्ञानस्य द्वैराश्यात्. नच अनुव्यवसायद्वयापत्तिः, स्मरणाभिमानस्य दोषप्रमुषितत्वात्. अतो अविविक्तज्ञानद्वयाङ्गीकारे[पा.भे.९] न कोऽपि दोषः * इति आहुः.

(तन्निरासः)

तद् न, एकज्ञानतुल्यत्वेन ज्ञानद्वयस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच न तौल्यम् इति वाच्यं, ''यदि अगृहीतासंसर्गकं ज्ञानद्वयं स्याद् एकज्ञानतुल्यता न स्यात्. यदि सा न स्याद् व्यवसायानुव्यवसाययोः न उपलभ्येत'' इति तर्केण तन्मूलभूतव्यवसायानुव्यवसाभ्यां च एकज्ञानतुल्यत्वनिश्चयात्. किञ्च, ज्ञानद्वैराश्याग्रहेण अत्र ज्ञानद्वयाङ्गीकारे सर्वत्र विशिष्टज्ञानोच्छेदापत्तिः. ''घटो अयम्'' इति प्रमायामपि अगृहीतासंसर्गकवद् गृहीतज्ञानद्वयस्य शक्यवचनत्वाद्, द्वैराश्ये मूलस्य चिन्त्यत्वात् च.

(अनिर्वचनीयख्यातिवादः)

मायावादिनस्तु ※ मास्तु अख्यातिः, अनिर्वचनीयख्यातिरेव अङ्गीकार्या,

सन्तएव. सेयं विपरीतख्यातिः इति उच्यते भीमांसकैः. असत्ख्यातिवादिनस्तु संसर्गिणोऽपि अपलपन्ति इति विशेषः. शुक्तिरजतवेदनेऽपि विद्यमानैव रजतत्वजातिः विद्यमानस्यैव शुक्तिकाशकलस्य अनात्मभूतैव आत्मतयां अवगम्यते.'' (शा.दी.वि-ज्ञानवादखण्डने). (३)''एकान्तसत्त्वे का भ्रान्तिः? असत्त्वे किं प्रभासताम्? द्वयानुगुण्याद् वृद्धानां सम्मता ख्यातिरन्यथा.''(विभ्रमविवेके का.४७)[ख्या].

अन्यथा रजतभानाभावापत्तेः[पा.भे.१०]. नच * रजतारम्भकावयवानां शुक्तौ अभावेन आरम्भानुपपत्त्या अनिर्वाच्यमपि रजतं कथं स्वीकर्तुं शक्यम् * इति वाच्यं, विषयचैतन्यनिष्ठाविद्ययैव तदारम्भोपपत्तेः. तथाहि प्रथमं तावद् दोषसहकृतेन इन्द्रियेण पुरोवर्तिद्रव्यसंयोगाद् इदमाकारा चाकचक्याकारा च अन्तःकरणवृत्तिः उत्पाद्यते, तस्यां च वृत्तौ इदमवच्छिन्नं चैतन्यं प्रतिबिम्बते. तत्चैतन्यं,सुषिरद्वारनिर्गत-कुल्याप्रवाहवत्[३३] केदारस्थ-वृत्त-चतुष्कोणाद्याकारक-भूभाग- भरित-महासरस्सलिलवद्[पा.भे.११] जाता[पा.भे.१२] या चक्षुर्द्वारनिर्गतावय-वसंयुक्त-घटाद्याकारक-तैजसान्तःकरणवृत्तिः तस्याम् उक्तरीत्या निर्गमनेन प्रमातृवृत्ति-विषयचैतन्याभिन्नं भवति. तच्च विषयचैतन्यं साविद्यमिति विषयचैतन्यनिष्ठा या अविद्या सा करणदोषेण सादृश्योद्बोधितसंस्कारेण च सहकृता रजताकारेण तद्ग्राहकवृत्त्याकारेण च इति द्वेधा विवर्तते परिणमति वा. एवम् आरब्धं तच्च आविद्यकं रजतम् अविद्याधिष्ठाने विषयावच्छिन्नचैतन्ये वर्तते. सर्वस्यापि कार्यस्य स्वोपादानाविद्याधिष्ठानाश्रितत्वनियमात्. एवं विषयचैतन्ये अध्यस्तमपि रजतं चैतन्यैक्यात् साक्षिणि अध्यस्तमिति तदेक[पा.भे.१३]ग्राह्यम् इत्येवं मिथ्याज्ञानोपपत्तौ कृतम् अन्यथाख्यात्या ※ इति आहुः.

(तन्निरासः)

तद् न, संस्कारेण स्मृतिवत् संस्कारप्राबल्येन डद्बोधकादिसामग्रीप्राबल्येन वा मिथ्याख्यानस्यापि उपपत्तौ अप्रयोजकत्वाद् गुरुत्वात् च अनिर्वचनीयरजताङ्गी-कारस्य व्यर्थत्वात्. नच * संस्कारस्य बहिः पदार्थोपस्थापकत्वम् अप्रयोजकम् * इति वाच्यं, स्वप्ने त्वयापि तन्मात्रेणैव पदार्थोपस्थित्यङ्गीकारात्. नच

३३.सुषिरम् इति ''सुषिरं विवरं विलम्'' इति कोशात्. कुल्या इति ''कुल्या स्यात् कृत्रिमा सरित्'' [ख]. इदम् अत्र अवधेयम् : शाङ्करमते उपाधिरहितस्य चैतन्यस्य परमार्थतः एकत्वेऽपि प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयत्वरूपोपाधिभिः औपाधिकं त्रैविध्यं भवति. तत्र त्रयाणामपि उपहितानाम् स्वस्वोपाधिसम्बन्धद्वारकैक्ये सम्पन्ने प्रमातरि प्रमेयभूतस्य वस्तुनो अपरोक्षं ज्ञानं जन्यते. तत्र प्रमाणवृत्त्युपहितचैतन्यस्य दृष्टान्तः सुषिरद्वारनिर्गतकुल्याप्रवाहवद् इति. प्रमेयरूपविषयोपहितचैतन्यस्य दृष्टान्तः केदारस्थ-

तत् स्मरणमेव इति वाच्यं, तथा अनुव्यवसायाभावात्, स्वप्नसृष्टिश्रुति(बृह.उप.-४।३।१०)विरोधात् च. नच *दोषं विना एकेनैव संस्कारेण उद्बोधकेन वा कथं स्मृतिभ्रमयोः उपपत्तिः ?* इति वाच्यम्, उष्णस्पर्शाप्राबल्यप्राबल्याभ्यां शीतनिवृत्ति-त्वग्दाहयोरिव संस्काराद्यप्राबल्यप्राबल्याभ्यां स्मृतिभ्रमयोरपि सुखेन उपपत्तेः. प्राबल्येनैव वा अनुभवसामग्र्याः तस्य तिरस्कारः, इदमेव वा अप्राबल्यं ज्ञेयम्. अतएव नैयायिकानाम् एकेन स्नेहेन प्रकर्षाप्रकर्षवैशिष्ट्याद् वह्निनाशोद्दीपनयोः अङ्गीकारोऽपि युज्यते. नच *एवं दोषानभ्युपगमे पीतभ्रम-जनकसंस्कारोद्बोधकस्य शङ्खे अभावात् ''पीतः शङ्ख'' इति भानानुपपत्तिः* इति वाच्यं, बहिःकरणे कामलवद् अन्तःकरणे संस्कारादिप्राबल्यस्यैव तत्त्वात्. एतादृशभ्रमेषु बहिःकरणदोषाङ्गीकारस्तु घटपटादिप्रमोत्पत्या प्रत्यक्षविरुद्धत्वात् च जघन्यएव. निर्गमेण चैतन्यत्रयाभेदाङ्गीकारोऽपि व्यापकात्मवादम् एवम् आत्मवादं च[३४] विरुणद्धी[पा.भे.१४]ति न इतरविद्वदादरभाजनं भवति इति दिक्.

(एतेन असत्ख्यातिनिरासोऽपि सूचितः)

एवं संस्कारादिप्राबल्यादेव असत्ख्यातिरपि अपास्ता इति ज्ञेयम्.

(सदसत्ख्यातिवादः)

सांख्यास्तु *सदसत्ख्यातिः[३५] अत्र सतः इदन्त्वस्य असतो रजतत्वस्य च भानात्, अतएव च एकस्य बाधो अन्यस्य अबाधः* इति आहुः.

वृत्तचतुष्कोणाद्याकारकभूभागभरितमहासरस्सलिलवद इति. प्रमात्रुपहितचैतन्यस्य दृष्टान्तः **महासरस्सलिलवद्** इति. नेत्रद्वारा निर्गता अन्तःकरणवृत्तिरिव सुषिरद्वारनिर्गतः कुल्याप्रवाहः. एवम्भूतया प्रक्रियया महासरस्सलिलं केदाराकारं भवति इति विषयाकाराकारितायां वृत्तौ अवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यविषयचैतन्याभ्यां अभिन्नं सत् प्रमातरि प्रमेयापारोक्ष्यं जनयति इति तन्मतीया प्रक्रिया[ख्या]. ३४.**व्यापकात्मवादम् एवम् आत्मवादं च** इति इदं यथा तथा उपपादितं प्राणाधिकरणस्य ''**तस्य च नित्यत्वाद्**'' (ब्र.सू.भा.प्र.२।४।१६) इति सूत्रस्य भाष्यप्रकाशे[क].३५.**सदसत्ख्यातिः** इति ''सदसत्ख्यातिः बाधाबाधात् च'' (सां.सू.५।५६) इति सांख्यसूत्रात्[क].

(तन्निरासः)

तद् न, असत्ख्यानस्य[पा.भे.१५] अन्यथाख्यातावेव दूषितत्वात्. यदिच[पा.भे.१६] ''सत्याः वृत्तेः असद्रजतरूपेण ख्यानं सदसत्ख्यातिः'' इति अङ्गीक्रियते, तदातु अस्मदभिमतान्यख्यातेरेव नामान्तरमिति ततो अनतिरिक्तैवेति न विवादलेशः.

(अभिनवान्यथाख्यातिवादः)

अभिनवान्यथाख्यातिवादिनो माध्वास्तु *भ्रमस्थले अत्यन्तासतएव रजतादेः प्रतीतिम् अङ्गीकृत्य वल्मीके घटारोपस्य शुक्तौ रजतारोपस्य च नियमनाय अनुभूयमानचाकचक्यादेः आरोप्यनिष्ठत्वाभावेऽपि आरोप्यरजतसादृश्यस्य अधिष्ठाने सत्त्वेन शुक्तौ रजतारोपः[पा.भे. १७] (एवं) वल्मीके घटारोपो(अपि), न अन्यस्य* इत्येवं नियमम् आहुः.

(तन्निरासः)

तद् न, अत्यन्तासतः प्रतीतेः असङ्गतत्वात्. तादृशस्य चाक्षुषप्रतीतिगोचरतायाः क्वापि असिद्धत्वात्. अथ *अत्र 'अत्यन्तासतः' इति न विशेष्यते* इति चेद्, न, सादृश्यस्य उभयप्रतियोगिकत्वनियमेन तत्सादृश्यस्य अत्रेव एतत्सादृश्यस्य तत्रापि वक्तुं शक्यत्वात्. तस्य अत्यन्तासत्त्वेन सादृश्यस्य आधाराभावेन असिद्ध्या, अत्रापि नियामकस्य पूर्वोक्तरीतिकासत्सादृश्यस्य वक्तुम् अशक्यत्वाद् अभिमतासिद्धेः. तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वस्यैव सादृश्यत्वेन असद्गतधर्माणाम् असत्त्वादेव सत्सजातीयत्वस्य अशक्यवचनत्वात्. यदिच ''तेन अयं सदृशः'' इति ज्ञानजनकीभूत-ज्ञानोल्लिख्यमानो यो 'रजता'दिशब्दः तद्विषयत्वमेव अत्र सादृश्यप्रतियोगित्वम् इति विभाव्यते, तदापि तत्सादृश्यप्रतियोगित्वं शाब्दं सदृशज्ञानं नियमयिष्यति, नतु चाक्षुषं सदृशज्ञानं, नापि भ्रमम्, अधिष्ठानासन्निकर्षेऽपि 'रजतम्' इति शब्दप्रयोगमात्राद् रजतसदृशचाक्षुषरजतभ्रमयोः प्रसङ्गादिति न हृदयङ्गमं, श्लेषालङ्कारादौ चमत्कारानाधानप्रसङ्गाद् अनुभवविरोधात् च इति दिक्.

(सत्ख्यातिवादः)

रामानुजाचार्यास्तु *सर्वं ज्ञानं यथार्थमेव, त्रिवृत्करणश्रुतेः[३६] ''त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वाद्'' (ब्र.सू.३।१।२)इति वैयाससूत्रात्, तत्त्वसंघातबोधकपुराणात् च, सर्वस्य सर्वात्मकत्वनिश्चयात्. पूर्वतन्त्रेऽपि व्रीहिप्रतिनिधित्वेन नीवारग्रहणे व्रीह्यारम्भकावयवानामेव नीवारे सत्त्वाङ्गीकारात् च. अतः शुक्त्यादावपि रजतादेः सत्त्वात् तत्रापि ज्ञानं यथार्थमेवेति अख्यातिरेव उचिता. 'शुक्ति'-'रजता'दिनिर्देशस्तु भूयस्त्वाल्पत्वादिहेतुकः[(पा.भे.१८)] इति उपपद्यते. तथा व्यवहारव्यवस्थापि उपपद्यतएव. एवं सति करणदोषवशेन शुक्त्यंशाग्रहणे रजतम् (इति भानम्). शुक्तिज्ञाने तन्निवृत्तिः* इति आहुः.

(एतन्मतस्य अंशतो अभीष्टत्वम्)

तद् अस्माकम् अभीष्टम् परं कश्चिद् विशेषो अस्ति. तथाहि श्रुतिसूत्रयोः तेजोऽबन्नविषयत्वेन पुराणानां च संघातविषयत्वेन कारणात्मक-तत्तत्सत्ताबोधकतया तैः तत्र-तत्र कार्यभूत- रजतादि-सत्तायाः प्रमातुम् अशक्यत्वात्. पूर्वतन्त्रानुरोधेन[३७] तदङ्गीकारेऽपि नीवारे व्रीहि-कारणीभूतावयव-सत्त्ववत् शुक्त्यादावपि रजत-कारणीभूतावयव-सत्तामात्र-सिद्ध्या रजताद्यसिद्धेः. अथ अस्तु ''सर्वं सर्वमयम्'' (नृसिं.उत्त.ता.उप.१।४) इति श्रुत्या सर्वत्र सर्वसत्ता तथापि भ्रमस्थले शुक्त्यंशाग्रहणवद् विशेषदर्शनोत्तरं प्रमास्थले रजताग्रहणेऽपि कश्चिद्दोषएव नियामको वक्तव्यः नतु गुणः, सन्निकृष्टस्य सतः पदार्थस्य अग्रहणे सर्वमतेषु दोषस्यैव नियामकत्वात्, तथैव सर्वजनीनप्रसिद्धेः च. एवं सति भ्रमप्रमयोः अविशेषापत्तिः, दोषजन्यत्वस्य उभयत्र तुल्यत्वात्. नच *रजताग्रहणे अल्पत्वमेव नियामकम्* इति वाच्यं, तस्य भ्रमदशायामपि तुल्यत्वात् तदापि अग्रहणापत्तेः. अतः सर्वत्र सर्वसत्त्वेऽपि भ्रम-प्रमा-भेदनिर्वाहाय प्रसिद्धातिरिक्तस्य तिरोभावएव सर्वथा अभ्युपेयः. अन्यथा सर्वत्र सर्वप्रतीतेः

३६.त्रिवृत्करणश्रुतेः इति ''सेयं देवता ऐक्षत हन्त अहम् इमाः तिस्रो देवता अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतं त्रिवृतम् एकैकं करवाणीति...'' (छान्दो.उप.६।३।२) इति छान्दोग्यश्रुतिः[(ख)].
३७.पूर्वतन्त्रे इति तृतीयस्य षष्ठे पादे[(ख)].

दुर्वारत्वापत्तेः, स्वोपगत-व्यवहारविभाग-भङ्गापत्तेः च. ततश्च शुक्त्यादौ रजतादिसत्त्वेऽपि तेषां तिरोहितत्वात् न प्रतीतिगोचरत्वसिद्धिः. अतः तादृशस्थले रजतादिज्ञानं प्रति अस्मदुपगतैव सामग्री अवश्यम् अभ्युपेया. भवद्भिरपि सामग्र्यां दोषस्यैव निवेशितत्वात्. एवं सति ''ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत'' (भाग.पुरा.२।९।३३)इति भगवद्वाक्यस्य पूर्वोक्तश्रुतेः चापि अविरोधः. अन्यथा अन्यतरविरोधस्य दुर्वारत्वापत्तेः.

(अख्यात्यन्यख्यती विभागेन सिद्धान्ते स्वीकर्तव्ये)

तस्माद् ये पूर्णज्ञानिनः पूर्णयोगिनो वा तेषां सर्वत्र सर्वप्रत्यक्षम्, ''अनागतम् अतीतं च'' (भाग.पुरा.१०।६१।२९) इत्यादिवाक्यात्. अतः तेषां ज्ञानस्य यथार्थत्वात् तत्र उक्ता अख्यातिः उचिता न सर्वत्र. अन्येषान्तु संस्कारप्राबल्येन मायया बुद्धिरेव बहिः क्षिप्यतइति रजतादिधर्माणामेव प्रतिभानमिति अन्यख्यातिरेव उचिता. 'अन्य'पदस्य सदृशवाचकत्वेन अनुभूतसदृशधर्माणामेव ख्यानात्. तस्माद् अख्यात्यन्यख्याती[३८] विभागेन मन्तव्ये.

३८.अख्यात्यन्यख्याती इति, स्वात्मना स्वात्मनि स्वात्मक्रीडार्थं विसृष्टानां नामरूपकर्मात्मकानां घटपटादिनिखिलविषयाणां ''तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय''(छान्दो.उप.६।२।३) ''तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत''(तैत्ति.उप.२।७) ''ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि... नामानि रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति. तदेत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्'' (बृह.उप.१।६।१-३) ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'' (छान्दो.उप.६।८।७) इत्याद्यनेकश्रुत्यादिप्रमाणसिद्धं वस्तुजातस्य ब्रह्मात्मकत्वं यद् लोके न प्रतिभाति सेयम् अख्यातिः. यच्च अखण्डसच्चिदानन्दैकरसे ब्रह्मणि प्रादुर्भूतानां तत्सदंशरूपाणामेव जडवस्तूनां प्रागभावादिप्रतियोगित्वं हेयत्वमायिकत्वादिकं च; तथैव, जीवात्मनामपि जन्ममृत्युजरारोगादिकं दुःखित्वाज्ञत्वादिकं च प्रतिभाति सेयम् अन्यख्यातिः. एवमेव निखिलाधारे भगवति विरुद्धधर्माश्रयत्वाद्यलौकिकधर्माणांहि असम्भावनापि यथा खलु अख्यातिरूपा तथैव देशकालवस्त्वपरिच्छिन्नत्वेन निर्गुणनिर्धर्मकत्वाद्यभिमतिरूपा विपरीतभावनापि अन्यख्यातिरूपैवेति ब्रह्मवादे उभयोः अख्यात्यन्यख्यात्योः यथायथम् अभ्युपगमः संनिवेशः च अवगन्तव्यः[(ख)].

(स्वमतेन ख्यातिनिष्कर्षः)

अतः ख्यात्यन्तरेषु युक्तिशैथिल्यात् संप्रयुक्ताद् अन्यख्यानस्य सर्वजनीनत्वात् च पूर्वोक्तरूपा अन्यख्यातिरेव अविद्वद्दशायां[३९] सुधीभिः आदरणीया इति निष्कर्षः.

एवं सुबोधिनीप्रोक्तप्रकारस्यानुसारतः ।।
यथाबुद्धि मयाप्येष ख्यातिवादो निरूपितः ।।६।।

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानपीताम्बरतनुज-पुरुषोत्तमविरचितः
ख्यातिवादः सप्तमः(पा.भे.१९)सम्पूर्णताम्
अगात्

३९.**अविद्वद्दशायाम्** इति ब्रह्मात्मकत्वेन सर्वस्य सर्वात्मकत्वेऽपि ब्रह्मसाक्षात्कारात् पूर्वं तथाविधभानाभावात् श्रौतसिद्धान्तविद्दृष्ट्या अख्यातिः अन्यथा लोकदृष्ट्यातु अन्यख्यातिरेव इति व्यवस्था. अत्र अयम् आशयः : यस्मात् सत्यसङ्कल्पे सर्वभवनसमर्थे शुद्धे अद्वितीये ब्रह्मणि तत्सङ्कल्पसामर्थ्याभ्यां समुत्थिते नामरूपकर्मात्मके प्रपञ्चे अन्योन्यस्मिन् वस्तुनि अन्योन्यनामरूपकर्मणां तिरोभावः तथाविधभगवत्सङ्कल्पसामर्थ्यप्रयुक्तो अङ्गीक्रियते तस्मात् सोऽयं तिरोभावो अब्रह्मज्ञजीवाज्ञानहेतुको न भवितुं शक्नोति इतितु न मन्तव्यम्. अतः एतादृशे अस्मिन् लोके लोकव्यवहारानुगुणानामेव प्रत्यक्षानुमित्यादिप्रमाणानामपि प्रामाण्यं तथाविधव्यवहारानुकूलमेव. तस्मात् सर्वेषामपि भ्रमाणां शास्त्रदृष्ट्या यथा अख्यातिवादात्मिका उपपत्तिः, तथा लोकदृष्ट्यापि पुनः अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यनामरूपकर्मणां तिरोहितत्वेऽपि या अन्योन्यतादात्म्यभ्रान्तिः तस्याः अन्यख्यातिवादात्मिकापि उपपत्तिः सम्भवत्येव. श्रुत्याद्यलौकिकप्रमाणैकगम्यस्य ब्रह्मणोऽपि नामरूपकर्मणां चक्षुरादिप्रमाणगम्यत्वमपि यथा लोकसिद्धं तथा चक्षुरादिलौकिकप्रमाणगम्यानां नामरूपकर्मणामपि ब्रह्मत्वन्तु श्रुत्याद्यलौकिकप्रमाणैकगम्यम् इति विवेकः(श्या).

पाठभेदावली

१.'ख्यातम्' इति ख-घ पाठयोः. २.'भ्रमापत्तेः' इत्यस्माद् अनन्तरम्

''आत्मनः...बाह्यमतप्रवेशात् च'' इति मुद्रिते च ख-घ पाठेषु न उपलभ्यते. ३.''व्यत्यासाद्'' इति ङ-च पाठौ ''बुद्धिस्थैर्य-मायाकृत-व्यत्यास-सर्वदा''इति मु.पा. ४.''एवं ज्ञानमेव बहिः क्षिप्यते...न दोषः'' इति पंक्तिः क-ख-ग-घ पाठेषु नोपलभ्यते. ५.इह ''तादृशज्ञानस्य उद्बोधः'' इति ङ-च पाठयोः मु.पाठेतु ''बुद्धिवृत्तेः उद्बोधः''इत्येतावदेव. ६.'विशिष्यते' इति मु.पा. 'विशेष्यते' इति क-ख-ग पाठेषु 'विशेषात्' इति ङ पाठे. ७. ''रजताऽभिन्नः पुरोवर्ती'' इति ख-घ-ग-ङ-च पाठेषु ''रजताभिन्नपुरोवर्ती''इति मु.पा. ८.'संघएव' इति मु.पा. अशुद्धएव. ९.''अङ्गीकारेण'' इति मु.पा. १०.''अन्यथा रजतभानाभावापत्तेः'' इति मु.पाठे नास्ति ग-ङ-च पाठेषु उपलभ्यते. ११'महासारसलिल...' इति ख-मु पाठयोः 'माहासारससलील...' इति घ-ङ-च-ग पाठेषु. एतयोः दुर्बोधतां विलोक्य अस्माभि 'महासरसलिल...' इति यथामति पाठः संशोधितः. १२.''सलिलवद् जाता अस्ति'' इति 'अस्ति' इति सर्वत्र उपलभ्यमानोऽपि पाठः चिन्त्यएवेति न गृहीतः. १३.''तदेक'' इति ग-ङ-च पाठेषु 'तदेव' इति ख-मु.पाठयोः. १४.'निरुणद्धि' इति मु.पा. १५.'असत्ख्यातस्य' इति मु.-ख-ग पाठेषु. १६.''यदिच सत्या...न विवादलेशः'' इति पंक्तिः ग पाठएव उपलभ्यते. १७.'रजतारोप' इति ग-च-ङ पाठेषु नास्ति. १८.'भूयस्त्वाल्पत्वादिहेतुक' इति ख पाठानुरोधाद्. १९.''सप्तमः ख्यातिवादः'' इति ग पाठः.

---------※---------

।। ख्यातिवादीयपरिशिष्टम् ।।

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।
।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

तुलनात्मिका हि रीतिः प्रणीता येन सम्प्रदायेऽस्मिन्।
गहने तत्त्वविचारे तं श्रीपुरुषोत्तमं वन्दे।।

'श्रीवल्लभाचार्य'न्यासेन समायोजितायाम् अन्यख्यातिवादीयायां विद्वत्सं-गोष्ठ्यां तत्र अभ्याहूतैः तत्तत्तन्त्रपारज्ञैः ऊहापोहकुशलैः समादरणीयैः विद्वद्वरण्यैः

अस्माकम् अन्यख्यातिवादविषये काश्चन नूतनाः अनुपपत्तयः प्रदर्शिताः. नूनं श्रीपुरुषोत्तमचरणकालानन्तरं स्तब्धस्यैव एतद्विषयकविचारकोटिक्रमप्रवाहस्य अयं नूतनः पुनरारम्भः. येन संगोष्ठ्यायोजिकया संस्थया तत्रच समागतैः विद्वद्भिरपि शुद्धाद्वैतवादस्य खलु महत्येव सेवा विहिता न तत्र कश्चन सन्देहलेशोऽपि. तत्र तस्यैव विमर्शकोटिक्रमस्य स्वबुद्धिबलोदयानुरूपः ततोऽपि तदग्रेसरतैकप्रयोजनकः मयापि समाधानप्रयासो अनुष्ठितः. सएव ततः तत्तदंशानां सङ्कलनेन इह पुनरपि प्रस्तूयते. येन अन्यख्यातिवादाध्येतॄणां तत्समालोचकानां च कृते एतद्वादसम्बद्धा विचारसामग्री एकत्रैव समुपलब्धा भवेद् इति.

(‘अन्यख्यात्य’भिधानौचित्यचिन्तनम्)

अत्र “ ‘अन्यख्याति’पदेन यदि पुरोवर्तिनो अन्यस्य ख्यातिः इति अर्थः, तर्हि सर्वे ख्यातिवादिनः पुरोवर्तिपदार्थाद् अन्यस्यैव ख्यातिं स्वीकुर्वन्ति. अतो नामापि न विशेषाभिधायकम् अस्ति” (‘अन्यख्यात्यनिर्वचनीयख्याती’प्रबन्धे) इति यो विशेषनामाविशेषताक्षेपः तत्र इदम् अवधेयं भवति : नहि अनन्योत्प्रेक्षितविलक्षणवस्तूत्प्रेक्षणार्थं प्रवृत्तं वेदान्तशास्त्रम् इदं किमुत शास्त्रव्याख्यानार्थमेव. तत्तु भगवत्पादाअपि सुष्ठूपपादयन्ति “**वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणां वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैः उदाहृत्य विचार्यन्ते. वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः, न अनुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता**” (ब्र.सू.भा.१।१।२) इति. यतश्च भगवत्पादैः इह अनुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता वेदान्तवाक्यार्थावगतिः न अङ्गीक्रियतइति किमु वाल्लभैः आत्मवैलक्षण्यख्यापनाय वेदान्तवाक्यार्थावगतिः अनुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्तैव अङ्गीकरणीया इति निर्बन्धो यौक्तिको वा भवेद्! वेदान्तशास्त्रारम्भो हि “**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**” इति सूत्रेण भवति न पुनः “*अथातो विलक्षणवस्तुजिज्ञासा*” इति सूत्रेण. ब्रह्मणस्तु “**तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति**” (मुण्ड.उप.२।२।११) इति श्रुत्युक्तया रीत्या सर्वेष्वपि भासमानेषु पदार्थेषु सत्त्वेन सामान्यलक्षणवत्त्वात्, सर्वेषु भासमानवस्तुसाक्षिभूतचैतन्येषु चित्त्वेनापि सामान्यलक्षणवत्त्वात्, तथैव सर्वेषु भासमानसुखेषु आनन्दत्वेनापि सामान्यलक्षणवत्त्वाद् इति न किञ्चिद् एतद्.

(मङ्गलाचरणौचित्यचिन्तनम्)

इत्यत्रापि ननु “इह मङ्गलश्लोके ‘**निवर्तते च यद्बोधाद्**’इति यद् उक्तं तत् कथं सङ्गच्छेत? नहि भगवद्बोधादेव रजतं निवर्तते अपितु ‘न इदं रजतं शुक्तिः इयम्’ इत्यादिविशिष्टप्रमाज्ञानादेव इति सर्वानुभवसिद्धम्. यदिच प्रकृतं जगत् सर्वं भगवत्स्वरूपमेव इति मतं तदापि न स्वरूपेण भगवद्रूपा शुक्तिः रजतस्य निवर्तिका अपितु साक्षात्कृतैव. साक्षात्कृतापि च शुक्तिः शुक्तित्वेनैव रूपेण न जातु भगवत्त्वेन रूपेण भ्रमनिवर्तिका. यद्विषयकम् अज्ञानं यदधिकरणकं यदवच्छिन्नं तादृशेनैव ज्ञानेन निवर्तेत. अन्यथा घटादिज्ञानादपि रजतज्ञानं निवर्तेत, तस्यापि भगवद्विषयकत्वाविशेषात्. तस्माद् शुक्तित्वेन रजताभावत्वेन वा अधिष्ठानसाक्षात्कारएव निवर्तकः” (‘अन्यख्या...’ प्रबन्धे) इति चेत् न, तत्र व्यावहारिकेषु भ्रमेषु ‘यद्बोधाद्’ इत्यस्य भगवद्विषयकबोधाद् इति अर्थो न इष्टः किन्तु “**सर्वस्य च अहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च**” (भग.गीता.१५।१५) इति भगवद्वचनसिद्धाद् भगवत्प्रदत्ताद् तत्तदधिष्ठानविषयकज्ञानाद् इत्येव. पारमात्मिकेषु विषयेषुतु ‘यद्बोधाद्’ इत्यत्र यस्य भगवतो बोधाद् इत्यपि अर्थो युक्ततरएव.

(अन्यथाख्यातिवादविमर्शौचित्यचिन्तनम्)

इत्यत्र अन्यथाख्यातिवादिनः केचन अन्यख्यातिविषये एवम् आहुः ❋ “अत्र बहवः प्रश्नाः प्रादुर्भवन्ति :

(१)का सा माया यया बुद्धिवृत्तिः क्षिप्ता भवति?
(२)सा ईश्वराद् भिन्ना अभिन्ना वा?
(३)सा केन प्रमाणेन सिद्ध्यति?
(४)बुद्धिवृत्त्याक्षेपः केन प्रमाणेन सिद्ध्यति?
इत्यादयः.

‘**ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्मतिरोभावः**’ इति महाप्रभुवचनाद्

ईश्वरेच्छैव माया इति प्रतीयते. ईश्वरेच्छायाः कार्यमात्रं प्रति कारणत्वाद् भ्रमस्थलेऽपि ईश्वरेच्छायाः साधारणकारणत्वाद् भ्रमप्रमयोः को विशेषः? ईश्वरेच्छाभिन्नायाः व्यामोहिकायाः मायायाः मानाभावात् च'' ('नव्यनैयायिकानाम् अन्यथाख्यातिवादः'प्रबन्धे) * इति.

अत्र ब्रूमो महाप्रभूणान्तु विषये अस्मिन् यादृशो अभिप्रायो ग्रन्थेषु उपलभ्यते स तावत् श्रीमद्भागवतीयायाः ''[1]श्रिया [2]पुष्ट्या [3]गिरा [4]कान्त्या [5]कीर्त्या [6]तुष्ट्या [7]इलया [8]ऊर्जया [9]विद्यया [10]अविद्यया [11]शक्त्या [12]मायया च निषेवितम्'' (भाग.पुरा.१०।३६(=३९)।५५) इत्यस्याः कारिकायाः सुबोधिन्यां तैरेव ''ततो भगवतः सर्वकार्यसाधिकाः द्वादश शक्तयः....'विद्या'=ज्ञानरूपा, 'अविद्या'=बन्धिका, निद्रादयोऽपि तद्भेदाएव. केचन मायाभेदाः इति आहुः. 'शक्तिः'=इच्छाशक्तिः, एषा सर्वनियामका, 'माया'=सर्वभवनसामर्थ्यं व्यामोहिका च इति उभयविधापि परिगृहीता 'च'कारेण. अनेन सर्वे भेदाः परिगृहीताः. तेन मुख्याः द्वादश, अवान्तरभेदाः असंख्याताएव भवन्ति इति निरुक्तं भवति'' (भाग.सुबो.१०।३६(=३९)।५५) इत्येवं स्फुटीकृतो अस्ति.

श्रीमद्भागवतस्य श्रुतिगीतासूत्रभाष्यरूपत्वं प्रसिद्धमेव श्रीमन्मध्वाचार्योदाहृतशास्त्रवचनैः श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृतभागवतभावार्थप्रकाशिकागत - ''एवं सति 'पारमहंसी संहिता' इति समाख्या उपपद्यते, परमहंसानां वेदान्तवाक्यार्थनिदिध्यासनरूपत्वाद् अत्रत्योपाख्यानानां तत्तात्पर्यकत्वाद्'' (भाग.भावा.प्रका.१।१।१) इति वचनेनापि च. एवं सर्वेष्वपि वेदान्तसम्प्रदायेषु श्रुतिस्मृतिसूत्रोपबृंहणार्थकत्वम् अस्य ग्रन्थराजस्य प्रसिद्धमेव.

तथाहि बृहदारण्यकोपनिषदि तावद् ''इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'' (बृह.उप.२।५।१९) इत्यत्र सामान्यतया मायाबहुत्वं प्रतिज्ञातं परन्तु तत् कीदृक् बहुत्वम् इतितु स्पष्टं न भवति तत्र. सति चैवं क्वचिद् ''सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति... इदं सर्वम् असृजत... तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत'', ''मायी सृजते विश्वम् एतत्... मायान्तु प्रकृतिं विद्याद्

मायिनन्तु महेश्वरं'' (तैत्ति.उप.२।६।-७, श्वेता.उप.४।९-१०) ''मम योनिः महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधामि अहं, सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति...भूमिः आपो अनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च अहंकार इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा... दैवी हि एषा गुणमयी मम माया... मया अध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'' (भग.गीता.१४।४,९,१०) ''प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाद्, अभिध्योपदेशाच्च, साक्षाच्च उभयाम्नानाद्, आत्मकृतेः परिणामाद्, योनिश्च हि गीयते'' (ब्र.सू.१।४।२३-२७) इत्यादिश्रुत्यादिवचनेषु 'प्रकृति'-'योन्या'ख्यायाः कस्याश्चिद् मायायाः ब्रह्मणा सह जगत्सहकारिकारणत्वं ब्रह्मणश्च अभिन्ननिमित्तोपादानत्वं चापि श्रूयते. क्वचिच्च पुनः ''परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'' (श्वेता.उप.६।८), ''सम्भवामि आत्ममायया... जन्म कर्म मे दिव्यम् एवम्'' (भग.गीता.४।६-९) इति भगवतः सच्चिदानन्दरूपस्य स्वरूपान्तःपातिन्याः स्वाभाविकज्ञानबलक्रियारूपायाः दिव्यत्वमपि 'आत्ममाया'ख्यायाः कस्याश्चित् श्रूयते. अन्यत्रतु पुनः ''तस्मिंश्च अन्यो मायया संनिरुद्धः'' (श्वेता.उप.४।६) ''न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः मायया अपहृतज्ञानाः'' (भग.गीता.७।१५) ''मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्''-''पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो हि अस्य बन्धविपर्ययौ'' (ब्र.सू.३।२।३,५) इत्यादिषु नैकवचनेषु कस्याश्चिद् मायायाः जीवव्यामोहकत्वमपि इति स्थितिः. तत्र यदि श्रीमद्भागवतेन परस्परविरुद्धत्वेन प्रतीयमानानां मायानिरूपणानाम् एतेषां मायायाः अनेकविधत्वेन निरूपणं न क्रियेत तदेतत् सर्वं ''गोमयं पायसं गव्यत्वाद्'' इति न्यायानुसरणेन एकवत्तयैव भाव्येत.

तस्माद् ''आत्ममायाम् ऋते राजन् परस्य अनुभवात्मनो न घटेत अर्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिव अञ्जसा, बहुरूपइव आभाति मायया बहुरूपया रममाणो गुणेषु अस्यां 'ममाहम्' इति मन्यते. यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् कालमाययोः रमेत गतसम्मोहः त्यक्त्वा उदास्ते तदा उभयम्... ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा भासो यथा तमः'' (भाग.पुरा.२।९।१-३, ३३) इति

श्रीमद्भागवतान्तैः सर्वैरपि प्रमाणैः सिद्धायां व्यामोहिकायां मायायां सत्यामपि यो मानाभावः आक्षिप्यते स आक्षेपस्तु शास्त्रप्रामाण्यवादिनां कृते किं महासाहसिकत्वप्रदर्शनायैव न भवेत्?

यत् पुनः पृष्टम् "ईश्वरेच्छायाः कार्यमात्रं प्रति कारणत्वाद् भ्रमस्थलेऽपि ईश्वरेच्छायाः साधारणकारणत्वाद् भ्रमप्रमयोः को विशेषः?" ('न.नै.अ.वा.'प्रबन्धे) इति तत्र श्रीमदुदयनाचार्यैरेव यद् "**इति एषा सहकारिशक्तिः असमा, माया दुरुन्नीतितो, मूलत्वात् प्रकृतिः, प्रबोधभयतो 'अविद्या', इति यस्य उदिता**" इति उपसंहारवचनेन ईश्वरेच्छायाः साधारणकारणत्वेऽपि *दुरुन्नेयायाः* मायायाः सहकारिकारणत्वम् अभ्युपगतमेव तद् यस्य देवस्य सा सहकारिणी शक्तिः सएव *शान्तो विरताक्षेपरचनाकल्लोलकोलाहलो देवः साक्षात् साक्षितया आवयोः वाल्लभ-नैयायिकयोः मनसि अभिरतिं बध्नातु!* इति सश्रद्धं प्रार्थये!

यद्यपि 'अतएव' इति वक्तुं न शक्नुमः तथापि यस्मात्-कस्मादपि हेतोः भवतु अङ्गीकृतन्तु न्यायवैशेशिकशिरोमणिना श्रीरघुनाथेनापि शक्तेः पदार्थान्तरत्वं "**एवं शक्तिरपि अतिरिच्यते, तृणारणिमण्यादिस्थले जातित्रयकल्पनापेक्षया तत्तत्सम्बन्धानाम् एकशक्तिमत्त्वेन कारणत्वकल्पनायाएव लघुत्वाद्**" (पदा.त.नि.) इति वदता. सति चैवं मृत्तन्त्वादिषु घटपटोत्पादकशक्तिस्वीकारेऽपि जगत्कर्तरि शक्तिमत्त्वाभावे नूनम् सो अकर्तृत्वएव पर्यवस्येत् ततः स्वग्रन्थेषु इष्टदेवतानमस्कारेणापि विघ्नध्वंसे तस्य अशक्तिमेव ख्यापयेदिति अलं प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तनेन.

यत् पुनः "'मायिकार्थाकारवती बुद्धिवृत्तिः मायया बहिः क्षिप्यते. अतो बुद्धिवृत्तिरेव रजताकारेण भासते', तदपि न समीचीनं, बुद्धिवृत्तौ मानाभावात्... बुद्धिश्च आत्मनो विशेषगुणो न तत्र वृत्तिरूपः कश्चन धर्मः पदार्थान्तर्गतः... बहिःक्षिप्तत्वासम्भवाद्" ('न.नै.अ.वा.'प्रबन्धे) इति उक्तम्. तत्रापि श्रीमद्भगवद्गीता-भागवतवचनान्येव प्रमाणम्. तथाहि बुद्धेः पदार्थान्तरत्वे "**भूमिः आपो अनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च**"

(भग.गीता.७।४) इति भगवद्वचनं यथा प्रमाणं तथा बुद्धिवृत्तिसद्भावेऽपि "**संशयो अथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च स्वाप इति उच्यते बुद्धेः लक्षणं वृत्तितः पृथग्**" (भाग.पुरा.३।२६।३०) इति भागवतवचनमपि. बुद्धिवृत्तेः बहिःक्षेपोऽपि "**मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियैः अहमेव न मत्तो अन्यद् इति बुद्ध्यध्वम् अञ्जसा**"—"**यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्**"—"**अनुमितम् अन्तरा त्वयि विभाति मृषा एकरसे**" (भाग.पुरा.११।१३।२४—११।७।७—१०।८७।३७) इत्येतैः वचनैः निश्चीयतएव.

तथाच उपस्थापितेषु प्रश्नेषु—"का सा माया यया बुद्धिवृत्तिः क्षिप्ता भवति?" इति प्रथमस्य प्रश्नस्य समाधानं : व्यामोहिका माया यया बुद्धिवृत्तिः बहिः क्षिप्ता भवति! इति. "सा ईश्वराद् भिन्ना अभिन्ना वा?" इति द्वितीयस्य प्रश्नस्य समाधानं : नैकान्ततो भिन्ना नापि एकान्ततो अभिन्ना! इति. एतद्धि श्रुत्यादिशास्त्रेषु भगवन्निरूपणे उभयविधवचनोपलब्धिसमन्वितार्थहेतुकं समाधानं, "**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**" (छान्दो.उप.६।८।७)इत्यादिश्रुतिसिद्धं च वरीवृत्यते. तृतीयस्य—"सा केन प्रमाणेन सिद्ध्यति?" इति प्रश्नस्य समाधानन्तु पूर्वनिर्दिष्टैः वचनैरेव सम्यक्तया भवति इति सन्तोष्टव्यम्. चतुर्थस्य—"बुद्धिवृत्याक्षेपः केन प्रमाणेन सिद्ध्यति?" इति प्रश्नस्यापि समाधानं प्रदर्शितमेवेति नैयायिकबुद्धिस्वरूपतो भिन्नैव वाल्लभानां काचिद् बुद्धिः.

यदपि—

"नव्यन्यायस्य परिष्कारपद्धत्या भ्रमलक्षणन्तु : 'स्वानुयोगिनिष्ठविशेष्यतानिरूपितत्व-स्वप्रतियोगिनिष्ठत्व-स्वावच्छिन्नत्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन सम्बन्धविशिष्टान्यप्रकारताशालिज्ञानत्वम्'. अत्र 'स्व'पदेन विशेष्यविशेषणयोः भासमानः सम्बन्धो ज्ञेयः" ('न.नै.अ.वा.'प्रबन्धे)इति प्रतिपादितम्.

तत्रापि इदम् अवधेयं भवति : परिष्कृतस्य अस्य लक्षणस्य "नेदं

रजतं शुक्तिरियम्'' इति बाधज्ञानमूलकत्वेन बाधज्ञानस्य च —

> ''नच 'न इदं रजतम्' इति बाधकबोधाद् रजतस्य आत्यन्तिकी असत्तैव स्वीक्रियताम् इति वाच्यं, बाधकस्य बोधस्य तादात्म्यमात्रविषयत्वेन रजतस्य अबाधकत्वेन शुक्तिरजतयोः तादात्म्यमात्रनिषेधकत्वेन च रजतस्य असन्निधेरेव आपादकत्वाद् आत्यन्तिकासत्तायाः अनापादकत्वात्. तत्र बाधकबोधेन तादात्म्यस्यैव निषेधो अस्ति, नतु रजतस्येति न अत्यन्तासत्त्वम्... 'इदन्त्व'धर्ममात्रबाधेन बाधकस्य उपपत्तौ धर्मिबाधकविषयकत्वे कल्पनागौरवं च स्यात्''('न.नै.अ.वा.'प्रबन्धे)

एतादृक् स्वरूपमपि प्रतिपादितमेव.

तत्र एवं सति चक्षुर्गृहीतायां शुक्तिकायां सत्यां स्मरणरूपसहकारिकारणसचिवो यो ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिरूपः संनिकर्षः तद्भास्यश्च यः तादात्म्यरूपः संनिकर्षः स किं लौकिकसंयोगभास्यशुक्तिशकल-ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिभास्यरजतयोः तादात्म्यं न भवतीति बाधकज्ञानेन बाधितो भवति? आहोस्विद् इदमास्पदम् उद्दिश्य तत्र रजतत्वनिषेधाद् इदमास्पदरजतयोः अन्योन्यतादात्म्यरूपो बाधकज्ञानेन बाधितो भवति? उत आपणस्थं रजतम् उद्दिश्य तत्र इदन्त्वाश्रयतादात्म्यनिषेधाद् आपणस्थरजतेन्दत्वाश्रययोः तादात्म्यं न भवतीति बाधकज्ञानेन बाधितो भवति?

तत्र न आद्यं, लौकिकेन इतरेण वा सम्बन्धेन चक्षुर्विषयीभूते इदन्त्वनिषेधानुपपत्तेः. तन्निषेधेतु रजतस्य ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या चक्षुःसंनिकृष्टत्वानुपपत्तेः च. न द्वितीयः, इदमास्पदरजतयोः अन्योन्यतादात्म्यनिषेधे ''इदं रजतं न भवति'' इति रजतधर्मिनिषेधएव पर्यवसानाद्. अन्यथा घटतादात्म्याभावस्य घटाप्रतियोगिकत्वापत्त्या तादात्म्यस्य स्वाभ्युपगतरूपहान्यापत्तेः. न तृतीयः, '' 'इदन्त्व'धर्ममात्रबाधेन बाधकस्य उपपत्तौ धर्मिबाधकविषयकत्वे कल्पनागौरवं च स्याद्'' इति वदतां मते यत् चक्षुःसंयुक्तं रजतं तद् इदमास्पदं न भवति इत्यत्रैव बाधकज्ञानस्य पर्यवसानेन पुरोवस्थिते इदन्त्वधर्मनिषेधानुपपत्तेः.

शुक्तिरजतयोः भ्रान्तिप्रतिपन्नतादात्म्यरूपः संसर्गः असन्नेव चेत् तदा तत्र ''इदं रजतम्'' इति भ्रान्तिज्ञाने रजतम् इदामति, ''नेदं रजतम्'' इति बाधज्ञानेतु रजतम् उद्दिश्य इदन्त्वनिषेधे ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या चक्षुःरजतसंनिकृष्टं चेत् तदा रजतविशेष्यताकः इदन्त्वप्रकारको भ्रमः ''इदं रजतम्'' इति भ्रमो भवेद्, नतु शुक्तिविशेष्यताको रजतत्वप्रकारकः. तथात्वेतु **''अन्यथात्वञ्च व्यधिकरणप्रकारकत्वरूपम्''** इति उक्ता न अन्यथात्वस्य सिद्धिः नवा **''तदभाववन्निरूपित-तन्निष्ठविषयताप्रतियोगिज्ञानम्''** इति उक्ता अन्यथाज्ञानस्यापि सिद्धिः वा सम्भवदुक्तिका स्याद्, अलौकिकसंनिकर्षेण चक्षुःसंयुक्ते रजते इदन्त्वस्य बाधायोग्यत्वाद् व्यधिकरणप्रकारकत्वाभावात् च; तदभाववन्निरूपितत्वाभावेन च तन्निष्ठविषयताप्रतियोगिज्ञानस्यापि वक्तुम् अशक्यत्वादेव. तथाच भ्रान्तिस्तु रजतत्वप्रकारिका शुक्तिविशेष्यताका — बाधज्ञानेतु शुक्तिरूपाधिष्ठाने न रजतस्वरूपनिषेधो नापि इदमास्पदीभूते अधिष्ठाने रजतत्वसद्भावनिषेधः इति किं केन सम्बद्ध्यतइति बोद्धुम् अशक्यमेव जातम्.

किञ्च ''शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञाने विशेष्यः शुक्तिः विशेषणं रजतत्वम्'' ('न.नै.अ.वा.'प्रबन्धे) इति उक्तिरपि बाधिता स्यात्. यदितु लौकिकसंनिकर्षेण इन्द्रियसंयुक्तएव प्रामाणिकी इदन्ता अन्यत्रतु तत्तैवेति चेत् तदापि रजतत्वावच्छिन्नविशेष्यताकः इन्दत्वप्रकारकएव भ्रमः सिद्ध्येत् न शुक्तित्वावच्छिन्नविशेष्यताको रजत्वप्रकारकः इति स्वमतहानिः. इदमास्पदञ्च उद्दिश्य रजतत्वनिषेधाभ्युपगमेतु '' 'इदन्त्व'धर्ममात्रबाधेन बाधकस्य उपपत्तौ धर्मिबाधकविषयकत्वे कल्पनागौरवं च स्याद्'' ('न.नै.अ.वा.'प्रबन्धे) इति उक्तिरेव बाधिता स्यात्. किञ्च इदमास्पदञ्च उद्दिश्य रजतत्वनिषेधाभ्युपगमेतु ''चक्षुःसंनिकृष्टं वस्तु रजतं न भवति'' इत्येव सिद्ध्यति न जातु रजतचक्षुषोः मिथो लौकिको अलौकिको वा संनिकर्षः इति, सतु स्वशिष्यैकोपदेष्टव्यः स्याद्. एवंहि रजतं बुद्धिवृत्तेरेव गोचरम् इति अकामेनापि अङ्गीकरणीयम्. ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्याच प्रत्यक्षमेव रजतं चेत्, चेत् तदा इदन्त्वनिषेधः स्वतोबाधितएव; यथा, दूरवीक्षणयन्त्रेण दूरे अवस्थिते वस्तुनि पुरुषे वा

इन्दत्वबोधस्य औपाधिकत्वेऽपि न भ्रान्तिरूपत्वम्. तथैव इहापि सम्भवेद्. अन्यथातु सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या योगजधर्मप्रत्यासत्त्या वा गृहीते विषयेऽपि भ्रमत्वापत्तिः दुरुद्धरा स्यात्. पुरोवस्थिततया भासमानयोः तयोः देशकालव्यवधानेन अपुरोवस्थितत्वसम्भवाद् ''इदं रजतम्'' इति भानेन सह समानयोगक्षेमत्वात्. किञ्च ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या अनुभूयमानस्य रजतस्य सत्त्वं किम्प्रमाणकम्? न तावत् स्मृतिप्रमाणकं तत्, तस्याः प्रामाण्यानभ्युपगमात्. नापि भ्रमानुभूतिप्रमाणकं तत्, तथाविधानुभूतेः भ्रान्तित्वस्यैव क्षतेः. नापिच अभ्रान्तपुरुषस्य रजतप्रमानुभूतिकं तद्, भ्रान्ताभ्रान्तपुरुषप्रतिपन्नयोः रजतयोः एकज्ञानगम्यतायां विनिगमकाभावात्.

किञ्च ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या रजतानुभूतिस्वीकारापेक्षया सादृश्यलक्षणप्रत्यासत्त्या ''शुक्तिरेव रजतसदृशी अभाद्'' इति कुतो न अङ्गीक्रियते? ननु सादृश्यख्यातिवादेन किम् अपराद्धं येन अन्यथाख्यातिवादएव अङ्गीकरणीयो? यदितु ''शुक्तिरजते सदृशे'' इति भ्रमकाले उभयप्रतीत्यभावात् तथा नाङ्गीक्रियते चेत्, तदा सादृश्योद्बोधितायां प्रमायाम् उभयज्ञानम् आवश्यकं भवतु. सादृश्योद्बोधिते भ्रमे दोषसहकारेण तथाप्रतीतिपरिहारपूर्वकं सादृश्यमेव तत्र प्रत्यभाद् न सादृश्यानुयोगिप्रतियोगिनौ इति अङ्गीकारेऽपि को दोषः?

किञ्च आत्मनि जन्ममरण-परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वादेः प्रतीतिः प्रमा वा स्याद् भ्रान्तिः वा? न प्रमा, नित्यविभ्वात्मवादस्य नैयायिकाभिमतत्वेन तथाविधात्मस्वरूपानङ्गीकारात्. नापि भ्रान्तिः, आत्मविशेष्यताकायां जन्ममरणादिप्रकारिकायां प्रतीतौ **'व्यधिकरणप्रकारकत्वरूप'**स्य व्युत्पादयितुम् अशक्यत्वात्.

किञ्च वाल्लभानां हि ''नैयायिकमताभिप्रेतो अन्यथाख्यातिवादो अप्रामाणिकः'' इतीदृग्बुद्धिः नैयायिकैः प्रमात्वेन वा भ्रमत्वेन वा अङ्गीक्रियेत? नाद्यः, नैयायिकैः एवं स्वीकर्तुम् अशक्यत्वात्. न द्वितीयः, एतादृश्यां बुद्धौ **'व्यधिकरणप्रकारकत्वरूप'**स्य व्युत्पादयितुम् अशक्यत्वादेव. तस्माद् नैयायिकानान्तु कृते ''अन्यख्यातिवादो अन्यथाख्यातिरूपो'' इत्यत्र

व्यधिकरणताप्रकारताप्रतिपादनस्य दुर्घटत्वेऽपि अन्यख्यातिवादिनां वाल्लभानां कृते ''अन्यथाख्यातिवादो 'विमताद्'=अन्यख्यातिवादाद् व्यामोहिकया मायया 'अन्यस्य'=अन्यथाख्यातिवादस्य ख्यातिः'' इति व्युत्पादयितुं सर्वथा शक्यत्वेनैव अन्यख्यातिवादएव प्रामाणिकः.

यद् इह सर्वेषामपि ख्यातिवादानाम् अन्यथाख्यातौ पर्यवसानं द्योतितं ''वाल्लभानां मते व्यामोहिकया मायया बहिः क्षिप्ता बुद्धिवृत्तिः रजताकारवती तत्र भासते, सा वृत्तिः रजतत्वेन भासते वा वृत्तित्वेन भासते? रजतत्वेन भासते चेद्, अन्यथाख्यातिरेव, रजतत्वाभाववति वृत्तौ रजतत्वप्रकारत्वात्. रजतत्वेन भासमानेतु स्वव्यधिकरणप्रकारावच्छिन्नविषयताकत्वम् आगतमेव. वृत्तित्वेन भासमानेतु 'अहं रजताकारां वृत्तिम् अनुभवामि' इति अनुव्यवसायः स्यात्, न 'रजतम् अनुभवामि' इति'' ('न.नै.अ.वा.'प्रबन्धे) इति.

तत्र प्रष्टव्याः भवन्ति भवन्तो यत् **''स्वानुयोगिनिष्ठविशेष्यतानिरूपितत्व-स्वप्रतियोगिनिष्ठत्व-स्वावच्छिन्नत्वैतत्-त्रितयसम्बन्धेन सम्बन्धविशिष्टान्यप्रकारताशालिज्ञानत्वम्''** ('न.नै.अ.वा.'प्रबन्धे) इत्येतादृग्लक्षणको भ्रमः सर्वेष्वपि शुक्तिरजतादिभ्रमेषु लक्षणत्वेन ज्ञायमानः सन् सञ्जायते उत अज्ञायमानोऽपि? यदि ज्ञायमानएव सञ्जायते चेद् अनधीतनव्यन्यायशास्त्राणां न कदाचिदपि न कोऽपि भ्रमः स्यात्, नव्यन्यायाध्ययनं विना एतादृशस्य दुरूहस्य भ्रमस्य बुद्धौ आरोढुमपि अशक्यत्वेन नव्यनैयायिकानामेव भ्रान्तौ एकाधिकारिता भवेत्. अथ अज्ञायमानः चेत् तदा एतल्लक्षणवदेव रजतात्मिका बुद्धिवृत्तिरपि वृत्तित्वेन स्वयम् अप्रकाशमाना रजतन्तु प्रकाशयितुं कुतो न शक्नुयाद्?

किञ्च नव्यन्यायमतेऽपि आत्मगुणरूपायां बुद्धौ येन-केनापि सम्बन्धेन भासमानं रजतं विषयितासम्बन्धेन तत्र विद्यमानं चेद् विद्यमानत्वादेव न बाधज्ञानार्हम्. अथ अविद्यमानं चेत् तदा रजतभ्रमोत्पत्त्यसम्भवः! नह्यत्र भ्रम-प्रमानुभूतिरूपे तत्तदर्थप्रकाशनकार्ये बुद्धेः आत्मगुणत्वे वा आत्मसंयुक्तविलक्षणपदार्थवृत्तिरूपत्वे वा कश्चन विशेषो येन ''वृत्तित्वेन भासमानेतु 'अहं

रजताकारां वृत्तिम् अनुभवामि' इति अनुव्यवसायः स्यात्, न 'रजतम् अनुभवामि' इति'' आपत्तिः गम्भीराय विमर्शाय कल्पेत. बुद्धेः वृत्तिरूपत्वानङ्गीकारेण आत्मगुणत्वाङ्गीकारेऽपि तत्र विषयतया भासमानं रजतं न तावद् आत्मगुणसमानाधिकरणं ततश्च आत्मन्येव रजतख्यानस्य दुर्वारतया कुतो न आत्मख्यातौ अन्यथाख्यातेः पर्यवसानम्? यदितु ''अहं रजतम्'' इति भानाभावाद् ''इदं रजतम्'' भानानुव्यवसायात् च आत्मख्यातेः असम्भवतापादनम् अभिलषितं तदापि आत्मनि अन्यस्य रजतादेः ख्यानाङ्गीकारेण अन्यख्यातौ पर्यवसानं कुतो न? अथ पुरोवर्तिनि इदमास्पदे वस्तुनि परोक्षरजततादात्म्यस्य प्रतीतिः तत्र हेतुत्वेन उपादीयते चेत्, तदा ''नेदं रजतम्'' इति बाधज्ञानस्य इदमास्पदरजततादात्म्यनिषेधएव पर्यवसानाद् न अन्यथाख्यातिः अपितु तादात्म्याभावरूपस्य अन्यस्यैव ख्यानाद् अन्यख्यातावेव पुनः अन्यथाख्यातेः पर्यवसानम् अकामेनापि अङ्गीकरणीयम्. तस्माद् बलवद्बाधकोपलब्धिं यावद् अन्यख्यातिमेव समीचीनाम् मन्ये इति अलम्.

(विषयस्य अन्यथात्वनिरुक्तेः खण्डनेन अन्यथाख्यातिवादनिरासौचित्यचिन्तनम्)

इत्यत्र ''अन्यख्यातौ बौद्धं रजतं सद् वा असद् वा भवति? यदि सद् इति चेत् तर्हि इदन्त्वाच्छिन्नेन तस्य बौद्धस्य रजतस्य सम्बन्धो अवभासते न वा? यदि इदमा साकं मायिकस्य रजतस्य अभेदो भासते तर्हि अन्यथाख्यातिरेव स्याद्, अन्यस्य इदमो रजताभेदेन रूपेण अन्यथाभानात्. यदिच रजतस्य कश्चित् सम्बन्धो न अवभासते चेत् तर्हि इयम् अख्यातिरेव स्याद्, बुद्ध्या गृहीतस्य मायिकस्य रजतस्य चक्षुर्गृहीतस्य इदमः च सम्बन्धाग्रहात्... बौद्धस्य रजतस्य असत्त्वेतु सदसत्ख्यातिरेव इति. तस्य अनिर्वचनीयत्वेतु अनिर्वचनीयख्यातिरेव स्याद् इयम् अन्यख्यातिः. नतु आभिः ख्यातिभिः इयं भिद्यते'' ('का समुचिता अन्यख्यातिः अन्यथाख्यातिः वा?'प्रबन्धे) इति अन्यख्यातेः वैलक्षण्यं निराकृतम्.

अत्र आवेदयामि यद् अन्यत्र अन्यदा सतो रजतस्य पुरोवस्थिते इदमास्पदीभूते विषये अलब्धसत्ताकेन प्रकारीभूतेन रजतत्वेन यद् भ्रान्तिः उपपाद्यते तद् अन्यत्र अन्यदा सतोऽपि भ्रान्तिदेशकालयोः असत्त्वेनैव

अजागलस्तनरूपत्वादेव अकिञ्चित्करम् इति प्रतिभाति. अथ भ्रान्तिदेशकालयोः असत्त्वेऽपि अन्यत्र अन्यदा सत्त्वादेव किञ्चित्करत्वे उपपादनीयेतु भ्रान्तौ सतो रजतस्य सतएव रजतत्वस्य चापि भानात् सत्ख्यातिवादापत्तिः. तत्र इदमास्पदीभूते शुक्तिशकले रजतत्वस्य असत्त्वेन सत्ख्यातिवादप्रवेशपरिहारप्रया-सेतु सदसत्ख्यातिवादे प्रवेशो दुर्वारो, भ्रान्तिदेशकालयोः असत्त्वेऽपि अन्यत्र सत्त्वेन उभयविधस्य ख्यातेः अङ्गीकाराद्, सत्त्वासत्त्वयोश्च एकतरानिर्धारितु अनिर्वचनीयख्यातिवादसांकर्यञ्चापि. यदितु सर्वेभ्योऽपि एतेभ्यः ख्यातिवादेभ्यः स्मृत्युपनीतरजतत्वभाने ज्ञानलक्षणादिप्रत्यासत्त्यादिप्रक्रियायाः वैलक्षण्याङ्गीकारा-देव न गतार्थतेति कुशकाशावलम्बने अन्यख्यातिवादिनामपि प्रक्रियान्तराभ्युगमेन स्ववैलक्षण्यस्य निरूपयितुं शक्यत्वेन न तत्रापि ख्यात्यन्तरसांकर्यम् इति समः समाधिः.

यत्पुनः ''यस्य भ्रमात्मकं ज्ञानं भवति तत्र इन्द्रियदोषोऽपि कल्पनीयः'' ('का समु.अन्य.अन्यथा.वा?'प्रबन्धे) इति उत्तरदानं न तत्र सन्तोषावहा प्रश्नसमाहतिः जातेति मन्ये. यस्माद् दोषवशात् निगूहितनिजशुक्तिरूपाकृतिना अनिगूहितेदन्त्वाकृतिना शुक्तिशकलेन रजताकारपरिग्रहे अङ्गीक्रियमाणे तेनैव दोषेण तयैव च ज्ञानलक्षणप्रत्यसत्त्या अन्यदेशकालावस्थितरजतविशेष्यकः इदन्त्वप्रकारको भ्रमः कुतो न जायते? नच इष्टापत्तिः, इदमास्पदीभूतशुक्तिशक-लविषयकप्रवृत्तिव्याघातापत्तेः. नच इदन्त्वभ्रमादेव पुरोवस्थिते देशे प्रवृत्तिः इति वाच्यं, विनिगमकाभावाद्.

अथ ''अन्यद् आलम्बनम् अन्यच्च प्रतिभाति''('का समु.अन्य.अन्य-था.वा?'प्रबन्धे) इति पक्षे तावत् शुक्तेः न शुक्तित्वादिधर्मपुरस्कारेण किन्तु इदन्तया भाने अङ्गीक्रियमाणे विनिगमकाभावात् कुतो रजतविशेष्यताकः इदन्त्वप्रकारको भ्रमो न भवति इति एकः प्रश्नो असमाहितएव अवतिष्ठते. अपरश्चापि इदन्त्वस्य न केवलेन रजतेन सादृश्यं किमुत रजतेतरेष्वपि अनेकेषु विषयेष्विति कुतो न अन्येषामपि विषयाणां भ्रमः इदमास्पदीभूते विषये? अथ चाकचक्यादीनामपि इदन्त्वेन सहैव ग्रहणात् तत्सादृश्यस्य रजते विद्यमानत्वेन रजतस्यैव स्मृत्युपनीतस्य ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्त्या बुद्धौ

उपस्थापनं यदि कल्प्येत कृतं तदा अन्यथाख्यात्या इदमास्पदीभूतात् शुक्तिशकलाद् अन्यस्य तत्सदृशस्य स्मृत्युपनीतस्यैव भानाङ्गीकाराद् अन्यख्यातिवादे प्रवेशः आपन्नः. अन्योपस्थितिं विना अन्यथात्वस्य उपस्थितेः असम्भवात् च किम् अन्तर्गडुना अन्यथात्वेन ?

यच्चापि ''आत्मख्यातौ अन्यख्यातौ च उभयत्रापि ग्राहकाद् आत्मनो ग्राहिकायाः बुद्धेः च विच्छिन्नं ग्राह्यं नैव अवभासेत इति उभयत्र समानो दोषः'' ('का समु.अन्य.अन्यथा.वा?' प्रबन्धे) इति उक्तं तत्र मन्ये न्यायमतेऽपि यदि तावद् ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्त्यैव भ्रमभातविषयस्य उपस्थापनं, न पुनः ज्ञेयात्मिकया कयाचित् प्रत्यासत्त्या, तदा अन्यथाख्यातावपि ग्राहकसम्बन्धाद् भिन्नस्य ग्राह्यस्य सम्बन्धस्य अभावादेव विच्छिन्नं ग्राह्यम् अन्यथाख्यातिवादेऽपि नैव अवभासेतइति त्रयाणामपि अस्माकं समानो दोषः स्यात्.

यच्चापि उक्तं ''बौद्धं रजतं सद् वा असद् वा भवति ?''(तत्रैव) अत्र वाल्लभानाम् अभिप्रायस्तु एवं भवति रजतात्मिका बुद्धिवृत्तिः तावत् सदेव तस्यां च इन्द्रियेण विषयोपस्थापनं विनैव व्यामोहकमायामोहितत्वेन रजताकारग्रस्तता ततएव इन्द्रियसम्प्रयुक्तार्थविषयदेशस्थतया यद् रजतस्य बुद्धिकरणकं प्रदर्शनं तद् रजतं तत्र पुरोवस्थितदेशे तदा न आविर्भूतमिति असत्त्वम् उच्यते. अन्यथा बुद्धिवृत्तित्वेनतु सत्त्वमेव. तस्माद् ''यदि सद् इति चेत् तर्हि इदन्त्वावच्छिन्नेन सह तस्य बौद्धस्य रजतस्य कश्चित् सम्बन्धो अवभासते नवा ?'' (तत्रैव) इति यत् पृच्छ्यते तत्र अन्यख्यातिवादानुसारेण एवं समाधानं भवितुम् अर्हति यत् निर्विकल्पकसामान्य-ज्ञान-सविकल्पकविशेषज्ञानयोः हि इतरेतरापेक्षित्वम् उभयाभिमतम्. तत्र सामान्यज्ञानेन अवभातस्य इदमास्पदीभूतस्य विशेषविकल्पाकांक्षायां मायामोहित-बुद्ध्युपस्थापितस्य रजतत्वरूपविकल्पस्य च सामान्यज्ञानविषयिभूतेदमः आकांक्षेति उभयोः इतरेतरापेक्षित्वं प्रमाज्ञानेऽपि यथा वर्तते तथैव भ्रमज्ञानेऽपि इति अङ्गीकरणीयमेव. उभयोरपि सामान्यविशेषज्ञानयोः कारणकार्यभावोऽपि भ्रमप्रमाज्ञानयोः वादिप्रतिवाद्युभयसाधारणएव अभ्युपगमइति तेनैव सता सम्बन्धेन

इदन्त्वावच्छिन्नेन सह बौद्धस्य रजतस्य सम्बन्धोऽपि सन्नेव असत्त्वन्तु तस्य बहिष्ठत्वांशएव आरोपितः इति न काचित् क्षतिः. सामान्यज्ञान-विशेषज्ञानविषयिभूतयोः सम्बन्धः प्रमात्मके ज्ञाने अभेदरूपो भवति भ्रमात्मके ज्ञाने च अभेदारोपपुरस्सरएव भवति. तदेतद् न्यायवाल्लभमताभ्याम् उभाभ्यामपि अवश्यम् अङ्गीकरणीयमेव. तत्र एतत् स्याद् ''यदि इदमा साकं मायिकस्य रजतस्य अभेदो भासते तर्हि अन्यथाख्यातिरेव स्याद् इयम्, अन्यस्य इदमो रजताभेदेन रूपेण अन्यथाभानात्'' (तत्रैव) इति तत्र ब्रूमः न एवं स्याद् इति, यस्माद् भासमानोऽपि अभेदः आरोपितएव भासते. अन्यथा अभेदस्य अनारोपित्वे न्यायमतेऽपि भ्रमत्वोच्छेदापत्तेः. प्रकारताभानस्य प्रकारिभाननैयत्येन न्यायमतेऽपि न केवलं इदमास्पदीभूते रजतत्वप्रतिभासः अपितु रजतप्रतिभासोऽपि अकामतया गलेपतितएव. अतएव बाधज्ञाने ''नेदं रजतं शुक्तिरियम्'' इति यथा सर्वैः अनुभूयते न तथा ''इदमास्पदीभूते विशेष्ये रजतत्वं प्रकारो न भवति'' इति सर्वैः अनुभूयते. नैयायिकानान्तु या तथाविधप्रतीतिः सा स्वशिष्यैकोपदेशार्हा. ततश्च ''इदमा रजतस्य कश्चित् सम्बन्धो न अवभासते चेत् तर्हि इयम् अख्यातिरेव स्याद्, बुद्ध्या गृहीतस्य मायिकस्य रजतस्य चक्षुर्गृहीतस्य इदमः च सम्बन्धाग्रहाद्. अपिच अस्मिन् कल्पे पुरोऽवस्थिते लोकानां रजतोपादानार्थं प्रवृत्तिः न स्यात्.'' (तत्रैव) इत्यपि खलु अस्थानएव भवतां कण्ठशोषाद् जायमाना तृट्, तथाविधसम्बन्धावभासाभावानभ्युपगमादेव.

यातु ''बौद्धस्य रजतस्य असत्त्वेतु सदसत्ख्यातिरेव... अनिर्वचनीयत्वेतु अनिर्वचनीयख्यातिरेव इयम् अन्यख्यातिः'' (तत्रैव) इतितु प्रामादिकमेव आक्षेपौत्सुक्यं प्रतिभाति. अन्यथा अन्यत्र सतोऽपि रजतत्वस्य शुक्तिशकलेतु सत्त्वानभ्युपगमादेव न्यायमतेऽपि सदसत्ख्यातिः दुष्परिहरा स्याद्, सदसतोः एकतरानिर्धारितु अन्यथाख्यातेरपि तत्रैव अनिर्वचनीयख्यातौ अन्तर्भावः इति समःसमाधिरिति किं केन सम्बद्ध्यते ?

किञ्च ''सोपाधिकेषु भ्रमेषु इन्द्रियसम्प्रयुक्ताद् अन्यस्य ख्यातिः नैव सम्भवति'' (तत्रैव) इति वाचोयुक्तिस्तु अविचारितरमणीयैव. यस्माद्

यत्र भ्रमाधिष्ठानयाथार्थ्याज्ञानपूर्वकः सोपाधिको भ्रमः तत्रतु इन्द्रियसम्प्रयुक्तात् स्थिरघटरूपाद्, श्वेतशङ्खरूपाद्, स्वच्छस्फटिकरूपाद् वा अधिष्ठानाद् अन्यस्यैव आरोप्यमाणस्य भ्रमद्घटस्य, अन्यस्यैव च पीतशङ्खस्य, अन्यस्यैव रक्तस्फटिकस्य वा; द्रष्टृभ्रमणरूपोपाधेः, नेत्रगतपित्तजन्यकामलरोगरूपोपाधेः, जपाकुसुमगतलौहित्यवर्णसांनिध्यरूपोपाधेः वा प्रयुक्तो ह्यौपाधिको भ्रमो भवत्येव. क्वचिद् अधिष्ठानयाथार्थ्यज्ञानेऽपि भासमाना भ्रमिः पीतिमा रक्तिमा तु इन्द्रियसम्प्रयुक्तायाः घटस्थिरतायाः शङ्खश्वेततायाः स्फटिकस्वच्छतायाः वा अन्यासां भ्रमिपीतिमारक्तिमाणां ख्यानादेव अन्यख्यातिरूपाः इति केयम् आशङ्का! विषयस्यास्य अस्मदाचार्यचरणैः श्रीबालकृष्णभट्टैः च ख्यातिविवेके सम्यक्तया उपादितत्वादेव न तत्र कुचोद्यावसरः कश्चित्. यत् पुनः निर्णयार्णवे श्रीबालकृष्णभट्टैः स्वमतस्यैव संशोधनं कृतं तत्तु एकदेशिमतत्वेन नास्माभिरपि यथोक्तम् आद्रियते. ग्रन्थकर्तुः वदतोव्याघातदोषस्तु न्यायमतेऽपि बहुशः "कर्तृजन्यं कार्यत्वाद्" इति उक्त्वा तत्र गौरवदोषापत्त्या "कृतिजन्यत्वं प्रागभावप्रतियोगित्वाद्" इति साध्यान्तरेण समाधानं, यथावा सांकर्यस्य क्वचिद् जातिबाधकत्वं क्वचित्पुनः अबाधकत्वमपि अभ्युगतम् इत्यादिकमिव बहुशः स्वमतपरिष्काराणां समुपलभ्यमानत्वाद् तन्नीत्यैव उन्नेयम्.

अतो यत् निष्कर्षरूपेण "'सम्प्रयुक्तभिन्नार्थमात्रप्रतिपादकं बाह्यं ज्ञानम्' इति विपर्यासलक्षणं प्रस्तूयते. अत्र सुविचार्यम् एतद् यत् किं भ्रमात्मकज्ञानेन सम्प्रयुक्ताद् भिन्नएव अर्थः प्रतिपाद्यते? यदि स्याद् एवं तर्हि अन्यख्यातिः साधीयसी भवेत्. सम्प्रयुक्तशुक्तिभिन्नं रजतादिकमेव केवलं भ्रमेण प्रतिपाद्यते नतु शुक्तिः इति आशयेन इदं लक्षणं क्रियते. किन्तु सम्प्रयुक्ता शुक्तिरपि इदन्तया भासते इति अनुभवसिद्धं, फलतो न इदं लक्षणं साधु सम्भवति. इदमोऽपि भाने सुस्पष्टमेव अन्यथाख्यातिः आपन्ना भवति" (तत्रैव) इत्यत्र वस्तुतस्तु इदमेव ज्ञातव्यं भवति यद् निर्विकल्पक-सविकल्पक-ज्ञानयोः यत्र एकार्थावलम्बित्वं "इयं शुक्तिः" इत्यत्र शुक्तिविषयकं ज्ञानमिव तत्र इन्द्रियसम्प्रयुक्ताद् अर्थाद् भिन्नार्थप्रतिपादकत्वं न भवति. भ्रमज्ञानोदाहरणेतु निर्विकल्पकं सामान्यं ज्ञानं हि इन्द्रियसम्प्रयुक्तार्थविषयकं, सविकल्पकन्तु तेन जायमानं न इन्द्रियसम्प्रयुक्तार्थविषयकं किन्तु

ततो अन्यद्-मायामोहितबुद्ध्युपस्थापित-धर्मिधर्मान्यतर-विषयकम्. तत्र इदमो निर्विकल्पकभानविषयता आरोप्यमाणविषयस्यतु सविकल्पकभानविषयता इति व्यवस्था. तस्मात् तस्यैव सम्प्रयुक्तार्थभिन्नविषयकत्वं प्रतिपाद्यते. तत्र निर्विकल्पकज्ञानविषयीभूता एका इदन्ता शुक्तिविषयिका सविकल्पकज्ञानविषयीभूता अपरातु इदन्ता रजतविषयिका इति इदन्ताद्वैविध्यं जनकज्ञान-जन्यज्ञान-निरूपितविषयताद्वैविध्यहेतुकम् अङ्गीक्रियते. तद् आहुः अस्मदाचार्यचरणाः "अतः इदमंशोऽपि 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम् अप्रमाणं, नहि ज्ञाने अंशो अस्ति" (सुबो.३।२६।३०) एतद्व्याख्याने श्रीपुरुषोत्तमाअपि अस्य आशयं विवृण्वन्ति "वृत्तिगणनया भ्रमस्यापि वृत्त्यन्तरत्वेन निश्चयात्. तथाच संस्कारप्राबल्येन बहिः जायमानेऽपि विपर्यासे अनुभवसामग्रीदौर्बल्याद् इदमंशोऽपि विपर्यस्तएव भासते" (तत्रैव प्रकाशे) एतेन भ्रमज्ञानात् पूर्वं जायमानम् भ्रमजनकं च इदंविषयकं निर्विकल्पकं सामान्यज्ञानं पुरोवर्तिवस्तुविषयकं, तदुत्तरं तेन जन्यं सविकल्पकं मायामोहितबुद्धिकल्पितवस्तुविषयकं सविकल्पकं मायामोहितबुद्धिकल्पितवस्तुविषयकं सविकल्पकं भ्रमज्ञानं, तत्र भासमानम् इदन्त्वन्तु रजतविषयकतयैव पर्यवस्यति इति फलितम्.

तथैव "अन्यख्यातिपक्षे ख्यातिसङ्करो अन्यथाज्ञानस्य अन्यख्यातौ अनुगमाभावादयः च नैके दोषाः आपतन्ति. अन्यथाख्यातिपक्षे च दोषाणां नास्ति सम्भावना. ज्ञानलक्षणसन्निकर्षस्वीकारः प्रमाणशून्य इति वक्तुं शक्यते किन्तु वाल्लभानां 'माया'नामको अलौकिकसन्निकर्षोऽपि तत्स्थानीयएवेति नहि अनयोः पक्षयोः इमां दृष्टिम् आश्रित्य सम्भवति गुणदोषपरीक्षा" (तत्रैव) इति यद् उक्तं तत्तु वाल्लभवेदान्ते व्यामोहकमायास्वीकारः शास्त्रप्रामाण्यसिद्धः न कल्पितइति न तत्र कल्पनालाघवगौरवदोषचिन्तनावसरः साम्प्रतिकः. नैयायिकमतेतु ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिः तावत् कल्पितैवेति तत्र कल्पनागौरवदोषस्य अवकाशोऽपि वर्ततएवेति गुणदोषपरीक्षापि तत्रैव कर्तव्या भवति, प्रमाणसिद्धे अर्थे गौरवस्य अदुष्टत्वादेव इति वाल्लभानां मतम्.

(अनिर्वचनीयख्यातिवादविमर्शौचित्यचिन्तनम्)

इत्यत्र अत्र कैश्चिद् एवम् उच्यते "न इह अनिर्वचनीयं मतं

सम्यग् उपपादितम् अनूदितं वा"('अन्यख्यात्यनिर्वचनीयख्याती'प्रबन्धे) इति तत् सर्वांशे यद्यपि न सत्यं किन्तु अंशतो सत्यं भवितुम् अर्हत्यपि. तत्र हेतुस्तु आत्मैक्यसिद्धौ परं सन्नह्यतां केवलाद्वैतवादिनां मते व्यावहारिकविषयेषु विश्रुताद् अनादरात् तैः प्रतिपादितासु नानाविधसरणीषु एकस्याः सरण्याः अनुवादे अपरस्याः कस्याश्चिद् विरोधो भवेद् न वा इति विवेचनं, मन्ये न केनापि कर्तुं पार्यते. तत्र के वयं वराकाः !

यत् पुनः तैः उच्यते : "मिथ्याख्यानेन उपपत्तौ अनिर्वचनीयरजतोत्पत्तिः व्यर्था इति अन्यख्यातिवाद्युक्तं न सम्यक्, विषयं विना विज्ञानानुपपत्तेः, साकारवादापत्तेः च, "पुरोवर्तिरजतं पश्यामि" इति प्रत्ययात् च, अन्यख्यातिवादेऽपि रजतोत्पत्तेः अङ्गीकारात् च. तथाहि आचार्यवचनं 'रजतन्तु तदनन्तरं बुद्ध्या जन्यते विषयीक्रियते च' इति. मायामोहिता बुद्धिः रजतम् उत्पाद्य तद् गोचरीकरोति इति प्रमेयरत्नार्णवकारैः असकृदुक्तेः. यदि बुद्धिमात्रं, रजतं न उत्पन्नं तर्हि साकारवादापत्तेः आचार्यवचनविरोधः च इति" (तत्रैव).

तत्र अनिर्वचनीयख्यातिवादेऽपि किञ्चित् प्रष्टव्यं भवति तथाहि 'प्रातिभासिकं रजतम्' इत्यस्य किं प्रतिभासजन्यं वा ? प्रतिभासजनकं वा ? प्रतिभाससमकालं वा ? प्रतिभासकालाव्यधिकरणं वा ? को अर्थो अभिप्रेतः ? तत्र आद्ये "विषयं विना विज्ञानानुपपत्तेः, साकारवादापत्तेः च" इति आपत्तिरेव अनापादनीया स्याद् विषयं विनैव जायमानेन प्रतिभासेन विषयोत्पादनात्. द्वितीयेतु अधिष्ठानयाथार्थ्यज्ञानेन विक्षेपबुद्धिनिवृत्तावपि रजतविक्षेपानिवृत्तिप्रसङ्गः, विषयस्य प्रतिभासजनकत्वादेव. तृतीयचतुर्थयोस्तु प्रतीत्यसमुत्पादवादएव विवर्तवादस्य पर्यवसानं वज्रलेपायितं स्यात्. अन्यख्यातिवादिभिः वाल्लभैस्तु "इदं रजतम्" इति प्रमास्थले बहिष्ठरजतस्य समनस्कनेत्रानुग्राहकबुद्धिवृत्तिग्राह्यत्वं, भ्रमस्थलेतु न केवलं बुद्धिग्राह्यत्वम् अपितु व्यामोहकमायया बुद्धौ उत्पादितत्वं मायामोहितबुद्ध्या च ग्राह्यत्वम् इति अङ्गीकाराद् "यदि बुद्धिमात्रं, रजतं न उत्पन्नं तर्हि साकारवादापत्तेः

आचार्यवचनविरोधः च" इति आपत्तिः असंलग्नार्हैव. यतश्च अस्मदाचार्यचरणैरेव "बुद्ध्या बहिर्विषयोत्पादनासम्भवाद्" (भाग.सुबो.१०।४।२०) इति स्वाशयस्फोरणेन आचार्यवचनविरोधापत्तिस्तु अप्रासङ्गिक्येव. नापि साकारवादापत्तिः, यदि एतेन वादेन बौद्धानां विज्ञानवादीया आत्मख्यातिः अभिप्रेता चेत्.

याहि "यद् मायासृष्टं सद्वस्तुसदृशं मायिकं वस्तु गृह्यते, तच्च ग्रहणम् इन्द्रियेण तर्हि मायिकरजतस्यापि चक्षुषा ग्रहणं प्रसज्येत. तथाच सिद्धान्तहानिः. यदि पुरोवर्तिवस्तुमात्रं चक्षुषा गृह्यते तर्हि तत्सदृशं मायिकं रजतं कथं गृह्येत ?" (तत्रैव) इति आपत्तिः समुद्भाविता सा ख्यातिविवेकएव श्रीबालकृष्णभट्टैः प्रस्थानरत्नाकरे च श्रीपुरुषोत्तमैरपि समाहितपूर्वैव. तथाहि यथा बाह्यार्थविषयकं सर्वमपि निर्विकल्पकं सामान्यज्ञानं समनस्केन्द्रियेण जन्यते तथा तत्तदिन्द्रियजन्यतोपरक्तं प्रमाभ्रमसंशयादि सर्वमपि सविकल्पकं विशेषज्ञानं बुद्ध्यैव जन्यते इति. तस्माद् अभिमतप्रक्रियानुरोधेन न मायिकरजतस्य चक्षुषा ग्रहणं नवा तद्ग्रहणासम्भवोऽपि. यत्तु "अथ न चक्षुषा अपितु उत्पादिकयैव बुद्ध्या विषयीक्रियते. तदपि न विचारसहं, बुद्धिः यदि ज्ञानभिन्ना अहङ्कारविशेषरूपा जडा तदा कथं रजतं गोचरयिष्यति ? अथ विज्ञानरूपैव तदा चिद्रूपत्वात् कथं रजतम् उत्पादयिष्यति ? मायामोहिता इति चेत् तर्हि एवं वाच्यं—'मायामोहिता चिद्रूपा बुद्धिः रजतम् उत्पाद्य गोचरयति' इति. तथाच सिद्धान्तहानिः, बुद्धेः ज्ञानसाधनत्वाङ्गीकाराद्" इति उच्यते, तत्र शांकरवाल्लभयोः उभयोरपि वृत्तिवादिनोः समएव दोषः तत्परिहारः चापि. नहि बुद्धिवृत्तिः जडेति सा विषयान् न गोचरयति. नापि विषयान् गोचरयतीति सा वृत्तिः चिद्रूपेति समानाभ्युपगतिः. द्वयोरपि मतयोः, एकत्र वह्न्ययोगोलकन्यायेन इतरेतरतादात्म्यभावापन्नता इतरत्रतु तथाविधतादात्म्याध्यासरूपता वा इत्येतावानेव विशेषः. नापि "बुद्धिः यदि भ्रमजनिका तर्हि प्रमायाः उत्पत्तिः न स्यात्. अतो मायैव मुख्यो भ्रमहेतुः वक्तव्यः" इति वक्तुं युक्तं, यतोहि मायावादेऽपि अघटितघटनापटीयस्यपि माया न बुद्धिम् अघटयित्वैव भ्रमम् उत्पादयतीति. सिद्धाहि मायाबुद्ध्योः उभयोरपि

इतरेतरसहकारितैव उभयत्र. मायाच वाल्लभमते न 'अज्ञानरूपा' किन्तु जीवात्मनि अज्ञानजनिका परमात्मनो विलक्षणा शक्तिः.

यद् उक्तं "'यदिदं मनसा वाचा' इत्यादिभागवतवचनार्थविमर्शे वाल्लभमतेतु चक्षुषा गृह्यमाणं पुरोवर्तिपदार्थोऽपि मिथ्या स्यात्. एवं घटपटादेरपि मिथ्यात्वापत्तेः. उक्तवाक्यं वाल्लभमते तदा सङ्गतं स्यात् यद्येवं उच्येत 'यदिदं बुद्ध्या गृह्यते' इत्यादि" (तत्रैव) तस्यापि समाधानं ख्यातिविवेके उपलभ्यतएव.

तस्माद् अनिवर्चनीयख्यातिवादिनां द्वैतं ब्रह्मणि ब्रह्मज्ञानबाध्यम् अद्वैतन्तु द्वैतात्यन्ताभावोपलक्षितं सन्मात्रं निर्विशेषं ब्रह्मैव केवलम्. वाल्लभमतेतु द्वैतं न ब्रह्मज्ञानबाध्यं तथैव अद्वैतमपि न द्वैतं नापि द्वैताभावः किन्तु द्वैतविरुद्धा काचन सम्पत्. यथा मिथ्यात्वलक्षणे मायावादिभिः "सद्भिन्नत्वे सति असद्भिन्नत्वे सति सदसद्भिन्नत्वम्" इति अङ्गीक्रियते तथैव ब्रह्मवादिभिः अस्माभिरपि "ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्" (छान्दो.उप.६।८।७) इति श्रुत्यनुरोधेन तादात्म्यस्य/ऐतदात्म्यस्य वा लक्षणं "द्वित्वात्यन्ताभावरहितत्वे सति एकत्वात्यन्ताभावरहितत्वे सति द्वित्वैकत्वोभयाभावरहितत्वं" वा "एकत्वात्यन्ताभाववदवृत्तिधर्मवत्त्व"रूपं वा अद्वैतम्" इति अङ्गीक्रियते.

यत् पुनः उच्यते "परमेश्वरसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावस्तु उभयोः परमेश्वरातिरिक्ते समानम्. जगत् परमेश्वररूपो विषयी, तदतिरिक्तः संसारो मायिकः. केवलाद्वैतेतु शुद्धबुद्धमुक्तचैतन्यमात्राद् घटादिप्रपञ्चोऽपि मायिकः इति. किञ्च मायिकरजतादिसमुत्पादेऽपि परमेश्वरेच्छा कारणम् इति वक्तव्यमेव, तदिच्छयैव व्यामोहोत्पादात्. अतो द्विधा सृष्टिकल्पनं गौरवग्रस्तं लाघवात् मायैव ईश्वराधीना तदिच्छया जगत् निर्मातु" (तत्रैव) इति तत्र वाल्लभानाम् अभिप्रायस्तु एवं निरूपयितुं शक्यते यत् मायावादिमते नहि माया ब्रह्मानधिष्ठिता जगद्भ्रमोत्पादने स्वतःशक्ता नच ब्रह्मापि मायां विना स्वतएव जगदुत्पत्त्यै अलं, स्वीकृतन्तु ब्रह्मणो "एकमेव अद्वितीयम्" (छान्दो.उप.६।२।१)

इति वचनानुरोधेन अनन्यत्वमपि. तस्मात् कारणद्वयगौरवग्रस्तमायावादापेक्षया अनन्यब्रह्ममात्रकारणत्वाङ्गीकारेण ब्रह्मवादएव विचारलाघवम्.

यच्चापि आपादितं "व्यावहारिकज्ञानप्रमात्मकज्ञानाभ्यां च 'इदं रजतम्' इत्यादिज्ञाने विशेषो वक्तव्यः? अन्यथा तेषामपि प्रमात्वं न स्यात्. तेषां ज्ञानानां प्रमात्वेन अबाधितविषयकत्वात् परमात्मनि घटत्वादिभेदबुद्धयोऽपि मोक्षजनिका स्युः" (तत्रैव) इति तत्र अन्यख्यातिवादिनाम् अस्माकं समाधानम् इदं यद् भगवद्गीतायां भगवत्येव विश्वरूपदर्शनफलश्रुतौ "सुदुर्दर्शम् इदं रूपं दृष्टवान् असि" इत्यारभ्य "भक्त्यातु अनन्यया शक्य अहम् एवंविधो अर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च" (भग.गीता.११।५२-५५) इति वचनानुरोधाद् एवंविधभेदबुद्ध्या नाम निखिलं विश्वं परमात्मनि परमात्मनैव सृष्टं स्थितं लीयमानं चेति तत्त्वतो ज्ञातुं दिव्यचक्षुषा च द्रष्टुम् अन्तेतु प्रवेष्टुमपि तदैव शक्यं यदा अनन्या भक्तिः तस्मिन् स्याद्. तस्माद् भगवत्प्रदत्तदिव्यदृष्ट्यातु घटत्वादिभेदबुद्धिरपि मोक्षजनिका भवितुम् अर्हत्येव. इह दिव्यचक्षुप्रदाने न तावद् भगवति विश्वं नासीद् नास्ति नापि भविष्यति इत्येतादृशं बाधज्ञानं वर्णितं किमुत निखिलमपि तत्रैव आसीत् तत्रैव अस्ति तत्रैव च भविष्यति इति ऐतदात्म्यज्ञानमेव श्रीकण्ठोक्तं समुपलभ्यते. तस्मादपि उपपद्यतएव ब्रह्मवादीयो अन्यख्यातिवादः.

इदम् इह अतो अवगन्तव्यम् : "संस्कारेण स्मृतिवत् संस्कारप्राबल्येन उद्बोधकादिसामग्रीप्राबल्येन वा मिथ्याख्यानस्यापि उपपत्तौ अप्रयोजकत्वाद् गुरुत्वात् च अनिर्वचनीयरजताङ्गीकारस्य व्यर्थत्वाद्" (अन्यख्या.) इति अनिर्वचनीयख्यातिवादे सिद्धान्तिना कृतायाम् आपत्तौ यत् "संस्कारप्राबल्यात् प्रबलस्मृतिरेव भवन्ती दृश्यते. अन्यथा प्रबलस्मृतिः निर्हेतुका स्यात्. तस्माद् यथानुभवं दोषोऽपि सहकारिकारणं वक्तव्यम्, अन्यथा अदुष्टसाधनस्यापि भ्रमप्रसङ्गात्. किञ्च, संस्कारप्राबल्यस्य दोषत्वमपि अन्यथाकारत्वरूपं प्रतिबन्धकत्वरूपं वा न सङ्घटते" (तत्रैव) इति दोषोद्भावनं कृतं तत्र मन्ये श्रीपुरुषोत्तमानां 'वा'निपातप्रयोगो न विकल्पार्थको अपितु समुच्चयार्थको

वा अनवक्लृप्त्यर्थको वा बोध्यः. तस्मात् न केवलं संस्कारप्राबल्यं नापि केवलम् उद्बोधकादिसामग्रीप्राबल्यं भ्रमहेतुतया श्रीपुरुषोत्तमाः आपादयन्ति प्रत्युत तदुभयप्राबल्यं तदन्यतरप्राबल्यं वेति निष्कर्षः. तस्मात् ''संस्कारप्राबल्यात् प्रबलस्मृतिरेव भवन्ती'' इत्याद्यापत्तिरपि अनुचितैव. यत्पुनः ''किञ्च संस्कारप्राबल्यस्य दोषत्वमपि अन्यथाकारत्वरूपं प्रतिबन्धकत्वरूपं वा न सङ्घटते'' इति उक्तं तत्तु भगवत्पादानां तद्व्याख्याकाराणां च—

(१)''आह कोयम् अध्यासो नामेति उच्यते 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः''(अध्यासभाष्यं).

(२)''तत्र 'परत्र' इत्युक्ते अर्थात् परस्य अवभासमानता सिद्धा. तस्य विशेषणं 'स्मृतिरूपत्वम्' इति... स्मर्यमाणरूपमिव रूपं यस्य न पुनः स्मर्यतएव, स्पष्टं पुरोवस्थितत्वाभासनात्. 'पूर्वदृष्टावभासः' इति उपपत्तिः स्मृतिरूपत्वे. नहि पूर्वम् अदृष्टस्य शुक्तिसम्प्रयोगे रजतम् अवभासते... कथं पुनः स्मृतिरूपत्वं? पूर्वप्रमाणद्वारसमुत्थत्वात्. नहि असम्प्रयुक्तावभासिनः पूर्वप्रवृत्ततद्विषयप्रमाणद्वारसमुत्थत्वम् अन्तरेण समुद्भवः सम्भवति''(पञ्चपादिका).

(३)''अर्थाभावे कथम् अपरोक्षा संविद्? इति चेत् न, यथासंविदवभासाधीनत्वाद् अर्थसत्तानिश्चयस्य. नहि अर्थसत्तानिश्चयाधीनः संवित्सत्तानिश्चयः''(पं.पा.विवरणम्).

(४)''अवसन्नो अवमतो वा भासो अवभासः. प्रत्ययान्तरबाधश्च अस्य अवसादो अवमानो वा. तस्य इदम् उपव्याख्यानं 'पूर्वदृष्ट' इति... मिथ्याप्रत्ययः च आरोपविषयारोपणीयस्य मिथुनमन्तरेण न भवतीति पूर्वदृष्टग्रहणेन आरोपणीयम् उपस्थापयति... तत्र पूर्वदृष्टं स्वरूपेण सदपि आरोपणीयतया अनिर्वाच्यमिति अनृतम्''(भामती).

इत्येवमादिभिः अनिर्वचनीयख्यातिवादिनां वचनैरपि श्रीपुरुषोत्तमोक्तस्यैव उपोद्बलनात् न युक्तम्. नहि प्रतिभासमात्रशरीरस्य सतो वा, असतो

वा, सदसद्विलक्षणस्य मिथ्याभूतस्य वा रजतस्य स्वावभासहेतुता युक्तेति न अनिर्वनीयख्यातिहेतुतया अनिर्वनीयरजतसिद्धिः सम्भवदुक्तिका. मिथ्यावभासस्यतु मिथ्यार्थोत्पत्तिहेतुता किल अपरिहार्यैव. सच मिथ्यावभासः परत्र पूर्वदृष्टावभासः स्मृतिरूपः चेत् श्रीपुरुषोत्तमानां ''संस्कारेण स्मृतिवत् संस्कारप्राबल्येन उद्बोधकादिसामग्रीप्राबल्येन वा मिथ्याख्यानस्यापि उपपत्तौ अप्रयोजकत्वाद् गुरुत्वात् च अनिर्वचनीयरजताङ्गीकारस्य व्यर्थत्वाद्'' इति वाचोयुक्तिः युक्ततरैव स्यात्. क्लृप्तैरेव कारणैः भ्रान्तिनिर्वाहे अक्लृप्तकारणकल्पनायाः दोषग्रस्तत्वात्. नहि रजतानिर्वचनीयता रजतावभासकालसमानाधिकरणा अवबुद्ध्यते, ''असच्चेन्न प्रतीयेत सच्चेन्न बाध्येत प्रतीयते च बाध्यते च तस्मात् सदसद्विलक्षणम् अनिर्वचनीयं रजतम्'' इति अन्यथानुपपत्तिलभ्यैव सा. तस्माद् नहि अनिर्वचनीयं रजतम् अनिर्वचनीयख्यात्यालम्बनतया तद्धेतुतया वा सिद्ध्यति. प्रतीतिबाधान्यथानुपपत्त्यातु सिद्ध्यद् भ्रान्तिज्ञानस्य प्रथमकोट्या न स्वप्रतीतिकालसिद्धम्. नापि तद्द्वितीयकोट्या बाधज्ञानकालसिद्धं वा, ''उत्तरकालीनो 'नास्त्यत्र रजतम्' इति प्रत्ययः परमार्थरजतविषयः'' (विव.प्रमे.संग्र.वर्ण.१।अनु.४७/) इति अभ्युगमात्. तृतीययातु प्रतीतिबाधोभयानुव्यवसायकोट्या भासमानं सद् रजतं, लाघवात् पूर्वदृष्टस्य सतो रजतस्यैव अत्यन्ताभावरूपं भवेदिति न त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिताम् आवहति, येन अनिर्वचनीयत्वम् आत्मनः प्रकाशयेत्.

''निर्गमेण चैतन्यत्रयाभेदाङ्गीकारोऽपि व्यापकात्मवादमेव आत्मवादं च निरुणद्धि'' इति आक्षेपनिरसनाय ''तदपि अनालोचितपराभिसन्धितामात्रम्. सर्वत्र व्यापकस्य चैतन्यरूपस्य ब्रह्मणो अन्तःकरणे वृत्तौ घटादौ च तदावरणस्य अज्ञानशक्तिरूपस्य बहिर्देशे निर्गतवृत्त्या आवरणभङ्गमात्रं क्रियते. वस्तुतो अभिन्नस्यापि चैतन्यस्य अन्तःकरणादिवृत्त्यादिभेदाद् भेदोपचारात्. तस्मान् न अस्ति व्यापकात्मवादविरोधः'' (तत्रैव) इति तत्र इदं प्रष्टव्यं भवति : प्रातिभासिकं रजतं न तावत् प्रमात्रवच्छिन्नचैतन्यभास्यं, नच विषयावच्छिन्नचैतन्यभास्यं, नापि चक्षुःद्वारा निर्गतप्रमाणवृत्त्यच्छिन्नचैतन्यभास्यं, तस्य साक्षिभास्यत्वाभ्युपगमात्. साक्षिचैतन्यस्य व्यापकत्वात् सर्वदा सर्वत्र

विद्यमानत्वात् च एवमपि ऐक्याद् उपाधिमात्रेण तत्र भेदोपचाराद् भ्रान्तिज्ञानात् पूर्वमपि तत्रैव रजतस्य, व्यावहारिकी वा प्रातिभासिकी वा सत्ता स्वीकार्यैवेति, विद्यमानत्वात् सार्वदिकी रजतभ्रान्तिः दुष्परिहरा. अथ कादाचित्कत्वोपपत्तये औपाधिकचैतन्यत्रयस्य हेतुताकल्पने तेनैव तत् सिद्ध्यतु किमन्तर्गडुना साक्षिणा? इति हेतोः श्रीपुरुषोत्तमानां वचनं **"व्यापकात्मवादमेव निरुणद्धि"** इति युक्ततरमेव भाति. यद्यपि वाल्लभैरपि करणदोषस्य हेतुत्वम् अङ्गीकृतं तथापि न चतुर्थकोटिरूपम् अनिर्वचनीयरजतं स्वीकृत्य स्वीकर्तुं वेति तत्रैव दोषाणाम् अन्यथासिद्धिप्रदर्शनाय न सर्वथैव दोषाणाम् अनङ्गीकरणायैव.

"ननु अन्यख्यातिवादिभिः तद् रजतं किं सद् असद् उभयं वा?" (तत्रैव) इति प्रश्ने हि समाधानम् इदमेव यत् **"न असतो विद्यते भावो न अभावो विद्यते सतः"** (भग.गीता.२।१६) इति यद् यत्र भगवल्लीलेच्छया तिरोहितं तस्य तत्र प्रतीतिः भ्रान्तिः. यद् यत्र न तिरोहितं तस्य तत्र प्रतीतिस्तु प्रमैव. प्रमाभ्रमयोः उभयोरपि विषयः स्वरूपतस्तु सन्नेव, न जातु असन्, नापि सदसद्विलक्षणः. भ्रमप्रतीतिदेशकालयोः तस्य तिरोहित्वेतु औपचारिकम् असत्त्वम् इतितु अन्यैव कथा. केवलाद्वैतवादिनां मायावद् अस्माकं ब्रह्मैव अघटितघटनापटु कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं च समर्थम्! इति किम् इह अनुपपद्येत? अतोऽपि अनिर्वचनीयं रजतं न मन्तव्यं, व्यामोहिकया भगवन्मायया परत्र पूर्वदृष्टस्य अन्यस्य अवभासरूपायाः स्मृतिरूपायाः अन्यख्यातेः निष्प्रत्यूहत्वाद् अनिर्वचनीयख्यातेश्च अनावश्यकत्वादपि.

किञ्च अनिर्वचनीयख्यातौ भ्रान्तिभास्यस्य अनिर्वचनीयत्वमपि विचारणीमेव भवति तत्र अद्वैतसिद्धौ तावद् दृश्यत्वहेतूपपत्तौ **"वस्तुतस्तु शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम्"** इति अङ्गीकृतम्. तत्र मिथ्यात्वन्तु पुनः **"सद्भिन्नत्वे सति असद्भिन्नत्वे सति सदसद्भिन्नत्व"**रूपं पारिभाषिकमेवेति शब्दजन्यवृत्तिविषयतां न अतिक्रामति. किञ्च प्रत्यक्षस्य सन्मात्रग्राहित्ववादिनां मते मिथ्यात्वस्य प्रत्यक्षेण गृहीतुम् अशक्यत्वेन **"न असद् आसीद् नो**

सद् आसीद्" इति श्रुत्या सिद्धत्वेतु पुनः शब्दजन्यवृत्तिविषयत्वेनैव मिथ्यात्वस्य साध्यत्वे दृश्यत्वस्य असाधकत्वम् आपतति. यदितु प्रतीतिबाधान्यथानुपपत्तिमूलकस्य मिथ्यात्वस्य शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वं विवक्षितं चेत्, तदा सुस्पष्टं प्रपञ्चस्य दृश्यत्वं न केवलं वृत्तिव्याप्यत्वरूपं किमुत फलव्याप्यत्ववृत्तिव्याप्यत्वोभयसाधारणं, मिथ्यात्वस्यतु पुनः शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वरूपमिति अन्यादृशमेवेति कथं निषेध्यतावच्छेदकैक्यं सम्भवदुक्तिकम् इह भवेद्? यत्र प्रपञ्चे मिथ्यात्वं तत्र शब्दजन्यशब्दाजन्ययोः अन्यतरवृत्त्योः विषयत्वरूपं दृश्यत्वम्. मिथ्यात्वेतु शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्वरूपमेव दृश्यत्वम् इति न समानयोगक्षेमः. किञ्च **"सप्रकारकवृत्तिविषयत्वमेव दृश्यत्वम्. प्रकारश्च सोपाख्यः कश्चिद् धर्मः... उपाख्याच 'अस्ति'इति धीविषयत्वादि इति अन्यत्. एतेन वृत्तिव्याप्यफलव्याप्ययोः साधारणं व्यवहारप्रयोजकविषयत्वरूपं दृश्यत्वमपि हेतुः"** इति अद्वैतसिद्धिकृतां वचनानुरोधाद् व्यावहारिके प्रपञ्चे बाधज्ञानात् पूर्वं 'अस्ति'इति धीविषयत्वसम्भवेऽपि तथाविधधीविषयत्वसम्भवनारहिते मिथ्यात्वे अन्यादृशएव दृश्यत्वस्य अपेक्षितत्वेन न एकेनैव 'दृश्यत्व'हेतुना मिथ्याप्रपञ्चतन्मिथ्यात्वयोः मिथ्यात्वं सम्भवति इति. अपरञ्च अनिर्वचनीयख्यातिवादिनां मते शुक्तौ रजतारोपो वा? अनिर्वचनीये रजते व्यावहारिकरजतारोपो वा? यदिच बाधज्ञानेन शुक्तिरूपाधिष्ठाने हि अनिर्वचनीयस्य रजतस्य निरासः तदा अनिर्वचनीयरजताधिष्ठानकव्यावहारिकरजतारोपनिवृत्तिः. यदितु व्यावहारिकरजतारोपनिवृत्तिः न तदा शुक्तेः अधिष्ठानत्वम्. यदितु शुक्तावेव व्यावहारिकरजतारोपा शुक्तिरजतभ्रान्तिः इति अभ्युपगम्यते तदा अनिर्वचनीयरजत-व्यावहारिकरजतारोपयोः ऐक्यापत्त्या तयोः तादात्म्यमेवेति न "व्यावहारिकरजततादात्म्यापन्नस्य अनिर्वचनीयस्य रजतस्य "नेदं रजतम्" इति निषेधप्रतीतिविषयत्वम्.

किञ्च **"न असद् आसीद् नो सद् आसीत् तदानीं न आसीद् रजो नो व्योमा परो यत्, किम् आवरीवः... आनीद् अवातं स्वधया तद् एकं तस्माद्ध अन्यत् न परः किञ्चन आस"** (ऋक्संहि.१०।११।१२९।१-२) इति श्रुतौ निषेध्ये सदसती न तावद् 'बाधानर्हत्व'-'क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन

प्रतीत्यनर्हत्व'रूपे अङ्गीकर्तुं शक्ये, "आनीद् अवातं...तस्माद्ध अन्यत् न परः किञ्चन आस" इति उत्तरवाक्यांशसिद्धस्य मायावरणविक्षेपादिसकलद्वैतरहितस्य ब्रह्मणोऽपि सृष्टेः पूर्वं निषेध्यत्वप्रसक्त्या शून्यवादएव किल मायावादस्य पर्यवसानापत्तेः. नच बाधानर्हत्वरूपसत्त्वानिषेधे मिथ्यात्वसिद्धिरिति उभयतःपाशो अत्र प्रतीयते. यत्तु अद्वैतसिद्धिकाराः *श्रुत्यर्थापत्त्युपत्तौ* अस्याः श्रुतेः पारमार्थिकापारमार्थिकत्वाभ्याम् अन्यार्थानाम् अप्रसिद्धार्थकत्वेन सदसद्विलक्षणत्वएव पर्यवसानं साधयन्ति तदपि "असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितं भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि त्वं नः पृणीहि पशुभिः विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्" (अथर्वसंहि.१७।१।१९) इति श्रुतेः सदसतोः इतरेतरप्रतिष्ठत्वबोधनाद्, "'सदसच्च', 'सन्'=मूर्तम् 'असद्'=अमूर्तम्" (प्रश्नोप.शांक.भा.२।५), "यत् तत् त्रिगुणम् अव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्" (भाग.पुरा.३।२६।१०) इत्येवमादिषु बहुषु वचनेषु स्थूलसूक्ष्ममूर्तामूर्तकार्यकारणार्थकत्वाद्यर्थेषु प्रसिद्धिसद्भाच्चैव तदितरेतराभ्यां विलक्षणस्य स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपस्य मिथ्यात्वस्य श्रुतार्थापत्तिम् अन्यथैव उपपादयति इति न प्रामाणिकम्. तस्माद् अन्यख्यातिवादस्यैव भ्रान्तिविचारे औचित्यम् अवगन्तव्यम्.

वस्तुतस्तु भेदजातस्य मिथ्यात्वम् अङ्गीकर्तॄणां मते 'सदसद्भिन्नत्वं'-'सदसद्विलक्षणत्वम्' इत्येमादि'भेद'पदघटितेन लक्षणेन मिथ्यात्वलक्षणे 'भिन्नत्व'-'विलक्षणत्व'योः को अर्थः ? न तावद् भेदएव भवितुम् अर्हति तस्य अनुयोगिप्रतियोगिसापेक्षत्वेन प्रतियोगिनोः असतो असत्त्वादेव न तत्प्रतियोगिकभेदस्य सिद्धिः शक्यवचना. अनुयोगिनो मिथ्यात्वस्यापि सत्प्रतियोगिताकत्वेन सिद्धस्यैव मिथ्यात्वं पुनः "मम माता वन्ध्या" इतिवत् स्वतोव्याहतं स्यात्. अथ अत्र मिथ्यात्वलक्षणे 'भिन्नत्व'-'विलक्षणत्व'पदयोः न भेदवाचकत्वं किन्तु अत्यन्ताभाववाचकत्वं चेत् तदा सतो अत्यन्ताभावोऽपि क्वचिद् अङ्गीकरणीयो भवेदिति सतः पारमार्थिकत्वहानिः, मिथ्याभेदे पारमार्थिकसत्त्वस्यापि बाध्यत्वावश्यंभावात्. असतश्च असत्त्वादेव अत्यन्ताभावप्रतियोगितायाअपि अशक्यत्वादपि. अथ एतादृक्पदयोरपि त्रैकालिकनिषेधप्रति-

योगित्वे विवक्षिते सदसतोः उभयोरपि मिथ्यात्वलक्षणग्रासात् परिभाषितसदसत्त्वहानिः दुष्परिहैव भवेद्. तस्माद् महता सरम्भेण कृतोऽपि मिथ्यात्वलक्षणप्रयासो अकृतएव भातीति न सदसद्विलक्षणख्यातिवादः सम्भवदुक्तिकः.

अथ अपरे इममेव अनिर्वचनीयख्यातिवादं 'विकल्पख्यातिवाद'तया पुरस्कुर्वन्ति. तत्र 'अनिर्वचनीयख्यातिः'-'विकल्पख्यातिः' इति यदि नाम्नोरेव भेदो न वस्तुनीति चेद् नाम्नाञ्च मनःकल्पितविकल्परूपत्वेनैव अभिमतत्वाद् विकल्पख्यातेः अनिर्वचनीयत्वं वा मनःकल्पितविकल्परूपत्वं वा इति येषाम् इयं मनःकल्पना तएव कल्पयितुं समर्थाः केच अन्ये तेभ्यो व्यतिरिक्ताः इह प्रभवेयुः !

तत्र यद् एभिः उक्तं—

> "शुक्तिरजतादिभ्रमव्याख्याने चक्षुःशुक्तिसंयोगे प्रथमं मनसा तस्य 'इदम्' इति सामान्यं ज्ञानं, तदनु सत्त्वादिगुणसहितया बुद्ध्या तारतम्येन अनेकप्रकारकं ज्ञानं संशय-प्रमाद्यात्मकम् इति प्रत्यक्षप्रक्रियैव न साधीयसी, प्रमाणाभावात् 'सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनो अध्यवसायात्मिका बुद्धिः' इति तयोः लक्षणयोः च सार्वजनीनत्वात्. उक्तञ्च श्रीमद्भागवतेऽपि [1]'वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मनः तत्त्वम् अजायत यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः', [2]'मनएव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति', [3]'अविद्यया मनसा कल्पिताः ते', [4]'तत्कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो', [5]'रजोयुक्तस्य मनसः सङ्कल्पः सविकल्पकः, ततः कामो गुणध्यानाद् दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः' ."
>
> इति.

अत्र भावार्थदीपिकाकृतः श्रीश्रीधरस्वामिनो मताद् एतन्मतं परमार्थतो भिन्नं वा व्यवहारतो अभिन्नं वा इत्युभयोः पक्षयोः अनिर्वचनीयवादएव

श्रेयसे अवलम्बनीयः इति मत्वापि व्यवहारे भेदो न निराकरणीयइति तमेव साधयामः.

तथाहि [१]''वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मनः तत्त्वम् अजायत, यत् सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः, यद् विदुः हि 'अनिरुद्धा'ख्यं हृषीकाणाम् अधीश्वरं... तैजसात्तु विकुर्वाणाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत्, सति!, द्रव्यस्फुरविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रहः, संशयो अथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च स्वाप इति उच्यते बुद्धेः लक्षणं वृत्तितः पृथग्'' — '' 'संकल्पः'= चिन्तनं 'विकल्पो'=विशेषचिन्तनं, यस्य मनसः संकल्पविकल्पाभ्यां कामसम्भवो वर्ततइति कामरूपा वृत्तिः लक्षणत्वेन उक्ता... 'द्रव्यस्फुरणरूपं विज्ञानम्'इति चित्तव्यावृत्त्यर्थम् उक्तम्. 'इन्द्रियाणाम् अनुग्रहः'(बुद्धिलक्षणन्तु) इति *सविकल्पज्ञाने* 'हृषीकाणाम् अधीश्वरम्'(मनोलक्षणन्तु) इति यद् उक्तं तत्तु *निर्विकल्पज्ञाने* द्रव्यस्फुरणस्यैव प्रपञ्चः संशयादिः विपर्यासो मिथ्याज्ञानम्'' (भाग.श्रीध.३।२६।२७-३०) इतिहि जागरुकेऽपि श्रीधरस्वामि-व्याख्याने मनसो निर्विकल्पज्ञानहेतुत्वस्य निराकरणं, बुद्धेरपि विकल्पात्मकमिथ्या-ज्ञानहेतुत्वस्य निराकरणं च न स्वारूढशाखोच्छेदनम् अतिवर्तते!

[२]''श्रद्धत्स्व अननुभूतो अर्थो न मनः स्प्रष्टुम् अर्हति, मनएव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति, अदृष्टम् अश्रुतं च अत्र क्वचिद् मनसि दृश्यते यथा तथा अनुमन्तव्यं देशकालक्रियाश्रयम्'' (भाग.पुरा.४।२९।६५-६७) इति चतुर्थस्कन्धीयवचनस्य भावार्थदीपिकायास्तु पूर्वापरानुसन्धानपूर्वके विमर्शे क्रियमाणे न तावद् अननुभूतार्थविषयिणी संकल्पविकल्पात्मिका मनोवृत्तिः क्वचित् सम्भवति अनुभूतार्थविषयिणीतु पुनः संशयविपर्यासनिश्चयस्मृतिरूपाभिः बुद्धिवृत्तिभिः मनःसहकारिणीभिरेव जायमाना सहकारिकारणाभावेतु न संकल्पविकल्पात्मकज्ञानजननाय अलमिति घट्टकुट्यां प्रभातः! अदृष्टाश्रुतविक-ल्पानां मनसा दर्शनमपि न मनआश्रितं प्रत्युत (विकल्पख्यातेरेव मनोविकल्पैकरूपतासाधकं खलु) देशकालाश्रितमिति इह 'श्रद्धत्स्व' इति उपदिशति श्रीमद्भागवतम्. कुतस्तु खलु नेह श्रद्दधति भवन्तः इति ज्ञातुं न पारयामः!

ततश्च यइमे धीमन्तो तत्र भवन्तः स्वोद्धृतवचनाभिप्रायमपि नावधारयितुं शक्नुवन्ति दूरतरं तेषु परोक्तवचनाभिसन्धानावधारणप्रत्याशा!

यत्पुनः [३]''अविद्यया मनसा कल्पितास्ते'' (भाग.पुरा.५।१२।९) इत्यस्मिन् वचनोदाहरणे विकल्पानां या मनःकल्पितत्वसाधनदुराशा सातु श्रीधर्या सर्वथैव अपहतापि पुनः बाधितार्थानुवृत्तिमिव कुतो अनुसरति इति महत् चित्रम्! तथाहि श्रीधरी ''परमाणवः तर्हि सत्याः स्युः तत्र आह ते मनसा कार्यानुपपत्त्या वादिभिः कल्पिताः'' (भाग.भावा.५।१२।९) ततश्च नेह नामजात्यादिविकल्पानां विषये मनःकल्पितत्वकल्पनायाः लेशतोऽपि अवकाशो वर्तते, यदि श्रीश्रीधरस्वामिनः प्रामाण्यम् अविकल्पितं चेत्!

[४]''तत्कर्म सङ्कल्पविकल्पकं मनो'' — '' 'तत्'=तस्मात् कर्माणि सङ्कल्पयति विकल्पयति च मनः''(भाग.भावा.११।२।३८) इति भागवतभावा-र्थदीपिकयोः अवगाहनेन न नामजात्यादिविकल्पानां प्रत्युत कर्मणां सङ्कल्पविकल्पयोरेव कथा सुस्पष्टेति किं केन सम्बद्ध्यते?

[५]'' 'अहम्'इत्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः, रजोयुक्तस्य मनसः सङ्कल्पः सविकल्पकः ततः कामो गुणध्यानाद् दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः''—''प्रमत्तस्य विवेकशून्यस्य देहादौ 'अहम्' इति मिथ्याबुद्धिः हृदि यथावद् उत्सर्पति ततो 'अहं'बुद्धेः च वैकारिकं सत्त्वप्रधानमपि मनः प्रति घोरं दुःखात्मकं रजः उत्सर्पति मनो व्याप्नोति इति अर्थः. इदमेवम् इदमेवं भोग्यम् इति सविकल्पः सङ्कल्पः स्यात्. ततश्च अहोरूपम् अहोभावः इति गुणाभिध्यानाद् दुर्धरः कामः स्यात्.'' (भाग.भावा.११।१३।९-१०) इति भागवत-भावार्थदीपिकयोः सम्यगवगाहनेन सर्वथा विस्पष्टम् इदं यत् श्रीधरस्वामिमते सबुद्धिकस्यैव मनसः सङ्कल्पविकल्पकामादिसामर्थ्यं न निर्बुद्धिकस्येति तदपि पूर्वनिरूपिताविरु-द्धमेव.

तत्र एते पृच्छन्ति ''इदन्त्वाच्छिन्नं सामान्यज्ञानं तत्त्वदृष्ट्या

निर्विकल्पकमेव नामजात्यादियोजनाशून्यत्वेन एतस्य सङ्कल्पविकल्पात्मना मनसा ग्रहणं कथं सङ्घटते?'' इति तत्रतु वयमपि प्रतिपृच्छामो यथा विकल्पख्यातिवादिनां मायावादिनां वा मतेऽपि ''बुद्धिः नाम निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः मनो नाम सङ्कल्पविकल्पात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः... इयं बुद्धिः ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति... मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सद् मनोमयकोशो भवति... एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपो, मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः.'' (वेदान्तसारे खं.१३) इति उभयोः बुद्धिमनसोः कोशभेदो वर्तते. ततो बुद्ध्यभावेतु केवलस्य मनसो रजोगुणेन वेधो न भवति, तदभावेच कामप्रधानेन मनसा नामजात्यादिमिथ्याज्ञानात्मकतायाः निर्वाहः कथन्नु शक्येत? नहि भ्रमः इच्छारूपः क्रियारूपो वा किन्तु मिथ्याज्ञानरूपएव. अथ बुद्धिमनसोः भेदो अन्तःकरणवृत्तिभेदात्मकएव न पदार्थभेदात्मकः. तदा अन्यख्यातिवादिनाम् अस्माकमपि मते अन्तःकरणन्तु एकमेव चतुर्ग्रन्थिरूपम् अङ्गीक्रियतइति कुतो न समाधानं शक्यं कर्तुम्? किञ्च विकल्पख्यातिदुराग्रहात् *वेदान्तपरिभाषामपि* भवन्तो न अनुसरन्ति इति वयं भृशं दूयामहे. तथाहि—

> ''[1]साच वृत्तिः चतुर्विधा संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणम् इति. एवंविधवृत्तिभेदेन एकमपि अन्तःकरणं मन इति बुद्धिरिति अहङ्कार इति चित्तम् इति व्याख्यायते. तद् उक्तं 'मनो बुद्धिः अहङ्कारः चित्तं करणम् आन्तरं संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषयाः इमे' '', ''अतएव प्रातिभासिकरजतस्थले रजताकारा अविद्यावृत्तिः साम्प्रदायिकैः अङ्गीकृता.''
>
> ''[2]तत्र चैतन्यरूपज्ञाने संशयाकारवृत्तिमद् अन्तःकरणं मनः, निश्चयाकारवृत्तिमद् अन्तःकरणं बुद्धिः, गर्वाकारवृत्तिमद् अन्तःकरणम् अहङ्कारः, स्मरणाकारवृत्तिमद् अन्तःकरणं चित्तम्.''
>
> (वेदान्तपरिभाषायां [1]प्रत्य.परि. [2]तट्टीका च 'मणिप्रभा'ख्या)

यत् पुनः ''अनिवर्चनीय-ख्यातिं भाष्यकारभगवत्पादवर्त्मानुयायिनाम्

अभिधानान्तरेण प्रक्रियाभेदेन वयम् अभ्युपगच्छामः'' इति भणितं तत् सुखेन अभ्युपगच्छन्तु भवन्तः परन्तु मिथो विरुद्धयोः उभयविध्योः अभ्युपगमयोः समन्वयः कथमिति सोऽपि उपायः कथञ्चिद् अनुदर्शनीयः. एकत्र अनिर्वचनीयख्यातिवादे मनोवृत्तेः हि विषयः संशयो, भ्रमस्तु तावद् अविद्यावृत्तेः विषयो, अपरत्र विकल्पख्यातिवादे नामजात्यादिकल्पनाविभ्रमो मनोवृत्तेः विषयत्वेन हि अभ्युपगतइति. सएव जगन्मातृकल्पायै अविद्यायै मातृश्राद्धे वितीर्णो किमु तिलाञ्जलिः? आहोस्वित् श्रीधरस्वामिनां भागवतभावार्थदीपिकैव विकल्पफूत्कारेण उड्डापिता? यतोहि तत्र ''इन्द्रियाणाम् अनुग्रहः' इति *सविकल्पज्ञाने* 'हृषीकाणाम् अधीश्वरम्' इति यद् उक्तं तत्तु *निर्विकल्पज्ञाने* ''द्रव्यस्फुरणस्यैव प्रपञ्चः संशयादिः विपर्यासो मिथ्याज्ञानम्'' इति सुस्पष्टम् उपलभ्यते!! यदि द्रव्यस्फुरणस्यैव प्रपञ्चो विपर्यासो मिथ्याज्ञानं तदा मानससङ्कल्पविकल्पयोः न सर्वत्र भ्रमात्मकता वक्तुं शक्या. अथ नामजात्यादिकल्पानां विकल्परूपत्वेन न बुद्धिगोचरता तदा भागवतभावार्थदीपि-कयोः मिथ्याज्ञानरूपविपर्यासस्य बुद्धिवृत्तितोक्तिः जरद्गवकम्बलपादुकायितैव भवेत्!

यदपि उच्यते ''व्यामोहिकया मायया सदृशादृष्टरूपोद्बोधसामग्रीप्राबल्य-स्यैव सहकारित्वात् प्रथमं शुक्तिस्वरूपबोधस्य निराकरणं, तदनु तद्भिन्नया बुद्ध्या रजताद्युत्पत्तिः इति गौरवम्. कथं न एकयैव मायया तद् उभयस्यापि निर्वाहकत्वम् आवरण-विक्षेपशक्तिद्वयद्वारेण इति अभ्यनुमोदनीयम्?'' तत्र अन्यख्यातिवादिनामपि एवमेव प्रश्नो अवतिष्ठते का इयम् आवश्यकता सङ्कल्पविकल्पात्मिकायाः मानस्याः वृत्तेः यत्र अघटितघटनापटीयस्यौ आवरणविक्षेपव्यूहविशिष्टे मायाविद्ये विद्येतेएव ताभ्यामेव घटितं सर्वमिति विजानन्नपि परोपदेशे पाण्डित्यप्रदर्शनात् पूर्वं मनसः सङ्कल्पविकल्पात्मकवृत्तेः अभ्युपगमः कुतो न त्यज्यते?

अपिच एते पृच्छन्ति ''विप्रकृष्टत्व-धर्मोद्भासित्व-नीलपृष्ठेतर-शुक्तिकाभाग-सम्मुखीनत्वाद्या उपाधयोऽपि कथन्तरां न गृह्यन्ते भ्रमभानसामग्री-त्वेन? ग्रहणेच आसां क्व अन्तर्भावः, किं मायाकार्ये उत बुद्धिव्यवसाये?

आद्ये, व्यामोहकत्वे अन्यस्य अपेक्षितत्वान् न मायायाः मायात्वम्. द्वितीये भ्रमापहारे बौद्धरजतबाधवद्-विप्रकृष्टत्वादीनामपि बाधसम्भवात्. तच्च न अनुभूयतइति असङ्गतिः'' तत्तु विकल्पख्यातिवादिनां मतेऽपि प्रत्यावर्ततएव तथाहि भ्रमभानसामग्रीत्वेन उक्तानाम् उपाधीनां बुद्धिवृत्तिविषयेषु अन्तर्भावः मनोवृत्तिविषयेषु आविद्यकवृत्तिविषयेषु वा ? आद्ये आवरणविक्षेपरूपशक्तिद्वय-विशिष्टाविद्यातो अन्यस्य अपेक्षितत्वेन भ्रान्तिविषयाणाम् आविद्यकत्वभङ्गः. द्वितीये क्लृप्तायाः मनोविकल्परूपायाः वृत्तेरेव भ्रमाधिष्ठानारोपोभयविधभानोपपत्तौ कृतम् अविद्यया अन्तर्गडुरूपया. नच इष्टापत्तिः ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति अङ्गीकाराद् अधिष्ठानप्रमाज्ञानेनापि भ्रमनिवृत्त्यनुपपत्तेः. तृतीये भ्रमापहारे आविद्यकरजतबाधवद्-विप्रकृष्टत्वादीनामपि बाधसम्भवात्. तच्च न अनुभूयत-इति असङ्गतिरिति समानो योगक्षेमः.

यत्तु ''दार्ष्टान्तिके अन्यख्यातिस्वीकारे ब्रह्मव्यतिरिक्तान्यस्य सत्तास्वीकृतिरपि आपद्येत. तथात्वेच शुद्धाद्वैतस्यैव हानिप्रसङ्गः'' इति विकल्पख्यातिवादेऽपि नामादिविकल्पानां स्वप्रकाशसंविद्व्यतिरिक्तत्वे अद्वैतहानिः, अव्यतिरिक्तत्वे स्वप्रकाशरूपतयैव न मिथ्यात्वम्. अथ नामादिविकल्पानां यथा स्वप्रकाशसंवित्संवेद्यत्वं न तथा स्वप्रकाशसंविदो नामादिविकल्पसंवेद्यत्वमिति भेदः चेद्, अयं तावत् स्वशिष्यैकोपदेष्टव्यो व्यावहारिको भेदोऽपि ''स्वप्रकाशसंविद् अवेद्यत्वे सति स्वविषयकापरोक्षव्यवहारहेतुः'' (तत्त्वप्रदी.-चित्सु.प्रथ.परि.) इति लक्षणे नामादिविकल्पगोचरताभ्युपगमादेव गतइति सन्तोष्टव्यम्. अथ व्यवहारदशायामेव तस्य नामादिविकल्पगोचरत्वं न परमार्थदशायाम् इति चेत् ''**स्वपरप्रतिघाततो विभङ्गं कलयद्भिः व्यवहारभूमिकायां परमार्थदशा इति काचिद् अन्या विगतन्यायम् उपेयते अद्वयस्य**'' इति कस्यचिद् विदुषः उक्तिमेव स्मारयामः. सति चैवं विकल्पानां भ्रान्तिरूपां वृद्धिम् इच्छतो निर्विकल्पसंविद्रूपं मूलमपि भवतां नष्टमिति हा कष्टतरम्! इति श्रीमद्भिः स्वयं निर्णेतव्यम्.

अपिच भवेम खलु ऋजुस्वान्ताः ब्रह्मणो हि ऐच्छिकं द्वैतं स्वीकुर्वाणाः

ब्रह्मवादावलम्बिनो वयं वाल्लभाः. ऋजुतमस्वान्तास्तु तत्र भवन्तो तस्मिन् एतस्मिन् ऋजुतमस्वान्तत्वेतु भवतां कैवल्यम् अद्वितीयत्वं वापि सडिण्डिमघोषं भवद्भिः नूनम् अङ्गीकार्यमेव अन्यथा केवलाद्वैतहानिप्रसङ्गो वज्रलेपायितः स्यात्!

तथाहि प्रपञ्चस्य शुक्तिरजतसाधर्म्येण स्वप्नसाधर्म्येण वा मिथ्यात्वं स्वीकुर्वद्भिः तत्र भवद्भिः अङ्गीकृतम् आत्मनो भाष्यकारभगवत्पादवर्त्मानुगामित्वं सद्यमेव विस्मृतमिति न किं तत् सावद्यम्! शृण्वन्तु भवन्तो यद् भगवत्पादश्रीमच्छंकरो ''वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवद्'' इति वेदान्तसूत्रस्य शारीरकभाष्ये भवादृशां मनःशमायैव अभाषि—

''यद् उक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवद् जागरितगोचराअपि स्तम्भादिप्रत्ययाः भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषाद् इति. तत् प्रतिवक्तव्यम्. अत्र उच्यते न स्वप्नादिप्रत्ययवद् जाग्रत्प्रत्ययाः भवितुम् अर्हन्ति. कस्मात्? वैधर्म्याद्. वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः. किं पुनः वैधर्म्यं? बाधाबाधौ इति ब्रूमः. बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मया उपलब्धो महाजनसमागमः इति. नहि अस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानन्तु मे मनो बभूव. तेन एषा भ्रान्तिः उद्बभूव इति. एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः. न एवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदपि अवस्थायां बाध्यते... तत्र एवं सति न शक्यते वक्तुं 'मिथ्या जागरितोपलब्धिः उपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवद्' इति, उभयोः अन्तरं स्वयम् अनुभवता. नच स्वानुभवापलापः प्राज्ञमानिभिः युक्तः कर्तुम्. अपिच अनुभवविरोधप्रसङ्गाद् जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरालम्बनतां वक्तुम् अशक्नुवता स्वप्नप्रत्ययसाधर्म्याद् वक्तुम् इष्यते. नच यो यस्य स्वतो धर्मो न सम्भवति सो अन्यस्य साधर्म्यात् सम्भविष्यति. नहि अग्निः उष्णो अनुभूयमानः उदकसाधर्म्यात् शीतो भविष्यति.

दर्शितन्तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः''(ब्र.सू.शा.भा.२।२।२९).

तस्मात् सर्वविधप्रपञ्चस्य अभ्रमरूपत्वं न निर्भ्रमम् अङ्कयन्ति भाष्यकाराः स्वहृदयपटले स्वाभ्यूहितवादभङ्गभिया, नवा सर्वथा निराकुर्वन्ति श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणां स्वाभ्यर्हितत्वेन स्वीकृते प्रमाणनिचये प्रपञ्चस्य स्वप्नोपममिथ्यात्वस्य निरसनात् चेति ग्रहणनिराकरणोभययपक्षयोः मध्ये सुव्यक्ता दोलायमानता भवतां भाष्यकाराणामपि इति. अथैतत् स्याद् यथा उदयनाचार्याः प्राहुः ''न ग्राह्यभेदम् अवधूय धियो अस्ति वृत्तिः, तद्बाधके बलिनि वेदनये जयश्री, नोचेद् अनित्थम् इदम् ईदृशमेव विश्वं तथ्यं तथागतमतस्य तु को अवकाशः!'' इति श्रुतिविरुद्धतथागतमतवैतथ्यप्रतिपादनएव भगवत्पादानाम् अभिप्रायः नहि प्रपञ्चवैतथ्यनिरसने इति न तेषां दोलायमानचित्ततेति. तदा जगत्सत्यत्ववादावलम्बनेन भगवद्भजनविमुखानां जनानां तादृश्याः मनोवृत्तेरेव निराकरणे अस्मदाचार्यचरणानामपि तात्पर्यं न पुनः जगत्सत्यत्वनिरसनइति भगवद्भजनैकनिष्ठचित्तानाम् अस्मदाचार्याणामपि नेतस्ततः दोलायमानचित्तता! निरूपयन्त्यपि तएव स्वप्रकटितवेदस्तुतिसुबोधिन्यां यद् जगतो हि असत्त्वप्रतिपादनं न स्वार्थे तात्पर्यवद् इति ''एवं सर्वैः प्रकारैः भगवद्भजनं निरूप्य... भजनीयनिर्धारार्थं यतमानाः सच्चिदानन्दो भगवान् भजनीयइति वक्तुं लोके सच्चिदानन्दाः धर्माः एकत्र न सन्तीति किं वक्तव्यम्!... तत्र प्रथमं द्वाभ्यां जगति सत्त्वं निराक्रियते अन्यथा भगवानेव भजनीयइति अर्थो न उपपद्येत. भजनीयनिर्धारे गौणसत्त्वस्य (ब्रह्मोपादानकत्वरूपस्य) अप्रयोजकत्वात्. ज्ञानार्थं (भगवन्माहात्म्यज्ञानार्थं) दोषाभावार्थं (ब्रह्मेतरमायाविद्यापरमाण्वादिजन्यत्वरूपदोषाभावार्थं) वा तदुपयोगः...'' (सुबो.१०।८७।३६) तस्माद् न दोलायमानचित्तता क्वचिद् ब्रह्मवादिनां सम्भवति. तस्यैतस्य ब्रह्मणः स्वरूपविषये श्रीमद्भागवते —

''अथ तत्र भवान् किं देवदत्तवद् इह गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशलाकुशलं फलम् उपाददाति आहोस्विद् आत्माराम उपशमशील समञ्जसदर्शन उदास्ते इति ह वाव न विदामः. नहि विरोध उभयं भगवति अपरिगणितगुणगणे

ईश्वरे अनवगाह्यमाहात्म्ये अर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रयदुरवग्रवादिनां विवादानवसरे उपरतसमस्तमायामये केवलएव आत्ममायाम् अन्तर्धाय कोनु अर्थो दुर्घटइव भवति स्वरूपद्वयाभावात्... सएव हि पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः सकलजगत्कारणकारणभूतः...''(भाग.पुरा.६।९।३५-३८)

इति सडिण्डिमम् उद्घुष्टमेवेति भगवतो विरुद्धधर्माश्रयत्वेन किं तद् यद् न उपपद्येत!

योऽपि ''भगवत्कृतप्रपञ्चस्य सत्यत्वं बौद्धस्य वा असत्यत्वम् इति उभयमपि सुन्दोपसुन्दन्यायेन अन्योन्यम् उपमर्दम् उपजनयति, सर्वप्रपञ्चस्य जातिगताभिन्नत्वेन सदसद्विलक्षणत्वरूपम् अनिर्वचनीयत्वं वा समर्थयति, न अन्यख्यातिम्'' इति अनिर्वचनीयवादः स प्रतिवक्तव्यो ननु भो कोऽयं भवतां विकल्पख्यातिवादव्यामोहो? यः स्वाधीतां *वेदान्तपरिभाषाम*पि भवत्सु विस्मृतिपथि नयति! तथाहि ''जातित्वोपाधित्वपरिभाषायाः सकलप्रमाणागोचरतया अप्रामाणिकत्वात्. 'घटोऽयम्' इत्यादिप्रत्यक्षं हि घटत्वादिसद्भावे मानं नतु तस्य जातित्वे'' (वेदा.परि.प्रत्य.परि.) इति. तस्माद् न वयं किमुत भवन्तएव स्वयं काञ्चित् पुनर्विचारणाम् अत्र अर्हन्ति.

''[1]'यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवो अनिले, एवं द्रष्टरि दृश्यत्वम् आरोपितम् अबुद्धिभिः', [2]'वदन्ति विश्वं कवयः स्म नश्वरं पश्यन्ति च अध्यात्मविदो विपश्चितः', [3]'अहं पयो ज्योतिः अथ अनिलो नभो मात्राणि देवाः मनः इन्द्रियाणि कर्ता महान् इति अखिलं चराचरं त्वयि अद्वितीये भगवन् अयं भ्रमः' इति श्रीमद्भागवतशास्त्रस्य जृम्भमाणेषु एतेषु वचनेषु को वा प्रपञ्चस्य भ्रमरूपत्वं निवारयितुम् ईष्टे!'' इति. विस्मयः तत्र *वेदान्तपरिभाषैव* ईष्टे इति तन्निराकरणं वरम्.

तथाहि वेदान्तपरिभाषायां तावद् —

[१]“‘यत्र आरोप्यम् असंनिकृष्टं तत्रैव प्रातिभासिकवस्तूत्पत्तेः अङ्गीकारात्. अतएव इन्द्रियसंनिकृष्टतया जपाकुसुमलौहित्यस्य स्फटिके भानसम्भवाद् न स्फटिके अनिर्वचनीयलौहित्योत्पत्तिः” (वेदा.परि.प्रत्य.परि.) इति व्यवस्थापितत्वेन नभसि अधिष्ठाने आरोप्यस्य मेघौघस्य तथैव अनिलरूपे अधिष्ठाने आरोप्यानां पार्थिवरेणूनां न असंनिकृष्टत्वमिति, तयोः उभयोः समसत्ताकयोः मिथः संनिकृष्टत्वेन विषमसत्ताकत्वाभावएव. आतश्च दृष्टान्तयोः न एकस्मिन् अधिष्ठाने अपरस्य असंनिकृष्टस्य आरोप्यस्य वस्तुस्वरूपभ्रमः किन्तु उभयोः समसत्ताकयोः संनिकृष्टयोरेव खलु संसर्गभ्रमो यथा, तथैव दार्ष्टान्तिकेऽपि परमार्थसति द्रष्टरि परमार्थसतोरेव दृश्यस्य तत्संनिकृष्टस्य संसर्गभ्रमएव स्वीकरणीयो यदि वेदान्तपरिभाषायाः अपभाषितत्वं न अभिमतं चेत्. वाक्यव्याख्यानन्तु श्रीमद्भागवतस्वारसिकतात्पर्यानुरोधि श्रीमदाचार्यचरणैः तत्रैव सुबोधिन्यां प्रकटीकृतमिति न इह पुनः उच्यते.

[२]“‘वदन्ति विश्वं कवयः स्म नश्वरं पश्यन्ति च अध्यात्मविदो विपश्चितः, तथापि मुह्यन्ति तव अज मायया सुविस्मितं कृत्यम् अजं नतोऽस्मि तम्” (भाग.पुरा.५।१८।४) इति नूनम् एतत् श्रीमद्भागवतशास्त्रस्य वचनं जृम्भमाणं वर्तते न अत्र विचारणीयं किञ्चित् किन्तु तत्तात्पर्यावबोधो भवत्सु विजृम्भते नवा इत्येव तावद् विचारणीयं मनुमहे. वस्तुतस्तु वाक्ये अस्मिन् काचन माया निर्दिष्टा न तत्र कोऽपि सन्देहः, निर्दिश्यमाणा च सा सृष्ट्युत्पत्तिकरणरूपा सर्वभवनसामर्थ्यरूपा उत भगवल्लीलासामयिकी आत्ममायापरपर्यायरूपा योगमाया आहोस्विद् अविद्यापरपर्यायरूपा व्यामोहिका वा? इति सन्देहे, आद्ये द्वे भगवतो हि अन्तिमातु जीवस्यैव इति “बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतो गुणस्य मायामूलत्वाद् न मे मोक्षो न बन्धनं, शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिः च मायया, स्वप्नो यथा आत्मनः ख्यातिः संसृतिः नतु वास्तवी, विद्याविद्ये मम तनू विद्धि उद्धव शरीरिणां मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते, एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते बन्धो अस्य अविद्यया अनादिः विद्यया च तथा इतरः” (भाग.पुरा.११।११।१-४) इति वाचनिकसन्दर्भानुरोधेन

निरस्तप्रायो वर्तते. अतः आत्मोपादानकसृष्टिकरणरूपायाः सर्वभवनसामर्थ्यरूपायाः, लीलासामयिक्याः योगमायायाः च भगवन्मायात्वं वर्तते. सेयं हि माया जीवमायायाः अविद्यायाअपि विनिर्मात्री इति ताम् अपश्यन्तो भवन्तः सर्वत्र स्वमायामेव सर्वत्र पश्यन्ति तत्तु आत्मगतायाः पीतिमायाः शुभ्रे शङ्खे समारोपइव इत्यत्र न तिरोहितमिव किञ्चिद्. “‘वदन्ति विश्वं कवयः” इत्यस्मिन्नु वाक्ये पुनः जीवमाया वा भगवन्माया वा विवक्षिता इति सन्देहे “तथापि मुह्यन्ति तव अज मायया” इति वाक्यशेषएव निःशेषम् आविद्यककल्मषम् अपहरति इति विदांकुर्वन्तु अत्र भवन्तः.

[३]तृतीयेतु उदाहृतभागवतवचने अखिलस्य द्वैतप्रपञ्चस्य अद्वितीये ब्रह्मणि भ्रमरूपत्वमिव बोध्यते परन्तु उपात्तसन्दर्भपर्यालोचनेतु सोऽपि भ्रमः सर्वथा बाध्यतएव. तथाहि “नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः” (भाग.पुरो.१०।५९।२७)इति उपक्रमे आत्यन्तिकद्वैतभ्रान्तेः विवक्षितस्य अद्वितीयस्य अधिष्ठानस्य भगवतो पूर्णबोधात्मकस्य निखिलनामरूपकर्मणाम् आदिबीजरूपस्य पुरुषविधस्य वासुदेवस्य स्वरूपं निरूप्य मध्ये “अजाय जनियत्रे अस्य ब्रह्मणे अनन्तशक्तये परावरात्मन् भूतात्मन् परमात्मन् नमोऽस्तु ते. त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो तमो निरोधाय विभर्षि असंवृतः स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पतेः कालः प्रधानं पुरुषो भवान् परः” (भाग.पुरो.१०।५९।२८-२९) इति मध्ये अजस्य तस्य स्वानन्तशक्त्यैव दृश्यमानद्वैतजनकस्य परावरात्मत्वं, भूतात्मत्वं, परमात्मत्वं, सर्वरूपधारकत्वं, सर्वात्मकत्वं सर्वातीतत्वं चापि निरूपितम्. तत्र इदमेव अवधेयं भवति यद् नहि ईदृशस्य स्वतो द्वैतभावापन्नस्य सगुणब्रह्मणो अद्वैतिनां मते निखिलद्वैतभ्रमाद्वितीयाधिष्ठानत्वं सम्भवदुक्तिकम्.

अथ “तत् त्वम् असि” - “अहं ब्रह्म अस्मि”इत्यादिमहावाक्यवद् भागत्यागलक्षणया जहदहजहल्लक्षणया वा तस्यापि अद्वितीयत्वं निखिलद्वैतभ्रमाधिष्ठानत्वं शक्यतएव इति चेद्, उपसंहारे “अहं पयो ज्योतिः अथ अनिलो नभो मात्राणि देवाः मनः इन्द्रियाणि कर्ता महान् इति अखिलं

चराचरं त्वयि अद्वितीये भगवन् अयं भ्रमः'' (भाग.पुरा.१०।५९।३०) इत्यत्रापि मा भूत् 'त्वयि' इति निरूपणं भवतात् च 'मयि अद्वितीये' इति निरूपणम्! नहि महावाक्येषु ''तत् त्वम् अस्ति'' इतिवा ''ब्रह्म अहम् अस्ति'' इतिवा निरूपणम् उपलभ्यते. ततः स्फुटैव अत्र वाक्यार्थप्रक्रियावैषम्यम्! वस्तुतस्तु अत्र भगवतः सर्वात्मकत्वं सर्वातीतत्वं चेति विरुद्धधर्माश्रयत्वबोधनेनैव उपक्रमोपसंहारयोः एकवाक्यतासम्पादनेनैव शास्त्रविवक्षितार्थबोधः सम्भवति. न केवलोपसंहारगता'ऽद्वितीयत्व'पदमात्रसमाश्रयणेन, युक्त्यगम्यत्वे सति श्रुत्यादिशास्त्रैकगम्यत्वाद् अस्य विषयस्य. यथाहुः भगवत्पादश्रीमच्छंकराचार्याः —

> ''यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयते एवं विकारव्यतिरेकेणापि ब्रह्मणो अवस्थानम्. कुतः? श्रुतेः!... शब्दमूलं च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं न इन्द्रियप्रमाणकं तद् यथाशब्दम् अभ्युपगन्तव्यम्. शब्दश्च उभयमपि ब्रह्मणः प्रतिपादयति अकृत्स्नप्रसक्तिं निरवयवत्वं च. लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्तवैचित्र्यवशात् शक्तयो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते. ताअपि तावद् नोपदेशमन्तरेण केवलेन तर्केण अवगन्तुं शक्यन्ते — अस्य वस्तुनः एतावत्यः एतत्सहायाः एतद्विषयाः एतत्प्रयोजनाः च शक्तयः — इति किमुत अचिन्त्यस्वभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना शब्देन न निरूप्येत!... तस्मात् शब्दमूलएव अतीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः.''
>
> (ब्र.सू.शा.भा.२।१।२७).

तस्मात् 'त्वयि'इति पदबोधिते भगवति सद्वितीये वासुदेवे सगुणे साकारे सविशेषे श्रीकृष्णएव, न निर्गुणे निराकारे निर्विशेषे ब्रह्मणि, अद्वितीयत्वस्य द्वितीयभ्रमाधिष्ठानत्वस्य च बोधनाद्, द्वितीयतया अवधृतानां पदार्थानां न असंनिकृष्टारोपहेतुकी प्रातिभासिकता स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिता वा किन्तु मायाविद्याद्युपादानकताप्रयुक्तस्य मिथ्याभेदस्य तथैव प्रकृतिपरमाण्वाद्युपादानकताप्रयुक्तस्य आत्यन्तिकभेदस्यापि निरासः. नच

श्रीकृष्णस्यापि सगुणत्वाद् मायिकत्वं शङ्कनीयं यथाह श्रीमधुसूदनसरस्वतयः ''भगवतः कृष्णस्य च सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वेन परमार्थसत्यनिरुपधिब्रह्मरूपत्वाद्. किम् अतद्वस्तु तस्मात्, श्रीकृष्णाद् अन्यद् वस्तु पारमार्थिकं किं, निरूप्यताम्? तदेव एकं पारमार्थिकं न अन्यत् किमपि इति अर्थः'' (गीता.मधुसू.१४।२७).

यत्पुनः ''श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्'' इति सूत्रे भाष्यकृता ''ननु शब्देनापि न शक्यते विरुद्धो अर्थो प्रत्याययितुं, निरवयवं च ब्रह्म परिणमते च न कृत्स्नम् इति'' (तत्रैव) इति शङ्कासमाधने कृते तत्तु शब्दैकप्रमाणके अर्थे शब्दैकप्रामाण्याङ्गीकारे भाष्यकाराणामपि तर्कभीत्या दोलायमानचित्तातायाः प्रमाणं वा भवतु - भवन्तु वा श्रीमधुसूदनसरस्वत्युक्तया ''भगवदभिप्राय(/भगवत्पादाभिप्राय)वर्णने के वयं वराकाः'' (गीता.मधुसू.१८।६६) इति नीत्या कथञ्चिद् अन्यथानेयानि वचनानि इमानि. अन्यथा ''मनः त्वं व्योम त्वं मरुद् असि मरुत्सारथिः असि त्वम् आपः त्वं भूमिः त्वयि परिणतायां नहि परं, त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा चिदानन्दाकारं शिवयुवतिभावेन बिभृषे''(सौन्द.लह.३५) जगत्परिणाम्युपादानभूतायाः शक्तेः अविद्यारूपत्वे सौन्दर्यलहर्यां चिदानन्दाकारत्वेन स्तुतिः दम्भएव स्यात्. दम्भरहितस्तुतित्वेतु न जातु पृथ्व्यादीनाम् आविद्यकत्वसम्भवनालेशगन्धोऽपि. तस्माद् मा भूदिह दोलायमानचित्तता भवतां; मा भूतां च भवतां मनसि सङ्कल्पविकल्पौ यद् अयं भगवत्पादश्रीमच्छंकराचार्याणां द्वैतवासनाप्रयुक्तो मानसः स्तुतिसंकल्पः इति. तस्मात् सौन्दर्यलहर्यां निमज्जनपूतेन मनसा भगवतो अनाविद्यकं पृथिव्यादितत्त्वसृष्टिसौन्दर्यम् अत्र अनुभवन्तु तत्र भवन्तः!

यच्च '''शुक्तिरजतादिभ्रमो निरुपाधिकः 'पीतःशङ्खः' इत्यादिकः च सोपाधिकः' तदपि न मनोरमं विचारासहत्वात् सार्वजनीनप्रतीतिविरुद्धत्वात् च. यथा 'पीतः शङ्खः' इति स्थले पित्तादिनेत्रदोषरूपोपाधिः तथैव शुक्तिरजतस्थलेऽपि विप्रकृष्टत्व-धर्मपतित्व- चाकचाक्यादिमत्त्व- नीलपृष्ठेतरभागसम्मुखीनत्वादयः उपाधयो विद्यन्तएव'' इति आक्षिप्तम्.

तत्र अधिष्ठानतत्त्वज्ञाननिवर्त्यो भ्रमो निरुपाधिकः तदनिवर्त्यो हि

उपाधिनाशनाश्यः च सोपाधिकः इति व्यवस्था, नतु उपाधिजन्यो भ्रमः सोपाधिकः तदजन्यो निरुपाधिकः इति अवधेयम्. अनिर्वचनीयख्यातिवादाभिमतपरिभाषाम् अनुसृत्यापि निरूपणाग्रहेतु विशेषावरणनिवृत्तावपि विक्षेपानुवृत्तिको हि भ्रमः सोपाधिकः, विशेषावरणनिवृत्तिप्रयुक्तविक्षेपनिवृत्तिनियतिकस्तु निरुपाधिकः इत्यपि सूपपाद्यमेव. नच इयं प्रक्रिया सार्वजनीनप्रतीतिविरुद्धा इति वाच्यं, सिद्धान्तलेशसंग्रहे "*अन्ये : वृत्त्या, इदमज्ञानावरणांशपरिक्षयाद्, विक्षेपांशेन रजतं, जीवन्मुक्तौ जगद् यथा.* अपरेतु : 'इदं रजतम्' इति इदमंशसम्भिन्नत्वेन प्रतीयमानस्य रजतस्य इदमंशाज्ञानमेव उपादानं, तस्यच इदमाकारवृत्त्या आवरणशक्तिमात्रनिवृत्तावपि विक्षेपशक्त्या सह तदनुवृत्तेः न उपादानत्वासम्भवः. जलप्रतिबिम्बितवृक्षाधोऽग्रत्वाध्यासे जीवन्मुक्त्यनुवृत्तेः प्रपञ्चाध्यासे च सर्वात्मना अधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तरभाविन्याम् आवरणनिवृत्तावपि विक्षेपशक्तिसहिताज्ञानमात्रस्य उपादानत्वसम्प्रतिपत्तेः" (सि.ले.सं.१।-११०) इति शब्दान्तरैः अस्याः प्रक्रियायाः स्वीकृत्युपलम्भात्.

वाल्लभग्रन्थानां सम्यगवलोकनं विनैव यत् पुनः उच्यते "वाल्लभाः ब्रह्मणः सगुणसाकारविग्रहं पुरुषोत्तमरूपम् अभिप्रयन्ति. श्रीमद्भागवतसिद्धान्तानुयायिनाम् अस्मदादीनामिव तथा अत्र तद्धाम्नो लीलानाम् अवताराणां चापि विवेचनं तैः अवश्यं करणीयम् आसीत् ख्यातिवाददृशापि" इति.

तत्र वस्तुतस्तु भगवत्स्वरूपगुणधर्मनामलीलाधामादीनां विवेचनं वयं वाल्लभाः भक्तिवाददृशैव कुर्मः. ख्यातिवाददृशातु विवेचनाय श्रीमद्भागवतैकगम्ये भगवल्लीलावतारकालिकस्वरूपादिविषयेऽपि "शब्दज्ञानानुपातिवस्तुशून्यात्मकविकल्प"त्वकल्पनाग्रहग्रस्तानां भवादृशानाम् अभागवतकल्पानामेव विशेषाधिकारो भवतु. न तादृशीं स्पृहापिशाचीं वयम् अनुसरामो नापि सापि अस्मासु आविष्टा! "असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगद् आहुः अनीश्वरं...एतां दृष्टिम् अवष्टभ्य नष्टात्मानो अल्पबुद्धयः प्रभवन्ति उग्रकर्माणः क्षयाय जगतो अहिताः" (भग.गीता.१६।८-९) इति भगवता निन्दितत्वेन पृथिव्यादिप्रपञ्चस्यापि असत्यत्वे विप्रतिपन्नाः वयमिति दूरतमैव भगवत्स्वरूपादीनां

दीनां मिथ्यात्वाङ्गीकरणाय ख्यातिवाददृशा तेषां विवेचनप्रत्याशा अस्मत्कृते.

किञ्च भवादृशाः यदि भागवताः तदा बौद्धैः किम् अपराद्धम्? तेषाम् अपोहवादो भवन्मते 'सत्यज्ञानानन्ता'दिपदान्यपि विकाराराहित्य-जडताराहित्य-देशकालवस्तु-परिच्छेदराहित्यानां बोधकानि. तेषां यथा "**कल्पनापोढम् अभ्रान्तं प्रत्यक्षं**" (न्या.बि.१।४) तथा भवन्मते विकल्पानां कल्पितत्वेन सन्मात्रग्राहिप्रत्यक्षतावादः. तेषां मते यथा "**अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना**" (न्या.बि.प्र.ल.५) तथा भवतां मतेऽपि "**अपर्यायशब्दानां संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वम्**" (चित्सु.१।१९). तेषां मते यथा "**द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना लोके संवृतिसत्यं सत्यं च परमार्थतः**" (बो.च.३६१) तथा भवन्मतेऽपि सत्तयोः द्वैविध्यं पारमार्थिक्यपारमार्थिकीभेदेन. यथा तेषां मते संवृतेः तथ्यसंवृतिमिथ्यासंवृतिरूपं द्वैविध्यं तथा भवन्मतेऽपि अपारमार्थिकसत्तायाः व्यावहारिकताप्रातिभासिकता इति द्वैविध्यम्. शून्यस्य लक्षणं तैः यथा दीयते "[१]**अपरप्रत्ययं** [२]**शान्तं** [३]**प्रपञ्चैः अप्रपञ्चितं** [४]**निर्विकल्पम्** [५]अनानार्थम् एतत् तत्त्वस्य लक्षणम्" (मध्य.शा.१८।९)इति स्वीक्रियतएव तथा भवन्मतेऽपि ब्रह्मणो लक्षणं [१]स्वप्रकाशत्वं [२]शान्तत्वं [३]अवाच्यत्वं [४]निर्विकल्पत्वं [५]अद्वितीयत्वम् इति. यथा तेषां मते "**सर्वचित्तचैत्तानाम् आत्मसंवेदनम्**" (न्या.बि.१।१०) तथा भवन्मतेऽपि नामजात्यादिसर्वविकल्पानां स्वप्रकाशचिद्भास्यत्वम्. तेषां मतेऽपि परमेश्वरतत्प्रतिपादकश्रुत्यादिशास्त्राणां कल्पितत्वं तत्तु भवन्मतेऽपि समानमिति यूयं बौद्धाश्च समानसंसदाइति यूयं यदि भागवताः तदा बौद्धानापि युष्मत्पूर्वजातत्वेन ज्येष्ठभागवतत्वं कुतो न अभ्युपगच्छन्ति भवन्तः?

तथापि साग्रहं पृच्छन्ति चेद् भवन्तो ननु शृण्वन्तु उत्तरं यद् भगवत्पादश्रीमच्छंकराचार्याएव प्राहुः —

> "**परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म, न तस्य अन्येन केनचित् पूर्णता सम्पादयितव्या. श्रुतिश्च भवति 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समः च अभ्यधिकः च दृश्यते,**

परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'... यथा लोके देवाः पितरः ऋषयः इत्येवमादयो महाप्रभावाः चेतनाअपि सन्तो अनपेक्ष्यैव किञ्चिद् बाह्यं साधनम् ऐश्वर्यविशेषयोगाद् अभिध्यानमात्रेण स्वतएव बहूनि नानासंस्थानि शरीराणि प्रासादादीनि रथादीनि च निर्मिमाणाः उपलभ्यन्ते मन्त्रार्थेतिहासपुराणप्रामाण्यात्; तन्तूनाभश्च स्वतएव तन्तून् उत्सृजति... तथा ब्रह्म चेतनमपि न बाह्यं साधनम् अपेक्षिष्यते... तस्माद् यथा एकस्य सामर्थ्यं दृष्टं तथा सर्वेषामेव भवितुम् अर्हति... तथा एकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्दैनैव अनेकाकारा सृष्टिः भविष्यति... तस्मात् परमेश्वरस्य लीलैव केवलम् अपरिमितशक्तित्वात्. यदि नाम लोके लीलास्वपि किञ्चित् सूक्ष्मं प्रयोजनम् उत्प्रेक्ष्येत तथापि नैव अत्र किञ्चित् प्रयोजनम् उत्प्रेक्षितुं शक्यते, आप्तकामश्रुतेः.''(ब्र.सू.शा.भा.-२।१।२४-३३)

एतदग्रेतु यद् भाष्यकारैः ''नच इयं सृष्टिः परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वाद् ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वात् च'' (तत्रैव) इति यद् आभाषितं तदपि वयन्तु न आविद्यकं दुराग्रहं मन्महे प्रत्युत भगवत्पादाभ्युपगतपुराणप्रामाण्यानुरोधात् ''त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय'' (वारा.पुरा.७०।३६) इति भगवदाज्ञप्तभगवत्पादश्रीमच्छंकररूपेण कृता इयं भगवल्लीलैव इति. तस्माद् भगवतः स्वरूप-नाम-गुण-धर्म-लीला-धाम्नाम् एकविधता बहुविधता वा न आविद्यकी भवितुम् अर्हति. नापिच भगवत्पादश्रीमच्छंकराणां रूपं वा लीला वा इयं मायावादप्रवर्तनरूपा अविद्याजन्यां वा अविद्याकल्पितां वा वयं मन्महे किमुत यथा आह भगवती श्रुतिः ''सो अकामयद् बहु स्यां प्रजायेय इति... इदं सर्वम् असृजत. यदिदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्. तद् अनुप्रविश्य सच्च त्यच्च, अभवत्, निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च, निलयनञ्च अनिलयनञ्च, विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च, सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत्. यदिदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते'' (तैत्ति.उप.२।६) इति तथा

अभ्युपगच्छामः. भवन्तएव तस्मात् प्रष्टव्याः भवन्ति को अयं ब्रह्मणि प्रद्वेषो यत् तस्य सर्वभवनसामर्थ्यं स्वाभाविकं न अङ्गीकुर्वन्ति भवन्तः कश्च अयं मायाविद्ययोः मोहातिभरो यत् ते अघटितघटनापटीयस्यौ स्वीकुर्वन्ति भवन्तः !!

वयन्तु भवद्भिः सह विवादे एतं प्रतिवादमपि न भवत्कृते प्रत्युत भगवन्तं बुद्धं प्रत्येव स्वीकुर्मः ! रासपञ्चाध्यायां भगवच्छ्रीकृष्णोक्तस्वानुगमनत्यागाज्ञोल्लंघनाय श्रीगोपीजनैः कृतः प्रतिवादः ''मा एवं, विभो!, अर्हति भवान् गदितुं नृशंसं'' (भाग.पुरा.१०।२९।३१) इतिवद्, यद् आह बुद्धावतारावतारी भगवान् ''युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा मायां मदीयाम् उद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटं, न एतद् एवं यथा आत्थ त्वं यद् अहं वच्मि तत् तथा एवं विवदतां हेतु शक्तयो मे दुरत्यया'' (भाग.पुरा.११।२२।४-५) इति न वयम् अत्र आवयोः संकल्पविकल्परूपे मनोवृत्तीएव केवले अभ्युपगच्छामः प्रत्युत मनसोऽपि भगवदंशत्वमेव ''इन्द्रियाणां मनश्च अस्मि'' (भग.गीता.१०।२२) इति भगवतैव स्वविभूतित्वेन परिगणनात्. आतश्च एतादृक्खण्डनमण्डनयोरपि मिथः प्रयुक्ताः उपहासोक्तयः व्यङ्ग्योक्तयोऽपि वा अस्माकं मनसि वादलीलारसस्य तत्त्वबुभुत्सारूपं स्थायिभावमेव परिपुष्णन्त्यः तदनुभावरूपतां तत्सञ्चारिभावरूपतां वा आवहन्त्यो न निन्दनीयाः इति प्रतिभान्ति. अथ तत्स्थायिभावमेव क्वचित् परिघ्नन्त्यस्तु यद्यपि अभिनन्दनीयाः इति अनुभवितुं न वयं शक्नुयाम कदाचित्, सर्वलीलाभिनन्दनसामार्थ्याभावादेव; तथापि तादृश्योऽपि सत्यः सन्ति ताः भगवल्लीलारूपाएव इतितु अस्माकं दृढएव मनःप्रत्ययः. तस्माद् यदि एतासाम् मानसिकविकल्परूपत्वमेव आविद्यकत्वमेव वेति भवदीया दृढा मतिः चेत् तदापि ''मनसा निर्मितं पापं मयि मा आरोपय, अच्युत!, इन्द्रियाणां मनः च अस्मि त्वयैव कथितं पुरा'' इति आभाणकोक्तिम् अनुसन्दधानाः वयन्तु सापि भगवल्लीलैवेति भृशम् अदोलायमानचित्ताएव उपविशामः. सर्वथापि तस्यैतस्य श्रीमद्भागवतप्रतिपाद्यस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य एतद्वादलीलाविनोदेन तच्चरणारविन्दयोरेव आवयोः मनसी एकनिष्ठतासंकल्पप्र-

चुरे भवतां न विकल्पप्रचुरे इति कामयामहे!

केचित्तु पुनः इह श्रीबालकृष्णभट्टैः कृते प्रमेयरत्नार्णवीये अनिर्वचनीयख्यातिविचारेऽपि त्रुटिं निर्दिशन्तः आहुः ''यत्तु बालकृष्णभट्टेन अनूदितं 'रजतं चक्षुषा गृह्यते इति सामान्यज्ञानं न कारणम्' इति तन् न युक्तम्, अनिर्वचनीयख्यातिवादे रजतादेः साक्षिभास्यत्वाङ्गीकारात्. सामान्येन ज्ञाते, विशेषेण अज्ञाते, धर्मिणि दोषादिसामग्रीवशाद् भ्रमाङ्गीकारात् च. आविद्यकस्य रजतादेः अविद्यमानत्वात् चक्षुःसन्निकर्षाभावात्. नहि आविद्यकं प्रातिभासिकं चक्षुः गृह्णाति. सर्वत्रैव भ्रान्तं साक्षिभास्यमेव'' ('अन्यख्यात्यनिर्वचनीयख्याती' प्रबन्धे) इति.

तत्र तावत् 'ख्यातिविवेके' प्रमेयरत्नार्णवकाराणां श्रीबालकृष्णभट्टानां पांक्तपदावली ईदृशी विद्यते :

> ''मायावादिनस्तु शुक्तिरूपाधिष्ठाने उत्पन्नेन अनिर्वचनीयेन रजतेन चक्षुःसंनिकर्षे 'रजतम् इदम्' इति भ्रमो भवेत्, न तत्र शुक्तिसामान्यज्ञानस्य हेतुत्वम् इति वदन्ति.''
>
> (प्रमे.रत्ना.ख्या.वि.).

अत्र सत्तात्रैविध्यवादे तावत् शुक्तेः प्रमाणवृत्तिग्राह्यत्वं रजतस्यतु आविद्यकवृत्तिग्राह्यत्वम् इति पार्थक्यं सम्भवति परन्तु सत्ताद्वैविध्यवादोऽपि अद्वैतिनाम् अभिमतएव. तत्र एषा प्रमाणवृत्यविद्यावृत्योः भेदप्रक्रिया न शक्यानुसरणा स्यात्. किञ्च संक्षेपशारीरककारमते शुक्त्यंशो अधिष्ठानम्— इदमंशः आधारः. सविलासाज्ञानविषयो अधिष्ठानम्—अतद्रूपोऽपि तद्रूपेण आरोप्यबुद्धौ स्फुरन् आधारः इति अङ्गीकरणाद् आधारस्यैव सामान्यज्ञानम् अपेक्षते न पुनः अधिष्ठानस्य (द्र.सि.ले.सं.१।१०९) इति अधिष्ठानसामान्यज्ञानस्य अनिर्वचनीयख्यातिवादे अनावश्यकता कण्ठोक्तैव . भगवत्पादीयाध्यासभाष्यवचनेऽपि ''नच अयम् अस्ति नियमः पुरोवस्थितविषयएव विषयान्तरम्

अध्यसितव्यम्, अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे बालाः तलमलिनतादि अध्यस्यन्ति'' (ब्र.सू.शां.भा.१।१।१) इति अधिष्ठानसामान्यज्ञानस्य अनावश्यकता प्रतिपादितैव. श्रीबालकृष्णभट्टाअपि शुक्तिसामान्यज्ञानस्य अद्वैतिनां मते अनङ्गीकारं कथयन्ति न रजतसामान्यज्ञानस्येति स्पष्टमेव. श्रीभारतीतीर्थास्तु विवरणप्रमेयसंग्रहे अख्यातिवादालोचने ''ननु 'इदं रजतम्' इत्यत्र चक्षुरादिप्रमाणाभावात् पारिशेष्यात् स्मर्यमाणमेव रजतं न पुनः तत्सदृशं... इति चेत् मैवं, पुरोवस्थितत्वेन अवभासमानत्वात्. नच इदमंशस्यैव तदवभासो न रजतस्य इति मन्तव्यम्, यथा सम्यक्स्थलेषु 'इदं रजतम्'-'अयं घटः' इत्यादिषु इतरेतरसंसृष्टौ सामान्यविशेषौ अपरोक्षौ अवभासेते तथा इहापि प्रतिभासात्... तस्माद् अपरोक्षसंवित्सद्भावादेव पुरोवर्तिरजतसत्ता अभ्युपगन्तव्या'' (वि.प्र.सं.वर्ण.१।अनु.४८) इति भ्रमस्थलेऽपि सम्यक्स्थलवद् अपरोक्षतां प्रतिपादयन्तो न सर्वथा इन्द्रियाविषयत्वं मेनिरे. यद्यपि भामतीकारेण प्रौढवादावलम्बनेन भाष्ये कृतं समाधानम् इदम् इति विवृतं तथापि सोऽयं प्रौढवादः न एतस्मिन् विषये किन्तु चिदात्मनः परोक्षताभ्युपगमएव इति सुस्पष्टम्.

(अभिनवान्यथाख्यातिवादविमर्शौचित्यचिन्तनम्)

इत्यत्र ''ननु असत्ख्यातिवादनिराचिकीर्षुणां जगत्सत्यत्ववादिनाम् अन्यख्यातिवादिनां मते किन्नाम अन्यत्वम्? यतो हि सत्यरजतस्य दर्शने यादृशो अनुभवः तादृशएव अन्यख्यातावपि वर्ततइति'' इति चेद्—

अत्र ब्रूमः : सत्यरजतस्थले रजतप्रतीतिः तावद् विषयजन्या इतितु ''निर्दोषार्थेन्द्रियसन्निकर्षः प्रत्यक्षं... स्मृत्यनुवादयोः न अप्रामाण्यं यथार्थत्वानुभवात्... न प्रमासाधनं प्रमाणं, ज्ञानव्यतिरिक्तायां प्रमायां प्रमाणाभावात्. नच अज्ञातपरिच्छित्तिरेव प्रमा इत्यत्र किञ्चिद् मानं, याथार्थ्यमेव प्रामाण्यम् इति अङ्गीकाराद्'' (प्रमा.लक्ष.) इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादानां निरूपणेन तावत् सिध्यत्येव. तेन भ्रमज्ञानं तावद् द्वैतवेदान्तेऽपि न यथार्थज्ञानम्

इत्यत्र न कश्चन विवादः.

अथ "भ्रमभातविषयणां सत्त्वं वा असत्त्वं वा?" इत्येव प्रश्नो अवशिष्यते. तत्र भ्रमततद्बाधज्ञानभास्ययोः चाक्षुषत्वासत्त्वेतु नैव समकालिके एकानुभूतिगोचरे वा भवितुम् अर्हतः. यतोहि असत्त्वं तावद् न भ्रमकालिकानुभवगोचरम् अन्यथा रजतस्य तत्र अविद्यमानत्वेन तज्ज्ञानस्य प्रमात्वापत्तेः. ततोहि "इदं रजतम्" इत्येवमादिषु निरुपाधिकेषु भ्रमेषु चाक्षुषत्वन्तु आरोप्यमाणे विषये भ्रमकालावच्छेदेनैव प्रतीयते - तदसत्त्वन्तु पुनः उत्तरत्र बाधज्ञानेनैव निश्चीयते. तस्माद् यदा चाक्षुषत्वं न तदा असत्त्वनिश्चयः यदाच पुनः असत्त्वनिश्चयः न तदा चाक्षुषत्वम्. तेन बाधोत्तरनिश्चितेन असत्त्वेन हि तथाविधभानस्य भ्रमत्वसिद्धिः. तदेतद् असत्त्वञ्च न रजतस्य स्वभावः किन्तु बाधज्ञाने सति तद्देश-तत्काल-विशिष्टे रजते भासमानं बौद्धमेव असत्त्वम्. तेन सत्यरजतस्थलेतु 'निर्दोषार्थेन्द्रियसन्निकर्षजनिता'=नाम रजतसत्त्वजनिता रजतचाक्षुषत्वप्रतीतिः भवति. भ्रमस्थलेतु इन्द्रियदोषाणां बुद्धिदोषाणां विषयदोषाणामिव अन्येषामपि उपाधिरूपाणां दोषाणां वा हेतुतया तज्जनिता अरजतदेशकालयोः रजतसत्त्वप्रतीतिः. तस्मात् "सत्यरजतस्थले यादृशो अनुभवो तादृशो भ्रमस्थलेऽपि" इत्यस्मिन् वाक्ये यादृग्-हेतुजनितो अनुभवः सत्यरजतस्थले तादृग्-हेतुजनितो भ्रमस्थलेऽपि इति अर्थस्तु स्वीकर्तुं नैव शक्यते.

अथ यादृगैन्द्रियत्वप्रकारको अनुभवः सत्यरजतस्थले तादृगैन्द्रियत्वप्रकारस्यतु अनुभवस्य स्वविषयस्वरूपनिर्धारकत्वे अभ्युपगतेतु रजतस्य सत्त्वमेव भवेत् सर्वासामपि प्रमाणां स्वतःप्रामाण्याभ्युपगमात्. बाधोज्ञानोत्तरं परतः प्रतिभातं रजतज्ञानस्य अप्रमाण्यन्तु तद्देशकालोपहितरजतासत्त्वबोधकमपि न तदनुपहितरजतासत्त्वबोधनाय अलम्. तस्मात् निर्दोषेन्द्रियसन्निकर्षेण असतो रजतस्य चाक्षुषप्रतिभासो न सम्भवतीति हेतोः इन्द्रियार्थसंनिकर्षव्यतिरिक्तहेत्वन्वेषणे क्रियमाणे रजतस्य असत्त्वं न भ्रमोत्पादकहेतुतया किमुत भ्रमत्वज्ञापकहेतुतयैव पुरतो अवतरति. एषा हि निरुपाधिकभ्रमव्यवस्था.

सोपाधिके भ्रमेतु अन्या व्यवस्था. तथाहि तत्र अधिष्ठाने न असतो धर्मिणः आरोपः किन्तु धर्मारोपएव. यथा स्फटिके जपाकुसुमलौहित्यारोपः, शुभ्रे शङ्खे पीतिमारोपः, तटस्थितेषु वृक्षेषु चलायमानत्वारोपः इत्येवम्. सोऽयम् आरोप्यमाणो धर्मो नैव असन् भवितुम् अर्हति तत्तदुपाधिषु तेषां धर्माणां सद्भावादेव. स्वधर्मिभूतोपाधिसम्बन्धेन अधिष्ठानेनापि तेषां सम्बन्धो न असन् किमुत सन्नेव अवधार्यते. तस्मादेव अधिष्ठानतत्त्वज्ञानेनापि सोपाधिकभ्रमारोपनिवृत्तिः न जायते. तत्र हेतुभूतदोषसंख्यायां विवादस्य शक्यत्वेऽपि नैकेन केवलेन अर्थदोषेण, इन्द्रियदोषेण वा, बुद्धिदोषेण वा, अपितु अन्येषामपि आगन्तुकेन उपाधिरूपेण वा भ्रमज्ञानजननं भवतीति सर्वैरपि विचारकैः अनेकेषां दोषाणां सम्भूयकारित्वरूपं कारणसामग्रीतया अभ्युपगमनीयमेव.

तत्र **"तमस्तु अज्ञानजं विद्धि"** (भग.गीता.१४।८) **"प्रमादमोहौ तमसो भवतो अज्ञानमेव च"** (भग.गीता.१४।१७) इत्येतयोः वचनयोः अज्ञानतमसोः परस्परजन्यजनकभावत्वोपगमात् **"ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तमः"** (भाग.पुरा.२।९।३३) इत्यत्र मायायाः चापि अज्ञानान्यथाज्ञानहेतुतायाः श्रावणाद् **"द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रहः संशयो अथ विपर्यासो... बुद्धेः लक्षणं वृत्तितः पृथग्"** (भाग.पुरा.३।२६।२९-३९) इति वचनात् च भ्रमभातपदार्थानां मायामोहितबुद्धिवृत्तितया अभ्युपगमो वाल्लभे वेदान्ते.

तथा अभ्युगतेतु बाधज्ञानोत्तरं निश्चीयमानं भ्रमभातविषयाणाम् असत्त्वं न तेषां स्वाभाविकं स्वरूपं किन्तु मायया आरोपितमेव, तद्देश-तत्काल-तद्भान-वैशिष्ट्यावगाह्यनुव्यवसायरूपस्मृतिविषयीभूतमिति मायायाएव अपरिहार्यतया असाधारणहेतुत्वे सिद्धे, कृतम् अन्तर्गडुना भ्रमभातविषयाणाम् असत्त्वेन इति वाल्लभो अभिप्रायः.

यत् पुनः "अन्यख्यातिवादिभिः विषयतैव रजतम् इति कथं वक्तुं

शक्यते? विषयता किं चक्षुःगोचरा भवति? तत्र रजतस्य कश्चन आकारः किञ्चन रूपं सर्वैः दृश्यते. एतत् सर्वं चक्षुषा साक्षात्क्रियते. एतत् सर्वं केवलं वृत्तिरूपम् इति वक्तुं नैव शक्येत. वृत्तेः अचाक्षुषत्वाद्'' इति आशङ्कितम्. तद् अत्र यस्मिन् अंशे द्वैतवेदान्तेन समं शुद्धाद्वैतवेदान्तस्य मतैक्यं सम्भवति तत् पूर्वं हि चिन्तनीयं चेद् भगवत्पादश्रीमदानन्दतीर्थानां तावद् भागवततात्पर्यनिरूपणे इमे अंशाः सावधानतया मननीयाएव—

''मनो बुद्धिः अहंकारः चित्तम् इति अन्तरात्मनः चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया(भा.का.)—बुद्धिः अध्यवसानाय, संशयं कुरुते मनो, अभिमानो हि अहंकारः, चित्तं स्मरणकारणम्(भा.ता.)... द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रहात् संशयो अथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च स्वाप इति उच्यते बुद्धेः लक्षणं वृत्तितः पृथग्(भा.का.)— द्रव्यस्फुरणे यद् विशेषज्ञानम्. सामान्यं मनसा जातं विशेषाद् बुद्धिजं भवेत्(भा.ता.).''

(भाग.तात्प.३।२७।१५,३१).

अत्र भगवत्पादैरपि सामान्यज्ञानस्य मनोजन्यत्वं विशेषज्ञानस्य बुद्धिजन्यत्वम् अङ्गीकृतमेव. ''इदं रजतम्'' इत्यादिभ्रमज्ञानानितु विशेषज्ञानान्येवेति नच अधिष्ठानसामान्यज्ञानं विना विशेषज्ञानोत्पत्तिरिति प्रमारूपं भवतु भ्रमरूपं वा भवतु उभेअपि बुद्धिवृत्तिरूपे स्तः इत्यत्र विवादस्तु न प्रतिभाति.

ततश्च ''विषयतैव रजतम् इति कथं वक्तुं शक्यते?'' इति प्रश्ने ''असच्च तद् रजतञ्च'' इत्यपि वक्तुं नैव शक्येत केनापि. अथ ''भ्रमानुभूतिदेशकालयोः रजतं न विद्यते'' इत्येव 'असद्रजत'पदस्य अभिप्रायः इति अङ्गीक्रियमाणेतु अन्यत्र तस्य रजतस्य सत्त्वमपि नूनं बुद्धिगोचरं भवेदेव. तस्माद् ''विषयता किं चक्षुःगोचरा भवति?'' इत्यस्य प्रश्नस्य उत्तरे विपर्यासरूपबुद्धिवृत्तौ विवादाभावादेव इन्द्रियार्थसंनिकर्षस्य च असद्रजतजननाशक्तत्वेन प्राकृततमोगुणविद्धायाः बुद्धेरेव सकाशाद् असद्रजतभा-

नजननं द्वैतवेदान्तेऽपि न अनभिमतमिव लक्ष्यते.

इह 'विषयता' नाम चाक्षुषभ्रमविषयता साच भ्रमाधिष्ठानसंसृष्टेन समनस्कचक्षुरिन्द्रियेण जायमाने ज्ञाने तदनुग्राहिकया मायामोहितबुद्ध्या बुद्ध्यननुगृहीततादृग्ज्ञानविषयतारूपैव. भ्रमभातस्य रजतस्यापि पश्चाद् निश्चीयमानम् असत्त्वं न निरुपाधिकं किन्तु तद्देशोपाधिकं तत्कालोपाधिकं विकल्पवृत्तिगोचरम् ''अत्यन्तासत्यपि हि अर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि'' इतिवद् प्रतीयते.

तस्माद् अस्मदाचार्यचरणाः निरूपयन्ति—

''यद् वस्तु स्वरूपे अन्यथा प्रतिभासते तद् आत्मनां जीवानां व्यामोहिका या माया... तस्याः कार्यम्. साहि जीवं व्यामोहयित्वा तत्सम्बन्धिनम् अन्तःकरणबुद्ध्यादिकमपि व्यामोहयति. तया व्यामोहिता बुद्धिः पदार्थान् अन्यथा मन्यते नतु पदार्थाः अन्यथा भवन्ति... मायाच द्विधा भ्रमं जनयति : विद्यमानं न प्रकाशयति; अविद्यमानं च प्रकाशयति देशकालव्यत्यासेन... भ्रान्तप्रतीतेस्तु न अर्थनियामकत्वम् अन्यथा भ्रमदृष्ट्या गृहीतं जगद् भ्रमद्रूपमेव स्यात्. अतो विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या यया दृष्टिः सविषया स्यात्. अन्यथा पदार्थानां स्थिरत्वाद् भ्रमदृष्टिः निर्विषया स्याद्. अतो अन्यत्रैव सिद्धो भ्रमिः मायया पुरःस्थिते विषये समानीयते, दृष्ट्यनुरोधित्वात् तस्याः... विषयता मायाजन्या विषयो भगवान्. मायायामेव विषयतारूपं भगवतः स्वरूपं प्रकटितं तदपि न निःस्वभावम्, आत्मशक्तित्वाद् मायापि न निःस्वभावा. चिद्विलासत्वाद् बुद्धेः; परं, तामेव व्यामोहयति, यावन्न ब्रह्मभावः.''

(भाग.सुबो.२।९।३३).

तेन इदं सिद्ध्यति यद्वत् प्रमाज्ञाने सामान्यज्ञानं मनोजन्यं विशेषज्ञानं च बुद्धिजन्यं, तद्वदेव भ्रमज्ञानेऽपि अधिष्ठानसामान्यज्ञानं मनोजन्यम् आरोप्यमाणविशेषज्ञानं बुद्धिवृत्तिरूपमेव इति. चाक्षुषत्वादिनिर्वाहस्तु समनस्केन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यं यादृक्सामान्यज्ञानं तन्नियतोत्तरभावि यद् विशेषज्ञानं तद् तादृगैन्द्रियकत्वभानोपरक्तमेव जन्यते इति प्रमाभ्रमसंशयादिज्ञानसाधारणो नियमः. तेन "तत्र रजतस्य कश्चन आकारः किञ्चन रूपं सर्वैः दृश्यते. एतत् सर्वं चक्षुषा साक्षात्क्रियते. एतत् सर्वं केवलं वृत्तिरूपम् इति वक्तुं नैव शक्येत. वृत्तेः अचाक्षुषत्वात्" इति यद् आशङ्कितं तत्समाधानमपि सुकरमेव. यतोहि उदाहतयोः भगवत्पादश्रीमदानन्दतीर्थानाम् अस्मदाचार्यचरणानां च एतद्विषयकनिरूपणयोः नातीव पार्थक्यम् उपलभ्यते.

तस्माद् यथा विष्णुतत्त्वनिर्णये "पदार्थस्वरूपत्वाद् भेदस्य. नच धर्मिप्रतियोग्यपेक्षया भेदस्य अस्वरूपत्वम्, ऐक्यवत् स्वरूपस्यैव तथात्वाद्" (विष्णुत.विनि.१) इति भेदवादसमाश्रयणादेव सर्वेषामपि वस्तूनां प्रमाज्ञानेऽपि स्वरूपतः सत्त्वं पररूपतो असत्त्वम् इति अङ्गीक्रियतएव. तथा सति रजतत्वेन असतो अधिष्ठानस्य एकम् असत्त्वम्. अपरन्तु शुक्तित्वेन वा असतो रजतस्य असत्त्वम्. तत्र पुनः तृतीयं भ्रमज्ञानविषयीभूतम् असत्त्वमपि अङ्गीक्रियते चेत् तदा सुस्पष्टएव कल्पनागौरवइति, असतः ख्यानम् आवश्यकं न भाति. शुक्तिशकलस्यापि रजतरूपेण असत्त्वात् तदेव शुक्तिगतं रजतप्रतियोगिकम् असत्त्वं भ्रमभातरजतविषयकासत्त्वभानभारं बोढुम् अलम्. ततश्च अन्यत्र अन्यस्य ख्यानमेव तद् भवतु इति अङ्गीकर्तव्यम्.

तस्माद् यदपि उक्तं "एवञ्च चाक्षुषः कश्चन पदार्थो वर्तते. सच पदार्थः किंस्वभावः इति प्रश्नः. तस्यच सत्तातु न अङ्गीक्रियतइति अत्यन्तासत्त्वम् अङ्गीकृत्यैव निर्वाहः करणीयः" इति तदपि प्रमात्मके विशेषज्ञानेऽपि चाक्षुषः पदार्थो बुद्धिगोचरएवेति भ्रमप्रमाध्यवसाययोः साधारणः प्रश्नइति तदुत्तरमपि साधारणमेव दातुं शक्येत.

तस्मात् ख्यात्यन्तप्रकारेषु अन्यख्यातेः अन्तर्भावासम्भवात् तादृशी अन्तर्भावख्यातिः न तावत् सत्ख्यातिरिति सर्वं समुपपन्नमेव.

मयाधीतं नासीत् स्वगुरुजनसन्तोषनिवहं
यतस्तत्सांनिध्ये तदिह खलु भीतिः स्खलनजा।
विचारे वा वाचि किमिह मम चापल्यमथवा
जनोऽयं क्षन्तव्यो गुरुवचनसेवारुचिरिति॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्रीपुरुषोत्तमचरणकृपाधनेन श्याममनोहरेण विरचितं ख्यातिवादीयपरिशिष्टम्
समाप्तम्



।। अवतारवादावल्यां ।।

अष्टमः

।। प्रतिबिम्बवादः ।।

(मङ्गलाचरणेन उपक्रमः)

ज्योतिस्तमालनीलं करुणाशीलं मुदा स्तौमि ।।
हरति तमोनिकुरम्बं यत्प्रतिबिम्बं स्वकीयानाम् ।।१।।[१]

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।
।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

प्रतिबिम्बप्रकाशिका
(विषमस्थलटिप्पणी)

आलम्बनविभावात्मा नेत्रयोः प्रतिबिम्बितः ।
हरति श्रीहरिर्दुःखं भक्तानां भक्तिभावितः ।।
स्थायिभावस्वरूपेण हृन्निष्ठः सन् सएव हि ।
फलात्मकतया तद्धि प्रकटीकुर्वते नमः ।।

अस्य वादस्य आद्यसंस्करणसम्पादकाः श्रीरमानाथशास्त्रिणः स्वपादटिप्पण्यां कथयन्ति "अस्य ग्रन्थस्य एकमेव पुस्तकं मुम्बईस्थ-गो.श्रीद्वारकेशमहाराजानाम् उपलब्धं, ततश्च प्रतिपुस्तकाभावाद् अशुद्धिबाहुल्यात् स्वबुद्ध्या शोधनात् च भूयान् अशुद्धो भागः ऊर्वरितः" अधुनातु मुद्रितातिरिक्तानां षण्णां प्रतिभुवां ग्रन्थानां लाभेऽपि अशुद्धिपाठभेदयोः बाहुल्यादेव यथामतिः अस्माभिः शोधितोऽपि अयं नातीव सन्तोषं मनसि जनयति. अतो ग्रन्थानुशीलनपराणां बोधसौकर्याय क्वचित्-क्वचित् विषमस्थलटिप्पणी विलिख्यते :

१.यस्य तमालनीलज्योतीरूपस्य करुणाशीलस्य भगवतः स्वकीयानां =भक्तानां नयनयोः हृदये वा प्रादुर्भूतं प्रतिबिम्बं तमोनिकुरम्बं=तमःस्तोमं हरति इति अन्वयः. सैषा प्रक्रिया श्रीमदाचार्यचरणेन शास्त्रार्थप्रकरणे विवृता "आनन्दएव ब्रह्मणि रूपस्थानीयः. तत्र शुद्धस्य सत्त्वस्य देवतारूपस्य भगवदिच्छया श्रीभगवदासनत्वेन स्फुरितस्य श्यामत्वात् तस्य प्रतिफलनेन आनन्दो नीलमेघवद् भासते इति अर्थः. यथा स्फटिको जपाकुसुमेन—श्वेतपाषाणेषु प्रविष्टोऽपि स्फटिको जपाकुसुमलौहित्यं गृह्णन् पाषाणेभ्यो वैशिष्ट्यम् आत्मानः प्रतिपादयति, तथा ब्रह्मापि जगति पुराणेषु प्रकटीभवत् तच्छ्यामत्वादि गृह्णद् ब्रह्मत्वमपि ख्यापयति इति भावः. सत्त्वरजस्तमसां नीलरक्तश्वेतरूपता इति" (त.दी.नि.प्र.१-७३) इति. एतेन स्वकीयानां नेत्रयोः पुरतो हृदये वा प्रादुर्भविष्णोः भगवतः तमालनीलज्योतिष्ट्वनिरूपणेन करुणाशीलत्वं समुपबृंहितम्.

नन्नु नयनगोलकयोः प्रतिबिम्बितत्वाभावे रूपवत्पदार्थस्य चाक्षुषप्रत्यक्षं न सम्भवति. प्रतिबिम्बस्य तमसः च मायिकत्वं ग्रन्थे अस्मिन् प्रतिपिपादयिषितम्. दृष्टस्यैव दृष्टं हि वा अनुसृत्य तद्वत्कल्पितस्य रूपवतो हृदये ध्यानधारणाभ्याम् अवस्थितिः भवति. इत्थं सर्वञ्च एतत् मायिकं चेत् तमोरूपमेव भवति न पुनः तदपहारिज्योतीरूपम् इति किं-केन सम्बद्ध्यते? तत्र ब्रूमः तद्देशकालयोः तन्नामरूपकर्मवैशिष्ट्येन आविर्भूतस्य सद्वस्तुनः आच्छादनेन असत्ताबोधकतया अथवा तद्देशकालयोः तन्नामरूपकर्मवैशिष्ट्येन अनाविर्भूतस्यापि तद्देशकालयोः तन्नामरूपकर्मवैशिष्ट्येन अन्यथाप्रतीतिजननेन मायायाः तमोरूपत्वं हि निरूप्यते. भगवतस्तु सर्वदेशकालयोः सर्वनामधारकत्वेन सर्वरूपधारकत्वेन सर्वकर्मकर्तृतया च न क्वचिदपि अनुपस्थितिः शक्यशङ्का आतश्च नेत्रयोः दर्पणे यत्र क्वापि भगवत्प्रतिबिम्बस्य मायिकत्वं नैव सम्भवति, यदि भगवानेव आसुरजनव्यामोहनार्थं नैजानि मायिकनामरूपकर्माणि प्रकटीकर्तुं नेहते चेत्. तद् उक्तं श्रीमद्भागवते "स सर्वनामा सच सर्वशक्तिः प्रसीदताम् अनिरुक्तात्मशक्तिः...यो अनुग्रहार्थं भजतां पादमूलम् अनामरूपो भगवान् अनन्तः नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभिः भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु" (भाग.पुरा.६।४।२८-३३) इति सुष्ठूक्तं हरति तमोनिकुरम्बं यत्प्रतिबिम्बं स्वकीयानाम् इति [श्या].

(बिम्बाद् अनतिरिक्तं प्रतिबिम्बम् इति मतेन आक्षेपः)

(न बिम्बादतिरिक्तं वै प्रतिबिम्बं भवेत् क्वचित्॥
तद्दर्शकाः परावृत्ताः ह्युपाधेर्नेत्ररश्मयः ॥२॥)[२]

❋ ननु एतद् अयुक्तं, प्रतिबिम्बपदार्थस्यैव अभावात्. दर्पणादिसन्निधान-दोषप्रतिहत-परावृत्तनयनकिरणस्य[पा.भे.१] स्वमुखदर्शनमात्रेण[पा.भे.२] दर्पणादौ प्रतिबिम्बाभिमानात्. नच * प्राङ्मुखादेः (पुरुषस्य) प्रत्युङ्मुखत्वादिदर्शनात् न एवम् * इति वाच्यं, दर्पणोपाधि-सन्निधान-दोषजन्यस्य ईदृशज्ञानस्य भ्रमत्वात्.

नच * बिम्बभेदानुभवात् न एवम् * इति वाच्यं, तस्यापि भ्रमत्वात्. ''दर्पणे मन्मुखं भाति'' इति स्वमुखाभेदप्रत्यभिज्ञानेन तद्बाधात्. नच * दर्पणे मुखं नास्ति[पा.भे.३] इति ज्ञानाद् अभेदज्ञानं भ्रमः * इति वाच्यं, दर्पणे मुखसंसर्गमात्रबाधेऽपि तादृग्ज्ञानसम्भवात्. नच * दर्पणाद्युपाधिभिः नयनकिरणप्रतिघातस्य[पा.भे.४] तत्परावृत्तेः च कल्पने गौरवम् * इति वाच्यम्, अतिरिक्त-प्रतिबिम्ब-कल्पनापेक्षया अस्य धर्मकल्पनस्य लघुत्वात्. नच दृष्टान्ताभावः सत्तावद्[पा.भे.५] उपपत्तेः. नच * उपाधिप्रतिहत-नयनकिरणानां परावृत्य बिम्ब[पा.भे.६]ग्राहकत्व-नियमकल्पने प्रमाणाभावः * इति वाच्यं, प्रतिबिम्बवादिनापि नयनरश्मि-परावृत्तिम् अन्तरेण दर्पणे स्वमुखप्रत्यभिज्ञायाः समर्थयितुम् अशक्यत्वात्, पूर्वम् अनुभवाभावात्. नच * नासादि-देशावच्छिन्न-पूर्वानुभवादेव संस्कारोपपत्तिः *, तावतापि नयनगोलकादिविषयक-संस्काराद्युपपत्तेः, तटविटपि-समारूढादृष्टचर-पुरुषप्रतिबिम्ब-भ्रमस्थले पूर्वानुभवस्य अशक्योपपादनत्वात्[पा.भे.७] च. एवञ्च उपाधिप्रतिहत-नयनरश्मीनां परावृत्य बिम्ब[पा.भे.८/क]ग्राहकत्वे अवश्यवक्तव्ये फलबलाद् दर्पणादि-प्रतिहतानामेव परावृत्य बिम्ब[पा.भे.८/ख]ग्राहकत्वं न शिलादिप्रतिहतानाम्. अनतिस्वच्छ-ताम्रादि-प्रतिहतानां च मलिनोपाधिसम्बन्धदोषाद् मुखसंस्थानविशेषाग्राहकत्वम्. साक्षात् सूर्यप्रेप्सूनामिव उपाधिसम्बन्धात् परावृत्तानां तेजसा

२.अत्र मूले पूर्वपक्षसंग्रहकारिका मया योजिता ग्रन्थे एकरूपतानिर्वाहाय [श्या].

अल्पप्रतिघातः. प्रतिहतपरावृत्त्या सूर्यावलोकने च साक्षात् तदवलोकनइव न अशक्तिः जलाद्युपाधिसंनिकर्षे केषाञ्चिदेव[पा.भे.९] प्रतिहतिः केषाञ्चित् च अप्रतिहत्या जलाद्यन्तःस्थ[पा.भे.१०]सिकतादिग्राहकत्वम् इति कल्पनीयम्. कार्यलिङ्गकानुमानसिद्धत्वात् च न प्रमाणाभावइति सर्वथा अतिरिक्तप्रतिबिम्बकल्पनं न साधीयः ❋ इति.

(प्रतिबिम्बस्य शुक्तिरजतसाधारण्येन भ्रमत्वम् इति मतेन आक्षेपसमाधानप्रयासः)

अत्र केचिद् ❋ चैत्रमुखाद् भेदेन तत्सदृशत्वेन पार्श्वस्थितैः स्पष्टं निरीक्ष्यमाणे दर्पणे तत्प्रतिबिम्बः ततः भिन्नएव, स्वरूपतः च मिथ्यैव शुक्तिरजतवत्. नच * दर्पणे स्वमुख-प्रत्यभिज्ञा-विरोधः *, स्पष्ट-भेद-द्वित्व-प्रत्यङ्मुखत्वादि-ज्ञानविरोधेन प्रत्यभिज्ञायाः सजातीयविषयत्वात्, ''दर्पणे मम मुखम्'' इति व्यपदेश[पा.भे.११]स्य स्वच्छायामुखे[पा.भे.१२] स्वमुखव्यपदेशवद् गौणत्वात्. नच * अभेद[पा.भे.१३]ज्ञानविरोधाद् भेदव्यपदेशस्यैव गौणत्वं * शङ्कनीयं, बालानां जिहासोपादित्सापर्यन्तस्य पुरुषान्तर-प्रतिबिम्बविषयक-भ्रमस्य अपलपितुम् अशक्यत्वात्. नच * अर्थक्रियाकारित्वं न व्यपदेशमुख्यत्वनियामकं प्रेक्षावतामपि स्वमुखविशेषपरिज्ञानाय दर्पणाद्युपाधिदर्शनाद्, अभेदज्ञानस्यापि अर्थक्रियाकारित्वाद् * इति वाच्यं, भेदेऽपि प्रतिबिम्बस्य बिम्बसमानाकारत्व-नियम[पा.भे.१४]परिज्ञानादेव उपपत्तेः. यत्तु[पा.भे.१५] * ''दर्पणे मुखं नास्ति'' इत्यत्र संसर्गमात्रस्यैव बाधो न संसर्गिणः * इति उक्तं तद् असङ्गतं, ''न इदं रजतम्'' इत्यत्रापि राजततादात्म्यमात्रस्यैव बाधापत्तेः. नच * तत्र[पा.भे.१६] इदमंशे रजतस्य तादात्म्येन अध्यस्तत्वात् ''नेदं रजतम्'' इत्यत्र तादात्म्येन रजतस्यैव बाधो न तादात्म्यमात्रस्य. इहतु मुखस्य सिद्धत्वाद् दर्पणे तत्संसर्गमात्रस्यैव अध्यासात् तन्मात्रस्यैव बाधः * इति वाच्यम्, इहापि दर्पणसंसर्गितया मुखाध्यासस्य शक्यवचनत्वात्. ''न इदं मुखम्'' इत्य(त्रा)पि तत्संसर्गितया मुखबाधस्यापि तुल्यत्वात्. नच * धर्म्यध्यासकल्पना-गौरवदोषाद् असाम्प्रतत्वम् (इह) * सम्भाव्यं, रजताभास-कल्पनागौरववद् अस्यापि प्रामाणिकत्वात्. यश्च स्वनेत्रगोलक-प्रतिबिम्बस्थले बिम्बापारोक्ष्योपाय-

कल्पनाडम्बरः, सोऽपि गुरुः दृष्टविरुद्धो[पा.भे.१७] अप्रामाणिकः च, जलादिसंसर्गे केषाञ्चिदेव प्रतिहतिः केषाञ्चित् न इत्यत्र हेतोः अनिर्वाच्यत्वाद्, जलसम्बन्धेनापि प्रतिहन्यमानानाम् अतिमृदूनां सकलनयनरश्मिप्रतिघाति-किरणसमूह-लय[पा.भे.१८]पुरस्सरं तन्मध्यगत-सौर[पा.भे.१९]मण्डल-दर्शनसामर्थ्य-स्यापि दुर्वचत्वात् च. जलसम्बन्धेनहि प्रतिहन्यमानानां शिलासम्बन्धेनापि अप्रतिघाते, प्रतिहत्य च अपरावृत्तौ[पा.भे.२०], परावृत्य च पृष्ठस्थासंसर्गे[पा.भे.२१]; संसृज्य च, तदसाक्षात्कारेऽपि हेतोः तथात्वात्[पा.भे.२२] च. नच दोषवशात् तदुपपत्तिः, दोषेणापि विशेषांश-ग्रहणमात्र-प्रतिबन्धेन[पा.भे.२३] संनिकृष्टधर्मि-ग्रहाप्रतिबन्धात्. शुक्तिरजतादौ तथा निश्चयात्. अन्यथा तत्रापि प्रतीत्यभावस्यैव आपादनात्. किञ्च अवनतमौलिना सलिलं पश्यतः सलिलप्रतिहत-नयनरश्मीनाम् ऊर्ध्वम् उत्प्लुत्य[पा.भे.२४] साक्षादिव सूर्यबिम्बग्राहकत्ववत्, तिर्यग् अनवलोकयतः ऋजुचक्षुषा दर्पणा(व)लोकने तत्प्रतिहतरश्मीनां चक्षुर्विक्षेपम् अन्तरेणापि उपाधिप्रतिहतानां पृष्ठभागव्यवहित[पा.भे.२५]-ग्राहकत्वमपि दुर्वारम्, उपाधिप्रतिहत-नयनरश्मीनां प्रतिकूलतया परावृत्तिनियमं[पा.भे.२६] विहाय यत्रैव बिम्बं तत्रैव गमनोपगमात्. तथा मलिनदर्पणे गौरस्यापि श्यामतया भानाद् विद्यमानस्यापि बिम्बगत-गौररूपस्य वा चाक्षुषज्ञानानुपयोगितया पीतशङ्खभ्रमन्या-येन आरोप्य-रूप-वैशिष्ट्येन[पा.भे.२७] बिम्बमुखस्य चाक्षुषत्वनिर्वाहइति नीरूपस्यापि श्यामत्ववैशिष्ट्येन[पा.भे.२८] चाक्षुषप्रतिबिम्ब-भ्रमविषयत्वं दुर्वारम्. स्वतः नीरूपस्यापि नभसो अध्यस्त-नैल्य-वैशिष्ट्येन[पा.भे.२९] चाक्षुषत्वसम्प्रतिप-त्तेः. तस्मात् स्वरूपतः प्रतिमुखाध्यासएव श्रेयान् ❊ इति आहुः.

(प्रतिबिम्बस्वरूपविषये सिद्धान्तः)

अत्र उच्यते-

तत्त्वन्तु प्रतिबिम्बोऽस्ति शब्दात् प्रत्ययतस्तथा ॥
विलक्षणत्वाद् भिन्नोयम् अन्येभ्यो मायिकत्वतः ॥३॥[3]

३. ❊ननु अत्र प्रतिबिम्बस्य तत्त्वान्तरत्वं मायिकत्वं च यद् उच्यते ततु इतरेतरविरुद्धतया असम्बद्धप्रलपितमिव आभाति❊ इति चेत्, न, ब्रह्मवादीयायाः

प्रक्रियायाः अनवबोधादेव एवम् आभातुम् अर्हति नतु तद्बोधात्. तथाहि 'तत्त्वान्तरत्वं' न तावद् इह सच्चिदानन्दांशिनो ब्रह्मणः सच्चिदानन्दात्मकनामरूपकर्मणां प्राकट्याभिप्रायेण नवा तत्सदंशोपादानकत्वाभिप्रायेण किमुत तच्छक्त्या व्यामोहकमायया प्रकटितनामरूपकर्मणां सद्वस्त्वधिष्ठानकत्वाभिप्रायेणैव. तद् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणेन "**नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः**" (त.दी.नि.१।१) इत्यस्याः कारिकायाः स्वोपज्ञे प्रकाशे "[१]**रूपनामविभेदेन यः क्रीडति, [२]रूपनामविभेदेन यो जगत् (भूत्वा क्रीडति), [३]रूपनामविभेदेन यतो जगत् (क्रीडति)**" (तत्रैव)इति भगवतो लीलायां त्रैविध्यम् एकत्र [१]सच्चिदानन्दांशिस्वरूपेण, [२]अपरत्र स्वसदंशमेव उपादानीकृत्य, [३]इतरत्रतु अंशिनि सच्चिदानन्दस्वरूपे वा स्वांशभूते तादृक्सद्रूपाधिष्ठाने रूपनामकर्मसु स्वस्य धर्मितया वा उपादानतया अनन्वितत्वेऽपि अधिष्ठानतया मिथ्यान्वयप्रदर्शनेन.

❊ननु "**अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं मायिकन्तु ततो द्वयम्**" इत्युक्तेः सर्वेषामपि नामरूपकर्मणां मायिकत्वमेव कुतो न अङ्गीक्रियते?❊ इति चेत् न, अस्तिभातिप्रियत्वादीनामपि मिथो द्वैते ब्रह्मणि स्वगतद्वैतापत्त्या ब्रह्माद्वैतहानेः, अद्वैतेतु तद्वदेव नामरूपकर्मणामपि स्वरूपतो अभिन्नत्वेऽपि भिन्नवत्प्रतीतेः सूपपाद्यत्वात्. एवं हि "**तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत**"-"**त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... सर्वाणि रूपाणि... सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तद् एतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम्**" (बृह.उप.१।४।७-१।६।३) इत्येवमाद्याः श्रुतयोऽपि अकुण्ठितप्रामाण्यं समावहेरन्. अन्यथा बाधितार्थाएव भवेयुरिति.

नच ❊एवं सति श्रुतिप्रामाण्यरक्षणायैव न केषाञ्चिदपि नामरूपकर्मणां मायिकत्वं वक्तव्यम्❊ इति वाच्यं, भावानवबोधात्. तथाहि "**ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तमः**"-"**छायाप्रत्ययवाह्यवाभासाः असन्तोऽपि अर्थकारिणः**" (भाग.पुरा.२।

(शास्त्रवचनाद् अतिरिक्तप्रतिबिम्बत्वोपपत्तिः)

"स किन्नरान् किम्पुरुषान् प्रत्यात्म्येन असृजत् प्रभुः, मानयन् आत्मना आत्मानम् आत्माभासं विलोकयन्. तेतु तज्जगृहू रूपं त्यक्तं यत् परमेष्ठिना मिथुनीभूय गायन्तः तमेव उषसि कर्मभिः" (भाग.पुरा.३।२०।४५-५६) इति तृतीयस्कन्धे सृष्टिप्रकरणे प्रत्यात्म्येन(पा.भे.३०) सृष्टिः उक्ता. 'प्रत्यात्म'शब्दः च 'प्रतेः' वीप्सायां सादृश्ये वा वर्तमानत्वे निष्पन्नः. वीप्साच अत्र आत्माभासावलोकनादेव. आभासश्च अत्र प्रतिबिम्बएव, अङ्गुल्यादिसम्पर्केण चन्द्राद्याभासवद् आत्माभासावलोकनस्य अशक्यवचनत्वात्. तथा सति

९।३३-११।२८।५) इत्येवमादिवचनैः प्रतिबिम्बप्रतिध्वन्याभासतमसां कण्ठतएव असत्त्वेऽपि अर्थक्रियाकारित्वोपगमात् कानिचिद् नामरूपकर्माणि असद्रूपाण्यपि शब्दप्रामाण्यवादिभिः स्वीकर्तव्यान्येव भवन्ति, वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्था इति नियमानुरोधात्.

तस्मात् केषाञ्चिद् नामरूपकर्मणां ब्रह्मणो अंशिभूतसच्चिदानन्दधर्मिकत्वं, केषाञ्चित्तु ब्रह्मणो अंशभूतसद्रूपोपादानकत्वं केषाञ्चित् पुनः ब्रह्मणो अंशभूतसद्रूपाधिष्ठानकत्वम् इति साम्प्रतमेव. तस्माद् अमायिकात् स्वबिम्बात् मायिकत्वेन प्रतिबिम्बस्य व्यतिरिक्तत्वं प्रतीतिगोचरत्वम् अर्थक्रियाकारित्वं च यथाश्रुतमेव अङ्गीकरणीयम्.

एतावान् परं विशेषो यत् क्वचित् बुद्धिगोचरीकृतानां मायिकानां नामरूपकर्मणां यत्र निरुपाधिकान्यख्यातिगोचरत्वं तत्र तद्देशकालयोः तत्स्वरूपात्मना अनाविर्भूतत्वाद् धर्मधर्मिणोः उभयोरपि "असत्त्वे सति अर्थक्रियाकारित्वं"रूपं मायिकत्वम्. यत्रतु नामरूपकर्मणाम् औपाधिकान्यख्यातिगोचरत्वं तत्र उपाध्युपहितभूतयोः द्वयोरपि व्यस्तयोः सदुपादानकत्वाविशेषेण सतोरपि परस्परसंनिकृष्टत्वेन समस्यमानयोरेव मिथ्याधर्मधर्म्यवभासकत्वं तदनुरूपार्थक्रियाकारित्वं च मायिकमेव. तत्र अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानवतां कृतेतु तद् औपाधिकान्यथाज्ञानरूपतया अङ्गीकरणीयं, तादृग्ज्ञानविरहवतान्तु कृते औपाधिकभ्रमतया इति विवेकः. प्रतिबिम्बतमसोः उभयोरपि तस्माद् उभयविधज्ञानगोचरता अङ्गीकरणीयैवेति सर्वं समञ्जसमेव(श्या).

मुखाद्यभानात् सादृश्यार्थकत्वेऽपि पदार्थान्तरम् अन्तरेण तस्य अशक्यवचनत्वात् च. अतः 'प्रत्यात्म'पदेन प्रतिबिम्बसिद्धिः, उत्तरार्धे 'आत्माभासावलोक'कथनात् च. अनतिरेके 'आभास'पदवैयर्थ्यापत्तेः, "आत्मानम् अवलोकयन्" इति आ(प्रयोगा!)पत्तेश्च. अग्रिमश्लोके रूपत्यागकथनात् तत्प्रयुक्तमिथुनीभावस्य व्याख्यानात् च. एवं "यथा जलस्थः आभासः स्थलस्थेन अवगृह्यते स्वाभासेन तथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः(पा.भे.३१)" (भाग.पुरा.३।२७।१२) इत्यादावपि स्थलस्थत्व-जलस्थत्वादि-कथनात् 'स्वाभास'पदात् च, "प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः" (भाग.पुरा.७।९।११) इत्यादौ भेदनिर्देशात् च, छायादानविधानात्(पा.भे.३२) च. तस्माद् अतिरिक्तएव बिम्बात् प्रतिबिम्बः.

(लोकप्रतीतितः परैः उपपादिते पार्थक्ये कश्चन विशेषः)

प्रतीतितस्तु तत्सिद्धिः परैरेवोपपादिता ॥
सापि न्याय्या युक्तिमत्त्वाद् नाधिकोऽतस्तदुद्यमः ॥४॥
किञ्चादर्शविशेषेऽपि चातुर्येण विनिर्मिते ॥
प्रत्यस्रं स्वमुखं भाति तत्रोक्तोपायकुण्ठता(पा.भे.३३) ॥५॥
यतोऽस्रेभ्यः प्रतिहताः परावृत्य दृगंशवः ॥
संसृष्टः स्वमुखेनैकम् ईक्षेरन् न बहूनि(पा.भे.३४) तु[4] ॥६॥

नच नेत्रगोलकानुभवाद्यनुपपत्तिः, आवरणशक्त्या तमसइव विक्षेपशक्त्या तादृग्गोलकादि-युक्तमुखस्य मूलशक्त्या मायया तत्र उत्पादनात् स्वकीयत्वाभिमानस्तु उष्णीष(पा.भे.३५)-कुण्डल-केशादीनां स्वानुभूतानां साहचर्यदर्शनादेव उपपन्नः. किञ्च इतरेतरसम्मुखयोः मुकुरयोः अन्तरन्तः मुकुरानवस्था, सर्वान्तःस्थे च मुकुरे मुखादेः प्रतिबिम्बो दृश्यते. तत्र प्रतिहति-परावृत्योः मुखप्रतीतेः

४.किञ्च चातुर्येण विनिर्मिते आदर्शविशेषे स्वमुखं प्रत्यस्रं भाति. तत्र=तादृग्भाने **उक्तोपायकुण्ठता=उक्तस्य** दर्पणोपाधौ पराहत्य परावर्तनरूपेण **उपायेन** नयनरश्मीनां प्रतिबिम्बग्राहित्वस्य **कुण्ठतायाः** ध्रौव्यं, यतो अस्रेभ्यः प्रतिहताः दृगंशवः परावृत्य स्वमुखेन संसृष्टाः **एकं**=मुखम् ईक्षेरन् नतु **बहूनि**=मुखानि इति अन्वयार्थौ(श्या).

च अतिदुर्घटत्वं[पा.भे.३६], दर्पणद्वयातिरिक्तस्य प्रतिघातकस्य अभावात्. एकतः प्रतिहत्य परावृत्य पुनः अन्यतः प्रतिहत्य परावर्तनेऽपि, तयोः पुनः-पुनः प्रतिघातकत्वस्य दुर्वचत्वेन, तदादर्शद्वयातिरिक्तस्य[५] प्रतिघातकस्य च अभावेन, दर्पणद्वयातिरिक्तानां दर्पणानां तदन्तस्थमुखस्य च[पा.भे.३७] यद् दर्शनं, तस्य प्रतिबिम्बम् अन्तरेण सर्वथैव दुरुपपादत्वात्. किञ्च आदर्शोपरि केशादिस्थापने मुखं तावता विभक्तं दृश्यते. पराहतौ तत्सर्वथैव अनुपपन्नं, मुखे व्यवधानाभावेन परावृत्तानाम् अविभक्तग्रहस्य अनिवार्यत्वात्[पा.भे.३८]. नच * केशादि-प्रतिहत-रश्मीनाम् अग्राहकत्वात् न अनुपपत्तिः * इति वाच्यं, तथा सति हस्तादिना मुद्रितैकनयनस्यापि तथा अर्धमुखदर्शनप्रसङ्गात्[पा.भे.३९]. कतिपय-रश्म्यप्रतिघात-तदितरप्रतिघातयोः[पा.भे.४०] तुल्यत्वेन शिष्टैः तथाग्रहस्यापि तुल्यत्वात् कतिपयरश्मीनाम् अग्राहकत्वस्य अत्रा[पा.भे.४१]पि तौल्यात्. तावतामेव पूर्णग्राहकत्वकल्पने च अर्द्धस्य मुखस्य दर्पणसाम्मुख्ये पूर्णमुखदर्शनप्रसङ्गात. किञ्च[पा.भे.४२] शलाका-व्यवहित-स्थाल्युदके खण्डित-मुखावलोकनोत्तरं शलाकायाः तदुदकान्तस्तलभागे प्रवेशने मुखम् अखण्डितम् अवलोक्यते; शलाका च अन्तःसिकतादिवत्. तेन अन्तर्जलं मध्यदेशे प्रतिबिम्बोद्भवः इति निश्चीयते. परावृत्य ग्रहणेतु तत् न स्यात्. किम्बहुना पराक्षिणि स्वप्रतिबिम्बदर्शनात् स्वाक्षण्यपि तथैव इति निश्चयात्, प्रतिबिम्बोत्तरमेव सर्वस्य चक्षुर्गोचरीभाव इत्यपि सुधीभिः अवधेयम्.

(प्रतिबिम्बस्य तत्त्वान्तरत्वेऽपि मायिकत्वेन भ्रमविषयत्वाद् भ्रमलक्षणोपपत्तिः)

नच प्रतिबिम्बस्य[पा.भे.४३] अङ्गीकारे तद्भानस्य अध्यस्तत्वानुपपत्तिः तस्य भ्रमपर्यायत्वात्, लक्षणस्यतु अव्याप्तिग्रस्तत्वेन उपेक्षणीयत्वात्. नच लक्षणाभावे प्रतिबिम्बज्ञानस्य प्रमात्वापत्तिः, *मायिकेतर-विषयाजन्यत्वे*[पा.भे.४४] *सति मायिकविषय-जन्यज्ञानत्वस्य* भ्रमत्वात्. नच * तमस्स्थस्य बहिष्ठादर्शे प्रतिबिम्बादर्शनाद् बहिष्ठपुरुषस्य तमःस्थादर्शे प्रतिबिम्बदर्शनात् परावृत्तिरपि युक्तिसहा * इति वाच्यं, तेजोभावे मायया तमोजननात्. तेन बिम्बावरणे

५.तत् च आदर्शद्वयं च तदादर्शद्वयं तस्माद् अतिरिक्तः तदादर्शद्वयातिरिक्तः तस्य इति अर्थः[व्या].

प्रतिबिम्बानुद्भवाद् दर्शनाभावसिद्धौ आलोकवर्तिबिम्बस्य आन्तरालिकतमसा अनावरणात्[पा.भे.४५] तदुद्भवे अज्ञानस्य विक्षेपानुकूलत्वात्. तमसोऽपि तदनुकूलत्वेन दर्शनस्य च सिद्धौ परावृत्ति[पा.भे.४६]युक्तेः बाधितत्वात्. अतः प्रतीतितोऽपि उचितैव[पा.भे.४७] प्रतिबिम्बसिद्धिः. नच * आदर्शादिप्रतिहत-सूर्यरश्मीनां परावृत्तिदर्शनात् चक्षुरिन्द्रियस्यापि तैजसत्वेन तद्रश्मिपरावृत्तिरपि उचितैव * इति वाच्यम्, इन्द्रियमात्रस्य राजसाहंकारकार्यत्वेन चक्षुषो अतैजसत्वात्. तैजसत्वपक्षेऽपि प्रौढत्वाभावेन परावृत्त्यभावात्. अन्यथा तैजस-त्रसरेण्वादि-रश्मेरपि परावृत्तिकल्पनाप्रसङ्गात्, पूर्वोक्तदूषणापत्तेः च इति दिक्.

(प्रतिबिम्बसत्यत्वमतनिरसनम्)

केचित्तु * दर्पणादिषु प्रतिबिम्बं मुखच्छायाविशेष-रूपत्वात् सत्यम् * इति आहुः, तत् न, ''छायाप्रत्याह्वयाभासाः असन्तोऽपि अर्थकारिणः'' (भाग.पुरा.११।२८।५) इति एकादशस्कन्धे तस्य असत्यत्वकथनात्. नच * घृते प्रतिबिम्बम् अवलोक्य दाने छायादानव्यपदेशात् प्रतिबिम्बोऽपि छायैव * इति शङ्क्यं, कान्तिम् आदाय तथा व्यपदेशात्. अन्यथा पूर्वोक्तवाक्यस्थ[पा.भे.४८]-भेदनिर्देशविरोधात्. नच * अत्र अङ्गुल्यादि-सम्पर्कजाभासः विवक्षितः * इति वाच्यम्, 'अर्थकारित्व'लिङ्गविरोधात्. तेन कस्यापि अर्थस्य अभावात्.

(प्रतिबिम्बस्य न छायारूपत्वम् इति मतस्य निरासः)

इतरेतु * प्रतिबिम्बस्य छायारूपत्वम् अयुक्तं, शरीरावयवैः कियद्देशवर्तिनि आलोके निरुद्धे, तत्र देशे लब्धात्मकस्य[पा.भे.४९] तमसएव छायात्वात्. तस्यच नीलरूपत्वेन मौक्तिक-माणिक्यादि-प्रतिबिम्बस्य सित-लोहित-रूपवतः[पा.भे.५०] तमोरूपच्छायात्वस्य अयुक्तत्वात्. तमोरूपच्छायारहितस्य तपनादिप्रतिबिम्बस्य तादृक्छायात्वायोगात् च * इति आहुः, तदपि असङ्गतं, 'छाया'पदस्य कान्तावपि रूढत्वात् तां विहाय तमोरूपच्छायात्वस्य चक्षुष्मता वक्तुम् अशक्यत्वेन तमोरूपत्वम् आदाय दूषणस्यापि अयुक्तत्वात्.

सत्यत्वदूषणन्तु युक्तम्, इषीकाद्वयमात्रस्थूले निबिडावयवे आदर्शादौ एतावत्स्थूलस्य मुखादेः निम्नोन्नतस्य स्थातुम् अवाक्यत्वात्. यदा यत्र एकेन प्रतिबिम्बो दृश्यते तदैव तद्देशावच्छेदेन अन्यैः न दृश्यते इतोऽपि सत्यत्वस्य अशक्यवचनत्वात् च. द्रव्यत्वोद्भावनमपि छायायाः कान्तिरूपत्वादेव निरस्तम्. आरम्भकपरिणामिनः तदुत्पत्तिनाशादेरपि निर्वक्तुम् अशक्यत्वात् च. नच * ''स किंन्नरान्...'' (भाग.पुरा.३।२०।४५) इति स्मृतौ प्रतिबिम्बेन सृष्टिकथनात् तस्य सत्यत्वं * शङ्क्यं प्रतिबिम्बस्य व्यापारतायाएव तत्र विवक्षितत्वात्, स्वस्यैव उपादानत्वात्, प्रकरणेन तथा निश्चयात्, तृतीयायाः(पा.भे.५१) च हेतावपि अनुशासनात् च. तेन रूपात्मकत्वं गुणसमुदायरूपत्वं च तथा. आदर्शादौ तादृग्रूपाभावाद् द्रव्यान्तरं(पा.भे.५२) केवलानां रूपादीनाम् अशक्यवचनत्वात् च. तस्मात् मायिकएव सः सर्वविलक्षणत्वात् च.

(प्रतिबिम्बलक्षणम्)

तथाहि : *''स्वाधारस्वभावानुविधायित्वे सति स्वसम्मुखस्थितानुविधायित्वेन प्रतीतियोग्यो हि प्रतिबिम्बः''.*

अत्र(पा.भे.५३) *'स्व'* इति पदेन प्रतिबिम्बो विवक्षितः. *'स्वभाव'*इति तादृशो धर्मो. *'अनुविधायित्वम्'* इति समानधर्मकत्वम्. *'सम्मुख'*इति अनुविधानानुकूलो देशः. तथाच *स्वः*=प्रतिबिम्बः *तदाधारः*=दर्पणजलादिः *तत्स्वभावः*=स्वच्छत्व-मालिन्यादिः *तदनुविधायित्वे सति सम्मुखस्थितो यो अर्थो*=मुखसूर्यादिः *तदनुविधायित्वेन प्रतीतियोग्यो*ऽयः सः प्रतिबिम्बः इति अर्थः. अस्तिच एवंरूपत्वं मुखादिप्रतिबिम्बइति लक्षणसमन्वयः.

नहि ईदृशत्वम् अन्यस्मिन् अस्ति. सत्यन्तरूपतायाः स्फटिकादौ द्वितीयदलोक्तरूपतायाः च छायाचित्रादौ(पा.भे.५४) सम्भवेऽपि समुदितरूपस्य क्वापि अभावात्. * ननु(पा.भे.५५) एवमपि शोणवसनास्थापित-स्फटिकप्रतिमायाम् अतिव्याप्तिः * इति चेत्, मैवं *''तथात्वेन प्रतीतियोग्यत्वम्''*इत्यत्र *''तथात्वेनैव प्रतीतियोग्यत्वस्य''* विवक्षितत्वेन तदारणात्. नच असम्भवः, तस्यैव

प्रतिबिम्बत्वेन रूपान्तरत्वाभावाद् इति, नच(पा.भे.५६) *'स्व'*पदम् अनर्थकं, यत्किञ्चिदाधेयतानिरूपिताधारतायाः शोणभूम्यादिष्वपि सम्भवेन तत्स्वभावानुविधायित्वस्य च छायायां सत्त्वेन पुनः तत्र अतिव्याप्तेः. नच आत्माश्रयः, प्रतिबिम्बस्य प्रत्यक्षतः गृह्यमाणत्वाद्. नापि *'आधार'*पदं तथा, असम्भवग्रासात्. स्वस्वभावानुविधानाङ्गीकारस्य अनुभवविरुद्धत्वात्, ''स्वस्वभावम् अनुविदधाति'' इति प्रयोगादर्शनात्. ग्रहिलतया अङ्गीकारेऽपि छायायाम् अतिव्याप्तेः तादवस्थ्यात्. नच * आधारत्वनियामकसम्बन्धे विवक्षिते पूर्वदलस्य न अतिव्यापकत्वम् * इति शङ्क्यं, तदापि तन्त्वादिषु अतिव्याप्तेः. आदर्शादौ प्रतिबिम्बाधारत्वस्य विशेष्यतासम्बन्धनियतत्वात्(पा.भे.५७) प्रतिबिम्बे तादृशाधारस्वभावानुविधायित्ववत् ''पटे तन्तवः'' इत्यादिप्रतीतेः(पा.भे.५८), पटादावपि तन्त्वाद्याधारत्वस्य(पा.भे.५९) तथात्वेन तत्स्वभावस्य प्रावरकत्वादिरूपस्य तन्तवादिभिः अनुविधानेन तेषु अतिव्याप्तेः. नापि 'योग्य'पदं तथा, अप्रतीत-प्रतिबिम्बे अव्याप्तेः. अतः सर्वं सुष्ठु.

(मतान्तरीय-प्रतिबिम्बलक्षण-निरसनम्)

केचित्तु * तदधीनत्वे सति तत्सदृशत्वं प्रतिबिम्बत्वम् * इति आहुः, तत् न, छायायाम् अतिव्याप्तेः. नच * तदधीनप्रतीतिकत्वे सति तथात्वे विवक्षिते न दोषः * इति वाच्यम्, आभासे अतिव्याप्तेः(पा.भे.६०). तस्मात् पूर्वोक्तमेव लक्षणम्.

(निष्कर्षः)

अतः पदार्थान्तरमेव प्रतिबिम्बः. मायिकत्वञ्च अस्य **''यथा आभासो यथा तमः**[६]**''** (भाग.पुरा.२।९।३३) इति द्वितीयस्कन्धीय-भगवद्वाक्यादेव सिद्धम्. तस्मात् न कोऽपि चोद्यावसरः.

---

६. * ननु यत्र मुखस्य दक्षिणपश्चिमदिशातो आगच्छता स्वल्पतमेन प्रकाशरश्मिना संयोगः तत्र दर्पणगतप्रतिबिम्बनासिकायाः दक्षिणभागे छायायाः तमसो वापि प्रतिबिम्बो अनुभूयते. तत्र प्रतिबिम्बलक्षणे यत् पूर्वदलनिर्दिष्टं

श्री(पा.भे.६१)विट्ठलेशकृपया तत्वदीपप्रकाशतः ।।
प्रतिविम्बं निश्चितवान् तद्दासः पुरुषोत्तमः ।।७।।

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतान-श्रीपीताम्बरतनुज-पुरुषोत्तमकृतो
अष्टमः प्रतिविम्बवादः
सम्पूर्णः

'स्वाधारस्वाभावानुविधायित्वं' प्रतिपित्सितव्यम् आहोस्विद् उत्तरदलनिर्दिष्टं 'स्वसम्मुखस्थितानुविधायित्वं' वा ? * तत्र न आद्यं, स्वाधारभूतदर्पणस्य प्रकाशरश्मिसंयोगाभावादेव तदनुविधायित्वस्यापि अशक्यवचनत्वेन तत्र मायिकच्छायानिर्मितेरपि असम्भवात्. न द्वितीयं, स्वसम्मुखावस्थितनासिकाच्छायायाअपि मायिकत्वस्य आवश्यकत्वेन तत्र दक्षिणनेत्राधो अविद्यमानत्वादेव न तदनुविधायित्वमपि सम्भवदुक्तिकम् * इति चेत्, न, दक्षिणनेत्राधोभागे नासिकायाः दक्षिणपार्श्वे नासिकाकृतेन प्रकाशरश्म्यवरोधेन मायिकस्य ईषच्छायाविशिष्टस्य बिम्बमुखस्य विद्यमानत्वादेव न असमञ्जसं किञ्चित्.

सम्पृष्टो ह्ययं वादः पाठभेदविशोधने।
टिप्पण्यां जटितः कच्चिद् बिम्बोद्भासित्वमाप्नुयाद्।।

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्रीपुरुषोत्तमचरणकृपाधनेन श्याममनोहरेण
विरचिता 'प्रतिबिम्बप्रकाशिका'ख्या विषमस्थलटिप्पणी
समाप्ता

पाठभेदावली

१.'नयनकिरण'इति घ पाठः 'नायनकिरण' इति मु.पा. २.'मुखदर्शनमात्रेण' च पाठः. ३.''नच दर्पणे मन्मुखं नास्ति'' इति मुद्रितः पाठः. ४.'प्रतिहतस्य' इति मु.पा. 'प्रतिघातस्य' इति च-छ पाठयोः. ५.'लतावद्' इति मु.पा. 'सत्तावद्' इति ग. ६.'परावृत्तप्रतिबिम्ब' इति मु.पा. 'परावृत्य बिम्ब...' इति च-छ पाठयोः. ७.'अशक्योपादानत्वाच्च' इति मु.पा. ''अशक्योपपादनत्वात् च'' इति

च-छ पाठयोः. ८/क-ख.'परावृत्तप्रतिबिम्ब' इति मु.पा. ''परावृत्य बिम्बाग्रा...''इति च-छ पाठयोः. ९.'केषाञ्चिद् अवहतिः' इति मु.पा. ''केषाञ्चिदेव प्रतिहतिः'' इति च-छ पाठयोः. १०.'जलाघातस्य' इति मु.पा. 'जलाद्यन्तःस्थ' इति च-छ पाठयोः. ११.'' 'दर्पणे मम मुखम्' इति व्यपदेश'' इत्यस्माद् अनन्तरं ''आदिभेदज्ञानास्यापि अर्थक्रियाकारित्वाद्'' इत्यंशः पंक्त्यन्तःश्लिष्टः उपलभ्यते किन्तु नैकस्यामपि अस्मत्संगृहीतायां मातृकायां दृष्टिगोचरो अभवद् नापि आवश्यको भातीति उपेक्षितः. १२.'स्वच्छायाभ्रमे' इति घ-च पाठयोः. १३.''नच भेदज्ञान...'' इति मु.पा. ''नच अभेदज्ञान...'' ग-च पाठयोः. १४.'...त्वानियम...' इति मु.पा. १५.'यस्तु' इति घ पाठः. १६.''नच अत्र'' इति मु.पा. ''नच तत्र'' इति च-छ पाठयोः. १७.''गुरुः दृष्टविरोधो'' इति मु.पा. ''गुरुः दृष्टविरुद्धः'' इति च-छ पाठयोः. १८.'समूहजय' इति मु.पा. 'समूहलय' इति घ. १९.'तन्मध्यगतस्यैव' इति मु.पा. 'तन्मध्यगतसौर...'' इति च-छ पाठयोः. २०.'अपरावृत्तेः' इति मु.पा. 'अपरावृत्तौ' इति च-छ. २१.'पृष्टस्यासंसर्गे' इति मु.-ग पाठयोः 'पृष्ठस्थासंसर्गे' ख-घ-ङ-च-छ पाठेषु, ग पाठे केनचित् 'पृष्ठस्या...' इत्यत्र संशोधनं 'दृष्टस्या...' इति. २२.''हेतोः असाधारणत्वात् च'' इति घ. २३.'प्रतिबन्धने' मु.पा. 'प्रतिबन्धेन' इति च-छ. २४.'प्रतिहतनयनरश्मीनाम्' इत्यारभ्य 'गमनोपागमाद्' इत्यन्तः सर्वोऽपि पाठस्तु अशुद्धिबहुलएव. तत्र 'मुद्धतमुतहम्य' इति मु.पा. 'ऊर्द्ध्वम् उत्प्लुत्य' इति च-छ. २५. 'प्रष्टाभाव्यवहित' इति मु.पा. 'पृष्ठभागव्यवस्थित' इति घ. २६.'परावृत्तिनियमम्' इति ग पाठानुरोधात् शेषेषु 'निवृत्तिनियमम्' इति. २७.'आरोप्यरूपनैषिध्येनैव' इत्यत्र 'नैपिध्येनैव' इति मु.पा. अशुद्धः. २८.''श्यामलवैशद्येन'' इति मु.पा. 'श्यामत्ववैशिष्ट्येन' इति च-छ. २९.''नभसो अध्यस्तनैल्यवैशद्येन'' इति मु.पा. 'श्यामत्ववैशिष्ट्येन' इति च-छ. ३०'प्रत्यात्मेन' इति मु.पा. ३१.''दिवि स्थितम्'' मु.पा. ३२.''छायादानविधानात् च'' इति ख-ग पाठयोः नास्ति. ३३.'तत्रोक्तोपयिकम्' इति मु.पा. ३४.'स्वमुखे...अवदूनिते' इति मु.पा. ३५.'सूर्णीप' इति मु.पा. ३६.'दुर्घटत्वाद्' इति मु.पा. ३७.''तदन्तस्थमुखस्य च'' इत्यत्र मु.पाठे. 'च'कारो नास्ति. ३८.''परावृत्तानाम् अविभक्तग्रहस्य अनिचायाद्'' इति मु.पा. ३९.''तथा दर्शनप्रसङ्गाद्'' इति ख-घ पाठयोः. ४०.''कतिपयरश्म्यप्रतिघातेतरतत्प्रतिघातयोः

पाठयोः उपलभ्यते. ४१.'अत्र' इति मु.पाठे नास्ति. ४२.'किञ्च' इति मु.पाठे नास्ति. ४३. ''नच अप्रतिबिम्बस्य अङ्गीकारे'' इति मु.पा. ४४.''मायिकेतरविषयाजन्यत्वे संशये अतिव्याप्तिवारणाय पूर्वं सति मायिकविषयजन्यज्ञानस्य भ्रमत्वाद्'' इति मु.पा. ''संशयवारणाय प्रथमं दलम्'' इति घ-च पाठयोः ''संशये अतिव्याप्तिवारणाय'' इति मु.पा. ४५.'अनावरणान्त' इति मु.पा. ४६.'परावृत्तिः' इति मु.पा. ४७.''उचितएव'' इति ख-ग-घ-च पाठेषु. ४८.'वाक्यस्य' इति मु.पा. ४९.'छायात्मकस्य' इति मु.पा. ५०.''सितलोहितरूपवतः तमोरूप...'' इति ख-ग-च पाठानुरोधात् मु.पा. ''सितलोहितरूपवत्तमोरूपच्छायात्वस्य' इति व्यर्थपदघटितः. ५१.''तार्तीयायाः च'' इति मु.पा. ५२.''तादृग्रूपाभावाद् वत्यान्तरम्'' इति अशुद्धएव. ५३.''अत्र... लक्षणसमुच्चयः'' इत्यन्ता फक्किका ङ-च पाठयोरेव उपलभ्यते नान्यत्र. ५४.'छायाचित्रादौ' इति ङ-च पाठानुरोधात् 'छायादौ' इति मु.पा. ५५.''ननु एवमपि शोणवसनास्थापित-स्फटिकप्रतिमायाम् अतिव्याप्तिः इति चेत् तथात्वेन प्रतीतियोग्यत्वम् इत्यत्र 'तथात्वेनैव प्रतीतियोग्यत्वस्य' विवक्षितत्वेन तदादरणात् नच असम्भवः, तस्यैव प्रतिबिम्बत्वेन रूपान्तरत्वाभावाद्'' इति फक्किका ङ-च पाठानुरोधात्. ५६.''नच 'स्व'पदम् अनर्थकं यत्किञ्चिदाधेयतानिरूपिताधारतायाः सन्मुखस्थितार्थेऽपि सत्त्वेन'' इति मु.पा. ५७'विशेष्यताविशेषनियतत्वाद्' इति ङ-च पाठयोः 'विशेष्यतासम्बन्धः' इति क-ख-ग पाठेषु. ५८.'तन्त्वन्तराद्' इति मु.पा. ५९.'तन्त्वाद्याकारत्वस्य' इति मु.पा. ६०.''आभासेऽपि अतिव्याप्तेः'' इति ख-ग-ङ-च पाठेषु. ६१.''इति विठ्ठलेश...'' इति मु.पा. 'श्रीविठ्ठलेश...' इति ख-ग-ङ-च पाठेषु.



।। अ व ता र वा दा व ल्यां ।।

नवमो

।। अन्धकारवादः ।।

(मङ्गलाचरणेन उपक्रमः)

दर्शय नाथ! गुहायां तमोवृतायां स्वतः समागत्य।।
मुचुकुन्दइव शयाने मयि कृपयानेहसापि वपुः ।।१।।

(तमसो अभावरूपत्वाद् न आवरणरूपत्वम् इति आक्षेपः)

(अभावत्वात्तमस्तावत्स्वानुयोगिविशेषणम्।।
विशेष्यावरणत्वं हि न तस्मादुपपद्यते।।२।।)[१]

ननु इदम् अयुक्तम्, अभावरूपेण तमसा गुहावरणस्य असम्भवदुक्तिकत्वात्. नच [*]भावमुखप्रत्ययेन तस्य भावरूपत्वं शङ्कनीयं, तस्य भ्रमरूपत्वात्. तादृशप्रत्ययेनापि तस्य सिद्ध्यङ्गीकारे मरुमरीचिकायां जलप्रत्ययेन जलमपि

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।
।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

अन्धकारप्रकाशिका
(विषमस्थलटिप्पणी)

मुधा तस्य त्यागो यदिह परिलब्धं ममतया
भवेत् त्वद्भोगार्हं यदितु वरमस्मान्नहि परम्।
प्रधावन् आयातात् कुपितजननीनेत्रभयतो
मदीये हृद्ध्वान्ते तव निलयनायातिगहने।।

१.इह पूर्वपक्षसंग्रहकारिका मद्योजिता अवगन्तव्या[(ग्या)].

सिद्ध्येत्. नच *बाधाभावात् तस्य प्रमात्वमेव* इति शङ्कनीयम्, आकाशनैल्यवद् अप्रयोजकत्वात्.

(षड्विधाभावे अनन्तर्भावात् तमसो अतिरिक्तपदार्थत्वनिरूपणं भाट्टमतेन)

अत्र भाट्टाः(पा.भे.१) ※ "तमः तावत् सामान्यविशेषसमवायेभ्यो अतिरिक्तं स्वाश्रयाविषय-लौकिकप्रत्यक्ष-विषयत्वात् वाय्वानीत-चम्पकावयवसमवेत-गन्धादिवत्". "कर्मणोऽपि अतिरिक्तं, संयोगाद्यसमवायि-कारणताभावात्". "गुणेभ्योऽपि अतिरिक्तं, द्रव्यासमवेतत्वाद् गगनादिवद्" इति अनुमानेन द्रव्यातिरिक्तपदार्थभेदसिद्धिः. नच *गुणभेदहेतुः स्वरूपासिद्धः* इति शङ्क्यं, तमसो द्रव्यसमवेतत्वासम्भवात्. "तमो न दिक्-कालात्म-मनो-व्योम-वायुषु समवेतं, लौकिकचाक्षुषविषयत्वाद् रूपादिवत्"-"न तेजस्समवेतं तेजोऽविषयक-लौकिकप्रत्यक्ष-विषयत्वात् पीतादिवत्"-"न भू-जल-समवेतम् आलोकाजन्य-लौकिकचाक्षुष-विषयत्वाद्" इत्याद्यनुमानैः द्रव्यासमवेतत्वसाधनात्. नापि क्लृप्तद्रव्यान्तःपाती पृथिव्यादिनवकविरुद्धधर्माध्यासात्. तथाहि "न अवनिः गन्धहीनत्वाद्, अशुक्लत्वात् च न उदकं, न तेजः कृष्णरूपत्वाद्, रूपवत्त्वात् च न इतरद्" इति. एवं पृथिव्यादिवैधर्म्ये रूपवत्त्वाद् द्रव्यान्तरमेव तमः. *ननु इदं समवेतम् असमवेतं वा? न आद्यो, जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति स्पर्शवत्त्वेन हेतुत्वात् तमसः च अस्पर्शत्वात् तदवयवेऽपि स्पर्शाभावानुमानस्य शक्यत्वात्. न द्वितीयः, समवेतस्वरूपद्रव्यस्य अणुत्वनियमेन अप्रत्यक्षत्वापत्तेः* इति चेत् न, द्वितीयनियमे मानाभावात्, तमसो नित्य-द्रव्यत्वाभ्युपगमे लाघवात् च. नित्यद्रव्यस्यैव कल्पनालाघवात्. अन्यथा ध्वंसप्रागभावकल्पने गौरवप्रसङ्गात् नच एवं दिवसेऽपि तच्चाक्षुषापत्तिः तस्य आलोकाव्यंग्यत्वात्. तमोभिन्नद्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव आलोकस्य सहकारित्वकल्पनाद् ※ इति आहुः.

(भाट्टैकदेशिमतनिरूपणम्)

तदेकदेशिनस्तु ※ "छाया चलति" इति प्रत्ययेन क्रियावत्त्वात्, 'नीलं

तमः' इति प्रत्ययेन रूपवत्त्वात्, "परम् अपरं च" इति प्रत्ययेन परत्वापरत्ववत्त्वाद् अनित्यमेव तमः आलोकानपेक्षचक्षुर्ग्राह्यं च. तत्समवायिनश्च तमःपरमाणवएव. नच *निःस्पर्शत्वं बाधकम् उक्तम्* इति वाच्यम्, उद्भूतरूपे धूमे अनुद्भूतस्पर्शवद् इहापि अनुद्भूतस्पर्शस्य कल्पयितुं शक्यत्वात्. नच *गोलकावच्छेदेन धूमीयस्पर्शस्य उपलम्भात् न तत्स्पर्शस्य सर्वत्र अनुद्भूतत्वं तमःस्पर्शस्यतु क्वचिदपि न उपलम्भइति तदनुद्भूतस्पर्शे मानाभावः* इति शङ्क्यं, धूमस्पर्शानुभवस्य भ्रमत्वात्. अन्यथा वज्रनिर्घोषादौ जायमाने हृदयगोलके आघातानुभवात् शब्देऽपि स्पर्शवत्त्वापत्तिः. अतः पृथिवीत्वेनेव आरम्भकत्वेन स्पर्शवत्त्वेनापि व्याप्तेः आरम्भार्थम् अत्र अनुद्भूतस्पर्शाङ्गीकारे न कोऽपि दोषः. नच *आरम्भकत्वस्पर्शवत्त्वयोः ज्ञप्तौ अन्योन्याश्रयः* इति वाच्यं, 'चलति' इति प्रत्ययेन अन्धकारस्य अनित्यत्वे निश्चिते तेनच आरभ्यत्वे निश्चिते तेन तदवयवेषु आरम्भकत्वज्ञानात् ※ (इति आहुः).

(केषाञ्चिद् मतम्)

अन्येतु *अनुद्भूतस्पर्शे मानाभावात् प्रमायाः अनारभ्यत्वापत्तेः, जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति मूर्तत्वेन हेतुताम् एतदर्थम् आहुः. मनसः आरम्भकत्वे च इष्टम् अभ्युपगच्छन्ति. अतएव पुराणेषु मानसी सृष्टिः योगशास्त्रे च मनःकल्पितं विश्वं स्मर्यते इति प्रमाणयन्ति च. नित्यं द्रव्यान्तरमेव तमः* इति.

(काणादमतम्)

काणादास्तु ※ तत् न द्रव्यान्तरं, 'तमो'भिधानातिरिक्तद्रव्याङ्गीकारे[२] आलोककार्यतावच्छेदककोटौ 'तमोभिन्नत्व' निवेशे तमश्चाक्षुषं प्रति आलोकाभावस्य हेतुत्वे च गौरवात्. नच *द्रव्यचाक्षुषं प्रति 'आलोकत्वेन' इति देयम्(पा.भे.२) अतो न दोषः* इति वाच्यं, वैजात्यावच्छिन्ननियामकस्य अशक्यवचनत्वात्. तथाहि—न तावद् विजातीयक्रिया नियामिका. यत्र

२. 'तमः' इति अभिधानं यस्य तत् तमोभिधानं तच्च अतिरिक्तं द्रव्यं च तमोभिधानातिरिक्तद्रव्यं तस्य अङ्गीकारे इति विग्रहः(ज्या).

एकयैव चक्षुष्क्रियया आलोकसंयुक्ते घटे तदयुक्ते च पटे चक्षुस्संयोगद्वयम् उत्पाद्यते, तत्र क्रियावैजात्याभावाद् उभयोः चाक्षुषत्वापत्तेः. नच * तदुत्तरदेशरूपविषयस्यैव नियामकत्वम् * इति वाच्यं, यत्र आलोकसहकृत-चक्षुस्संयोगेन पूर्वं घटचाक्षुषम् उत्पादितम्, अनन्तरं च आलोकनाशः, तत्र विषयनियत-संयोगवैजात्य-सत्त्वात् तदापि घटचाक्षुषापत्तेः. एवं भवन्मते तमश्चक्षुस्संयोगोत्तरं चाक्षुषे जाते ततः आलोकसमवधानेऽपि तमसो नित्यत्वेन तच्चक्षुस्संयोगसत्त्वात् तच्चाक्षुषापत्तेः च. नच * तदानीं तादृशसंयोगनाशात् न दोषः * इति वाच्यं, नाशे हेत्वभावात्.

यत्तु * तमोद्रव्यं न चाक्षुषम् अपितु तामसेन्द्रियान्तरग्राह्यं, नच * अधिष्ठानाभावे तत्कल्पनम् अशक्यम् * इति शङ्क्यं, चक्षुःश्रवसाम् एकगोलके इन्द्रिय[३]वद्, अत्रापि चक्षुरिन्द्रियगोलके तस्यापि शक्यकल्पनत्वात्. चक्षुरन्वयानुविधानेन तथा निश्चयात्. नच * एवं सति आलोकसमवधानकालेऽपि तमसि तामसेन्द्रियसंयोगसत्त्वेन तमसः तामसप्रत्यक्षापत्तिः, तमसो अनित्यत्वाभ्युपगमेन आलोके तन्नाशेन अदोषाद् * इति. तत् न विचारसहं, तमस्तामसत्वावच्छिन्नं प्रति तामसेन्द्रियसंयोगहेतुतायाः, तथाविधेन्द्रियान्तरस्य, तमोद्रव्यस्य, तत्प्रागभावध्वंसानां च कल्पनेन अतिगौरवग्रासात्. क्रियावतो रूपवतो महतो द्रव्यस्य आलोकजन्य-चाक्षुषविषयत्वनियमेन तथाविधकल्पनायाः अशक्यत्वात् च. तस्मात् तमो न द्रव्यं किन्तु उद्भूतानभिभूतरूप-प्रकृष्टमहत्तेजः-सामान्याभावएव. तथाच सूत्रं "**द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावः**[पा.भे.३] **तमः**"(वैशे.सू.५।२।१९) इति, '**निष्पत्तिः**'[४] =सामान्यविशेषसमवायाः[पा.भे.४], '**भा**'=उक्तविधं तेजो, '**वैधर्म्यं**'=भेदः. तथाच "द्रव्यादिषट्कभेदाद् उक्तविधतेजोऽभावः तमः" इति सूत्रार्थः. अत्र अनुद्भूतरूपचक्षुरात्मक-तेजसः तमस्यपि तत्त्वाद् अव्याप्तिवारणाय 'उद्भूत'पदम्. वालुकाप्रविष्ट-रविरश्मि-सत्त्वाद् अव्याप्तिवारणाय 'अनभिभूत'पदम्. तेजःपरमाण्वादिसत्त्वाद्

३. 'श्रवणेन्द्रियवद्' इति अर्थः इति [ख] पाठीयपादटिप्पण्यां तथापि 'इन्द्रियद्वयवद्' इति पाठो मूले कादाचित् स्याद् इति सम्भाव्यते[श्या].
४. अविज्ञातकर्तृकप्राचीनवृत्तौ सूत्रपाठः "**द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः**" इति. एतस्यां वृत्तावपि "**निष्पत्तिश्च सामान्यविशेषसमवायतेजोव्यतिरिक्ताः भावाः**"

अव्याप्तिवारणाय 'प्रकृष्टमहत्'पदम्. वस्तुतस्तु, प्रमात्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावः तमः. नतु पूर्वोक्ताभावो गौरवात्. प्रमात्वञ्च अनुगतप्रतीतिसाक्षिकजातिः इति. नच * चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगस्य हेतुत्वात् तदभावे तमश्चाक्षुषानुपपत्तिः * इति वाच्यं, तेजःसामान्याभावाद्यतिरिक्त-चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रत्येव आलोकस्य सहकारि-त्वाभ्युपगमाद् * इति आहुः.

(एतद्विषये *प्रत्यक्तत्त्वदीपिकाकारमतम्*)

अत्र प्रत्यक्तत्त्वदीपिकाकारः * क्षितेः तावद् रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-संस्कारा-ख्यचतुर्दशगुणकत्वेन, सलिले गन्धराहित्येऽपि स्नेहसाहित्याद् उक्ततावद्-गुणकत्वेन, आत्मनः च संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-बुद्धि-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्माधर्म-भावना-संस्काराख्यैकादशगुणकत्वेन, वायोः च रूपद्रवत्वराहित्याद् उक्तनवगुणकत्वेन, मनसः स्पर्शराहित्याद् उक्ताष्टगुणकत्वेन, व्योम्नः शब्द-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागाख्य-षड्गुणकत्वेन, दिक्कालयोः शब्दस्यापि राहित्यात् सङ्ख्यादिपञ्चगुणकत्वेन अविनाशित्वेन च, तेषु तमसो अन्तर्भावाङ्गीकारे तावद्गुणकत्वप्रसङ्गात् न एतेषु अन्तर्भावः. नापि गुणेषु, नीलप्रतीत्या रूपे अन्तर्भावे तत्सहचरित-गन्धादिगुणान्तरस्यापि उपलब्धिप्रसङ्गात्. सलिलतेजसोः शुक्लत्वात् च. नभोनभस्वतोरपि रूपवत्त्वात्(अरूपत्वात्!) च. नापि कर्मणि संयोग-विभाग-समवायित्वाभावात्. नापि सामान्य-विशेष-समवायेषु, तेषां व्यक्त्याश्रयसम्बन्ध्युपलब्धि-सापेक्षोपलब्धिनः तत् तमसः आधारभूतानां व्यक्त्याश्रयसंबन्धिनां च उपलम्भाद् अनुलम्भप्रसङ्गात्. नापि अभावे 'तमालश्यामं तमः' इति रूपवत्त्वप्रतीतेः. एवं क्लृप्तेषु अनन्तर्भावाद् द्रव्यान्तरमेव तमः. नच * द्रव्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति आलोकसंयोगस्य सहकारित्वात् तदभावे चक्षुषा जायमानं तमोज्ञानं

इति ग्रन्थकृद्भिरपि अयमेव पाठोऽत्र अनुसृतो भाति. अन्यथा सूत्रार्थस्तु "द्रव्यगुणकर्मणां यः उत्पत्तिप्रकारः तस्माद् वैधर्म्यात् तमः तेजोऽभावे दृष्टिगोचरो भवति" इत्येवमपि सम्भाव्यते[श्या].

निमीलितनयनस्य "तमः पश्यामि" इति प्रत्ययवद् अभिमानमात्रम्* इति वाच्यं, चेतनव्यवहारस्य ज्ञानपूर्वत्वनियमात् तदभावे तादृशव्यवहारबाधापत्तेः[पा.भे.५]. नच *शौक्ल्यज्ञानाभावे पटादौ नीलव्यवहारवद् आलोक-ज्ञानाभाव-विषयक-विषयज्ञानमेव तादृश-व्यवहार-हेतुः* इति वाच्यं, तस्य अचाक्षुषत्वेन "नीलं तमः" इति चाक्षुष-व्यवहारानुपपादकत्वात्. तस्माद् आलोकविरोधिनः तमस आलोकाभावव्यंग्यत्वात् तमोज्ञानम् आलोकनिरपेक्ष-चक्षुषा जायमान-मपि न भ्रमः, सामर्थ्यस्य कार्यगम्यत्वात्. अन्यथा आलोकाभावस्यापि रूपवदभावतया आलोकनिरपेक्षचक्षुरग्राह्यत्वप्रसङ्गात्. अभावग्रहस्य[पा.भे.६] सर्वत्र योग्यानुपलब्धि-सहकृत-प्रतियोगिग्राहक-सामग्रीग्राह्यत्व-दर्शनात्. आ-लोकविरोधितया आलोकनैरपेक्ष्यस्य प्रकृतेऽपि तौल्यात्. नच *आलोकाभाव-स्यापि तमोव्यञ्जकतया अपेक्षणीयत्वे तावतैव 'तमः'पदसार्थक्याद् अनर्थकं तस्य द्रव्यान्तरकल्पनम्* इति वाच्यं कल्पनाभावात्. प्रत्यक्षसिद्धे तमसि तद्ग्रहस्य प्रमात्वाय अत्र उद्योगस्य तेन अपर्यनुयोज्यत्वात्. नच *अस्य ज्ञानस्य भ्रमत्वम्* इति वाच्यं, बाधकप्रत्यक्षान्तराभावात्. अनुमानं बाधकम् इति चेत् न, प्रत्यक्षविरोधे तस्य बाधितत्वात्. नच *मीलितनयनस्य चक्षुर्व्यापाराभावेऽपि तमसः उपलम्भात् तत् चाक्षुषमेव न भवति* इति वाच्यं, तत्रापि पक्ष्मपटलान्तवर्तितमसः चक्षुर्व्यापारादेव उपलब्धेः. नच रूपवदन्तरग्रहप्रसङ्गः, तत्र आलोकस्य सहकारित्वात्. नच *इन्द्रियाणाम् अन्तःप्रवृत्त्यदर्शनात् न इदं साधीयः* इति वाच्यं, पिहितकर्णपुटस्य श्रोत्रेन्द्रियव्यापारादेव प्राणघोषश्रवणात्. नच *श्रोत्रेन्द्रियस्य स्वसमवेतशब्दग्राह-कत्वात् न व्यापारवत्त्वम्* इति वाच्यं, तस्य बहिरपि प्रवृत्तिदर्शनात्. अन्यथा "सुरसरीत्तीरे शब्दः" इति देशप्रतीतिबाधापत्तेः. नच *गन्धाभावे तद्व्याप्तं नीलरूपमपि न स्याद्* इति वाच्यम्, अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्यां गन्धादिव्याप्तस्यापि गन्धाभाववति वायौ प्रतीतिबलेनैव अङ्गीकारवद् इहापि तथा नीलरूपस्य उपगन्तुं शक्यत्वात्. नच *पाकजानुष्णाशीत-स्पर्शस्यैव गन्धादिव्याप्तत्वं न इतरस्येति अदोषः* इति वाच्यम्, इहापि पाकजनीलरूपस्यैव तद्व्याप्तत्वमिति दोषसाम्यात्. नच *पाकजनीलरूपमेव असिद्धम्* इति वाच्यं, सद्भावग्राहिणः प्रत्यक्षस्य उभयत्र तौल्यात्. नच

"तमो रूपरहितं स्पर्शरहितत्वाद् आकाशवद्" इति अनुमानविरोधात् तमसि रूपमेव नास्तीति वृथैव इयं चिन्ता इति वाच्यं, रूपग्राहकप्रत्यक्षविरोधे हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्. अन्यथा "वायुः स्पर्शरहितो रूपरहितत्वाद् आकाशवद्" इति साधनेन वायावपि रूपापत्तेः दुर्वारत्वात्. तस्मात् न अभावरूपं किन्तु मनोवद् अस्पर्शपरमाण्वारब्धं तमः * इति.

(सिद्धान्तनिरूपणे द्रव्यान्तरतानिरासः)

न तद् द्रव्याद्यसौत्रत्वाद् नान्यो नामादिभेदतः ॥
'माये'त्युक्तेः पुराणे[५] स्याद् मायाकार्यान्तरं तमः ॥३॥

यद् इदं द्रव्यान्तरत्वं तमसः उपगतं तद् अनालम्बितमेव. भगवता बादरायणेन जैमिनिना च स्वशास्त्रे अनुक्तत्वात्. पुराणादिष्वपि सृष्टिप्रक्रियादौ द्रव्यत्वेन न तदुक्तेः. नच *सूत्रकारस्य लौकिकपदार्थशोधनाय अप्रवृत्तत्वात् तदनुक्तिः न दोषाय* इति वाच्यं, तथा सति विरोधाभावात् काणादस्मृत्युक्ताङ्गीकारेऽपि अदोषात्. अथ शिष्टापरिग्रहसूत्रादौ तन्मतदूषणाद् इदमपिं न आद्रियते; तर्हि, नियतपदार्थवादोऽपि अनादरणीयइति व्यर्थएव दशमद्रव्यत्वप्रवादो, युक्तिसिद्धस्य यस्य कस्यापि आदरणीयत्वात्. *ननु अस्तु एवं तथापि समवायिकारणत्वाद् गुणाश्रयत्वात् च द्रव्यत्वम् आद्रियते* इति चेद्, मैवम्! आरम्भकसिद्धेः आरभ्यसिद्ध्यधीनत्वात् प्रतियोगि-प्रतिबद्ध-प्रतीकतयापि क्रियावत्त्वादिप्रतीतिनिर्वाहे तदारभ्यतायाएव वादकवलितत्वेन आरम्भकासिद्धौ समवायितायाः दुर्वचत्वात्. गुणाश्रयत्वेन साधनेऽपि पृथिव्याम् अनिवेशं वदता नीलरूपातिरिक्तगुणानङ्गीकाराद् आद्यक्षणे तदभावेन तस्यैव असिद्ध्या द्रव्यत्वस्य दूरनिरस्तत्वात्. अतो भट्टानुसरणं सुहृदादि[पा.भे.७]-याचितक-मण्डनवद्[६] आडम्बरमात्रमेव.

५.भाग.पुरा.२।९।३३. ६.'सुहृदादियाचितकमण्डनवद्' इति "अस्याः मुखश्रीप्रतिबिम्बम् एवं जलात् च तातात्, मुकुरात् च मित्राद् अभ्यर्थ्य धत्तः खलु पद्मचन्द्रौ विभूषणं याचितकं कदाचिद्" इति न्यायेन अन्येभ्यः याचिताभरणधारणेन धारकस्य किं माहात्म्यम्! इति तद्वद् आडम्बरैकपर्यवसायिवचनम् इदम् इति तात्पर्यम्. "याञ्चया आप्तं याचितकम्" (अम.को.२।१०।४) इति[व्या].

(तमसः पृथिव्याम् अन्तर्भावस्य निरासः)

यत्तु ''नीलरूपत्वात् पृथिव्याम् अन्तर्भावः'' कैश्चिद् उच्यते, तदपि असङ्गतं सामान्यलक्षणानाक्रान्तत्वेन ''न पृथिवी निर्गन्धत्वाद्'' इति प्रतिपक्षेण तद्बाधात्. नापि अदर्शनेन अनुद्भूतगन्धस्य अशक्यवचनत्वात् पाकाप्रसिद्ध्या पाकजानुष्णाशीतस्पर्शस्यापि तथात्वाद् इति.

(तमसो नीलरूपत्वम् इति कन्दलीकारमतविमर्शः)

यत्तु कन्दलीकारः *''नीलं रूपमेव तमः'' ( ) इति आह, तदपि न, तदापि पृथिवीगुणत्वस्यैव वाच्यत्वे अञ्जनादिनैल्यवत् तेजःसमवधानेऽपि तच्चाक्षुषापत्तेः. अन्यथा अनाधारत्वेन गुणत्वव्याघातात् तद्व्याप्यरूपत्वस्य अशक्यवचनत्वात् च.

(तेजोऽभावत्वनिरासः)

एवम् अभावत्वमपि असङ्गतमेव, कोशेषु ''अन्धकारो अस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमो, ध्वान्ते गाढे अन्धतमसं, क्षीणे अवतमसं, तमो विष्वक् सन्तमसम्'' (अम.को.१।८।३) इत्यादौ तन्नाम्नां, तदवान्तरभेदनाम्नां च पाठात्, ''अविद्या 'अहं'मतिः स्त्रियाम्'' (अम.को.१।५।७) इतिवत् ''तेजोऽभावो अतेजो अप्रभा'' इत्याद्यपाठात् च. तेजोऽभावत्वे अवान्तरनामपाठवद् एतन्नामपाठप्रसङ्गात्, तद्वदेव भेदान्तराकथनप्रसङ्गात् च. किञ्च प्रतियोगितदभावयोः सर्वत्र भावाऽभावविरोध-एव न अन्यः. तेजस्तमसोस्तु वध्यघातविरोधः, ''तेजसा नष्टं तमः'' इति प्रतीतेः. ''यथाहि भानोः उदयो नृचक्षुषं तमो विहन्याद् नतु तद् विधत्ते'' (भाग.पुरा.११।२८।३४), ''यद् बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा'' (भाग.पुरा.१०।५१।३०) इति. सृष्टौ ''तेजसा अपिबत् तीव्रम् आत्मप्रस्वापनं तमः'' (भाग.पुरा.३।२६।२०), प्रलयेऽपि ''हृतरूपन्तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते'' (भाग.पुरा.११।३।१४) इत्यादिपुराणप्रयोगात् च. ''अह्नाय तावद् अरुणेन तमो निरस्तम्'' ( ) इति वाक्येऽपि

प्रयोगात् च. ''लोकालोकं तथा अतीत्य विवेश सुमहत्तमः'' (भाग.पुरा.१०।८९।४८) इत्यादौ प्रवेशपरिमाणयोः कथनात् च.

(छायायाः तमोभेदत्वनिरासः)

किञ्च छायायाः तमोभेदत्वकथनं जरताम् अत्यसङ्गतं, ''दीपमञ्चकयोः छाया बोधिच्छाया तथा निशि तथा नीचजनच्छाया हन्ति पुण्यं पुराकृतम्'' ( ) इत्यादिषु प्रतियोग्यन्तरकथनात् चाण्डालादिच्छायास्पर्शे प्रायश्चित्तकथनात् च. नच *''छायाह्यनातपे कान्तौ''[7] इति कोशाद् आतपाभावएव छाया* इति वाच्यम्, अनेकार्थत्वात् तथोक्तेः. अन्यथा एतद्विरोधप्रसङ्गात्. ''छायाप्रत्याह्वयाभासाः असन्तोऽपि अर्थकारिणः'' (भाग.पुरा.११।२८।५) इत्यत्र असत्त्वकथनविरोधात् च. छायाभागं...त्[8] च इति दिक्.

(तमसः सिद्धान्त्यभिमतं स्वरूपम्)

अतो द्वितीयस्कन्धे भगवता ''ऋते अर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत च आत्मनि तद् विद्याद् आत्मनो मायां यथा आभासो यथा तमः'' (भाग.पुरा.२।९।३३) इति कथनात् मायापरिणामविशेषरूपं भावातिरिक्तपदार्थान्तरमेव तमः. तच्च तेजोऽभावे मायया मनुष्यादीन् प्रत्येव जन्यते. न सर्वान् प्रति. अतएव उलूकबिडालादयः तेजोऽभावमेव गृह्णन्ति न तमः. अतएव वैशेषिकदर्शनस्य उलूकरूपिणा कणादेन कृतत्वात् तस्य तमश्चाक्षुषाभावेन तत्सूत्रे ''भाभावः[(वा.वै.८)] तमः'' इति उक्तिरपि युज्यते. तथा अस्मदादिदृष्टीनां तमोवृतत्वात् तमसएव ग्रहो नतु विषयान्तरग्रहः. तथा तद्दृष्टेः कोमलत्वाद् बलवत्तेजसा प्रतिघातः तदभावे च सुखेन तेषां विषयग्रहः. नच अस्माकमपि तच्चाक्षुषाय कार्यकारणभावान्तरापेक्षा, चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति दूरत्वव्यवधानादीनां प्रतिबन्धकतायाः क्लृप्तत्वेन सर्वसम्मतत्वेन च कल्पनाभावात्.

७.द्रष्टव्यः : ''छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बम् अनातपः''(अम.को.३।३-।१५७) [(श्या)].८.सर्वेष्वपि आदर्शेषु त्रुटितैव पंक्तिः उपलभ्यते[(श्या)].

(तमसः आवरकत्वम्)

तमसः आवरकत्वस्य च "तमसा च आवृता दिशः" (भाग.पुरा.१०।८०।३३) इत्यादिपुराणप्रसिद्धत्वात्. व्यवधानाभावविशिष्ट-विषय-चक्षुःसंयोगत्वेन चाक्षुषत्वेन यः कार्यकारणभावः चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति अनावृतत्वेन वा या घटादौ विषयता ततएव सर्वनिर्वाहात्. एवञ्च विषयालोकसंयोग-तदभावयोः कारणकोटौ अप्रवेशेन प्रत्युत लाघवं ज्ञेयम्. नच *एवं सति गृहादौ त्रसरेणुचाक्षुषापत्तिः* इति वाच्यं तुल्यत्वात्. नच *तत्र विलक्षणालोकसंयोगाभावात् न तथा* इति वाच्यं, गृहादौ छायारूपाल्पतमसा त्रसरेण्वावरणस्य सम्भवदुक्तिकत्वात्. नच *एवं सति गाढतेजसि तच्चाक्षुषापत्तिः तौल्यात्. तेजसैव आवरणस्य शक्यवचनत्वात् च. नच *तेजोऽभावस्यैव व्यवधायकत्वं लाघवाद् अङ्गीकार्यम्* इति वाच्यं नीलप्रतीतिबाधापत्तेः. नच *सो भ्रमः* इति वाच्यं, तथापि विषयसापेक्षत्वात् तदाकाङ्क्षायां भावाभावान्यतरस्य तत्त्वेन वक्तुम् अशक्यत्वात्, तादृशभ्रमविषयत्वेन विषयताख्यपदार्थान्तररूपस्य तमसः सिद्धेः अप्रत्यूहत्वात्. *ननु भ्रमस्य विशिष्टबोधरूपत्वेन विशेषणज्ञानजन्यत्वात्, प्रकृतेऽपि भ्रमो विशेषणज्ञान-विशिष्यभानसामग्री-विशेषणविशेष्या-संसर्गाग्रहरूपैः नीलज्ञान-चक्षुःसंयुक्तविशेषणता-नीलतेजोऽभावासंसर्गाग्रहैरेव सेत्स्यतीति न नीलतमोरूपविषयताभ्युपगमः आवश्यकः* इति चेत्, मैवं विशेषणीभूतनीलज्ञानस्य चाक्षुषरूपत्वे पूर्वेक्तयुक्त्या तद्विषयस्य तमसः आवश्यकत्वात्[पा.भे.९]. स्मरणरूपत्वेऽपि तस्य संस्कारजन्यत्वात् तेजोऽभावे तद्वति सुधाधवलितगृहादौ च संस्कारोद्बोधकस्य अनुभूतनीलसदृशस्य विषयतारूपनीलान्तरस्य[पा.भे.१०] नीलसादृश्यस्य च अभावे संस्कारानुद्बोधे स्मरणस्यापि अशक्योदयात्. तदुदयार्थमपि संस्कारोद्बोधकस्य तस्य तत्र आवश्यकत्वात्. अदृष्टस्य उद्बोधकत्वेऽपि दृष्टसामग्रीं विना तस्य अकिञ्चत्करत्वात्. दृष्टसामग्रीघटकत्वेनापि तस्य उपेक्षणात्. उपनीतभानरूपत्वेऽपि उपनायकस्य स्मरणस्य उदयार्थं पूर्वोक्तयुक्त्या तस्य अपेक्षितत्वात्. एतेनैव स्मर्यमाणारोपस्यापि प्रत्युक्तत्वात्. चाक्षुषोपनीतभानस्य अनुभूयमानारोपस्य च पूर्वोक्तयुक्तिभिरेव दत्तोत्तरत्वात्.

(प्राभाकरैकदेशिमतविमर्शः)

यत्तु प्राभाकराः *तेजोज्ञानाभावएव तमः, सत्यपि तेजसि तदज्ञाने तमःप्रत्ययाद्* इति आहुः, तत् फल्गु, ज्ञानाभावज्ञानस्य मानसत्वात्, 'नीलं तमः' इति चाक्षुषव्याघातात्. "तेजोऽभावम् उपलभामहे" इति अनुव्यवसायानुपपत्तेः च.

(सिद्धान्तेन निष्कर्षः)

तस्मात् मूलशक्तेः मायायाः कार्यभूतम् आवरणात्मकम्[१] अर्थान्तरमेव तमः इति निश्चयः.

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाम्बुजचेतसा॥
सुबोधिन्युक्तमार्गेण तमस्तत्त्व समर्थितम्॥३॥

इति श्रीवल्लभाचार्यमतवर्ति-श्रीमद्वल्लभनन्दन-चरणनलिन- परागप्राप्तसकलसिद्धेःपीताम्बरतनुजपुरुषोत्तमस्य कृतौ अवतारवादावल्यां नवमो अन्धकारवादः समाप्तिम् अगात्

श्रीरस्तु

---

१. *ननु तमसो मायाकृतावरणात्मकत्वे मध्ये तमोव्यवधाने सति पश्चाद्वर्तिनः आलोकदेशावस्थितस्य पदार्थस्य प्रत्यक्षं कथम् उपपद्येत?* इति चेद् अत्र एवम् अवगन्तव्यम् : यद्देशे मायया तमोजननं तद्देशएव विद्यमानानां रूपवद्द्रव्याणाम् अनुपलब्ध्या, मध्ये तमोव्यवधानेऽपि आलोकवद्देशावस्थितरूपवद्द्रव्याणान्तु तमोव्यवधानविशिष्टोपलब्ध्या च तमोरूपवद्द्रव्ययोः समानदेशावस्थितयोरेव आवरकावरणीयभावो नान्यथा. अतएव क्वचित् तमःप्रकाशयोः तारतम्ये तमोनिवारणाक्षमस्यापि प्रकाशस्य तमोदेशावस्थितरूपवद्द्रव्येण साकं संयोगे सति तन्मात्रप्रकाशनेन तद्वस्तुग्रहणे न बाधः, प्रकाशाधिकतमसएव रूपवत्पदार्थावरकत्वनियामकत्वाद् इति सर्वं समञ्जसम्[ज्या].

मायायाश्च धवायैव माधवाय समर्पितम्।
क्षमन्तां साधवः सर्वं मातृदोषतमस्कृतम्॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्रीपुरुषोत्तमचरणकृपाधनेन श्याममनोहरेण विरचिता 'अन्धकारप्रकाशिका'ख्या विषमस्थलटिप्पणी समाप्ता

पाठभेदावली

१.'भेदाः' इति मु.पा. २.'द्वयम्' इत्येव सर्वेषु मुद्रितामुद्रितेषु आदर्शेषु उपलभ्यते तथापि दुरूहार्थकत्वं तस्य आलक्ष्य अस्माभिः स्वमत्या 'देयम्' इति पाठः उट्टंकितः. यदितु 'द्वयम्' इत्यस्यैव पाठस्य साधुत्वं तदा तमश्चाक्षुषं प्रति आलोकाभावस्य द्रव्यचाक्षुषं प्रति आलोकस्य एवं कारणताद्वयकल्पनायां न दोषः इति आशयः कल्पनीयः. ३.'द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भावाभावः तमः'' इति सर्वेष्वपि कादि-घान्तपाठेषु एवमेव. तथापि न्यायकन्दल्यभिमतः पाठः ''द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावः तमः'' इति तदनुरोधात् संशोधितः. अग्रेऽपि ''उक्तविधं तेजः'' इत्यस्मात् पूर्वं 'भाव'पदापेक्षया 'भा'पदसार्थक्यानुरोधादपि. ४.''निष्पत्तिः सामान्यविशेषसमवायाभावाः'' इति मु.पा. शोधितः पाठस्तु ख-घ पाठानुरोधात्. ५.'तादृशव्यवहारबाधापत्तेः' ग पाठे नोपलभ्यते. ६.''अत्र अवग्रहस्य'' इति मु.पा. ७.'हृदादियाचित...' इति मु.-ख पाठयोः. ८.'भावाभावः' सर्वेष्पपि पाठेषु तथापि औचित्यानुरोधात् संशोधितः. ९.'आवश्यकत्वात्' इति ख पाठे, 'आवरकत्वाद्' इति मु.पाठस्तु अशुद्धएव आभाति. १०.'नीलान्तरस्य' इति ख. 'नीलतरस्य' इति मु.पाठस्तु अशुद्धः प्रतिभाति.

अन्धकारवादीयपरिशिष्टम्

इह जिज्ञासूनाम् अध्येतॄणां बोधाय महामहोपाध्यायेन पण्डितरत्नेन लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्येण प्रणीतात् *मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिकात्*तमोवादसङ्ग्रह-कारिकाः भृशं कार्तज्ञ्येन सह प्रदीयन्ते—

(१)

तमः खलु चलं नीलं बहुलं विरलं परम्।

अपरं च महद् दीर्घं ह्रस्वं चेति प्रतीयते॥
कदाचिदपि कस्यापि नैव बाधोऽत्र दृश्यते॥
प्रभामण्डलवच्चेदं द्रव्यमित्येव वैदिकाः॥

(२)

पृथिव्याएव भेदोऽयं तमस्स्याद् इति केचन।
प्रकृतेरेव भेदस्स्याद् इति वेदान्तिनो विदुः॥
आलोकेनोत्सारितत्वात् विनष्टत्वादथापि वा।
अभिभूतत्वतो वापि तन्मध्ये नोपलभ्यते॥
विषयाच्छादकत्वन्तु तमसो नहि युक्तिमत्।
तमोव्यवहितालोकस्थितनानार्थदर्शनात्॥
अतो मर्त्यादिदृष्टीनां दृश्यसम्बन्धमात्रतः।
दर्शनप्रतिघातित्वं स्वभावात् तमसि स्थितम्॥
वायू रूपेण रहितः स्पर्शेन सहितो यथा।
तथा रूपेण रहितं स्पर्शेन सहितं तमः॥

(३)

गुरूणान्तु मते तेजोहीनाधिकरणं तमः।
ग्राहकात्मोपलब्धेश्च नीलरूपस्मृतेरपि॥
''नीलं तम'' इति ज्ञानं भेदाग्रहनिबन्धनम्।
आलोकक्रिययेव स्यात् 'चलति'प्रत्ययोऽपिच॥

(४)

''तेजोऽभावः तम'' इति काणादकिरणावलिः।
अन्धसासाधारणं रूपज्ञानाभावं विदुः परे॥
आरोपितं निरालोके देशे मालिन्यवत्तले।
''नीलं रूपं तम'' इति सिद्धान्तः कन्दलीकृतः॥

(५)

अणवः सर्वशक्तित्वात् तमश्छायातपात्मना।
अभ्राणीव प्रतीयन्त इति प्राहुरिहार्हताः॥

(६)

निरधिष्ठान-विज्ञानवादि-वैभाषिकादयः।
केशोण्ड्रकादिविज्ञानं भ्रम इत्यभिमन्वते॥

(७)

भूच्छायादर्शनं लोके तमोदर्शनमुच्यते।
इत्युक्तवानपि विधिविवेके किल मण्डनः॥
एवंरूपः तमस्तत्त्वे विकल्पः परिदृश्यते।
निरूप्यते यथा यच्च तत्तथा व्यवतिष्ठते॥

(मान.रह.श्लो.वा.२१).



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

ख्यातिवादकी चर्चामें कुछ पुरःस्फूर्तिक विचारबिन्दु

[१]

ख्यातिसम्बन्धी चर्चामें सर्वप्रथम जो दो प्रमुख आयाम हमारे सामने उभर कर आते हैं वे ये हैं :

१.भ्रान्तिज्ञानके विषयका वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या भ्रान्तिज्ञान सद्विषयोत्पादित अनुभव (An experience caused by objective reality) माना जा सकता है या नहीं?

२.भ्रान्तिज्ञानका स्वयंका स्वरूप (Subjective nature) क्या है? क्या वह अनुभूतिरूप और/अथवा स्मृतिरूप ज्ञानमें किसी तरहकी न्यूनता है या व्यत्यास है? अतएव इस सन्दर्भमें यहां ये विकल्प भी प्रमुख विवादास्पद बन जाते हैं कि भ्रान्ति एकराश्यात्मक ज्ञान (Simple unit of Experience) है या राशिद्वयात्मक (Compound/Complex unit of Experiences) है.

तदनुसार —

१.भ्रान्तिज्ञानका विषय सत् होता है या असत् या सदसत् या सदसदनिर्वचनीय अथवा चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य? यह प्रथम आयामगत जिज्ञास्य बिन्दु बनते हैं.

इसके अन्तर्गत इन पञ्चविध विकल्पोंमें क्रमशः ये विभन्न मत

प्रसिद्ध हैं : क.रामानुजोंको अभिप्रेत सत्ख्यातिवाद, ख.बौद्धों तथा माध्वों को अभिप्रेत असत्ख्यातिवाद, ग.सांख्यको, इसी तरह विपरीतख्यातिवादी पूर्वमीमांसकोंको भी, अभिप्रेत सदसत्ख्यातिवाद, घ.शांकर वेदान्तिओंको अभिप्रेत सदसदनिर्वचनीयख्यातिवाद तथा ङ.माध्यमिकोंको अभिप्रेत चतुष्कोटिविनिर्मुक्तशून्यख्यातिवाद. यों इन सभी विचारधाराओंमें देखा जा सकता है कि भ्रान्तिज्ञानविषयके सदसदादि विकल्पोंके मुद्देको प्रमुखतया उभारा गया है.

२.जिज्ञासाके दूसरे आयामके अन्तर्गत, जबकि, भ्रान्तिज्ञानके विषयके बजाय स्वयं भ्रान्तिके स्वरूपके मुद्देको अधिक विचारणीय माना गया है. अतएव इस आयामके अन्तर्गत कुछ प्रमुख विकल्प इस तरहके सामने आते हैं : क.आत्मख्यातिवाद, यह योगाचारवादी बौद्धोंको एवं प्रत्यभिज्ञावादी काश्मीरी शैव मतको[१] भी अभिमत प्रक्रिया है, ख.अख्यातिवाद, इसके अनेक प्रकारोंके अन्तर्गत प्रसिद्ध प्रकार प्राभाकरोंका विवेकाख्यातिवाद है, ग.अन्यथाख्यातिवाद और विपरीतख्यातिवाद यथायथ नैयायिकों और जैनों एवं भाट्ट मीमांसकों को अभिप्रेत भ्रान्तिज्ञानकी व्याख्याएं हैं.

उपर्युक्त विषयसम्बन्धी पञ्चविध ख्यातिओंकों इन विषयिसम्बन्धी अख्याति और अन्यथाख्याति की द्विविध प्रक्रियाओंसे द्विगुणित करनेमात्रसे केवल शुद्ध गणितशास्त्रीय सम्भावनाके तौरपर ख्यातिसम्बन्धी विचारप्रक्रियाके दशविध उपभेद तो सहज ही सोचे जा सकते हैं. उदाहरणतया कतिपय अघोषित-अप्रस्तावित ख्यातिप्रक्रिया कुछ इस तरह भी सोची ही जा सकती हैं : १.सदख्यातिवाद, न्यायकुमुदचन्द्रोदयकार[२] द्वारा अनजाने स्रोतोंसे उद्धृत चार्वाकोंको अभिमत प्रक्रियाके सदृश एक सम्भावित प्रक्रिया, २.सदसद्विवेकाख्यातिवाद प्राभाकरोंको अभिमत ग्रहणस्मरणविवेकाख्यातिवादके तर्जपर !, ३.सदसन्निरुक्त्यख्यातिवाद, शांकरोंको अभिमत सदसदनिर्वचनीयान्यथाख्यातिवादके तर्जपर, ४.असदन्यथाख्यातिवाद तो माध्वोंको अभिमत अभिनवान्यथाख्यातिवादका ही एक सहज पर्याय हो सकता है. ५.स्वदेशकालावस्थित सद्वस्तुका अस्वदेशकालस्थतया अवभासरूप सदन्यथाख्यातिवाद, भाट्ट मीमांसकोंकी निरूपणशैलीमें यह भी ध्वनित होता ही है. इसी तरह ६.स्वयं आत्मख्यातिवादको भी ''ये-ये प्रत्यया: ते-ते निरालम्बना: प्रत्यत्वात् स्वाप्निकप्रत्ययवत्'' सूत्र[३]के अनुसार आत्मेतर असद्वस्तुका आत्मत्वेन अथवा आत्माका अनात्मवस्तुतया अन्यथाख्यान असदन्यथाख्याति अथवा सदन्यथाख्याति की प्रक्रियाके रूपमें भी निहारा जा सकता है. इस तरहकी सम्भावित प्रक्रियाओंकी सूचीको और अधिक बढ़ानेके बजाय जिस छोटेसे तथ्यपर ध्यानाकर्षण अभिप्रेत है वह तो यही है कि सामान्य रूढिके अनुसार प्रचलित धारणा कि ख्यातिवादके मूल प्रकार पांच ही होते हैं[४], यह बहोत सुविचारित धारणा नहीं लगती है. क्योंकि एतद्विषयक विचारके विकासक्रममें कभी पांच होंगे परन्तु एतावता पांच ही प्रकार हो सकते हैं ऐसा सोचा नहीं जा सकता. अत: भ्रान्तिके व्याख्याभेदोंको कभी इस तरह पञ्चतया परिगणित कर लेनेका, तो कभी अख्याति और अन्यथाख्याति रूपी दो ही तरहके ख्यातिवादों[५]के सीमित क्षितिजवृत्तमें ख्यातिचर्चाको परिच्छिन्न बना लेनेका कोई ठोस औचित्य सिद्ध नहीं होता.

इन दोनों आयामोंके परिप्रेक्ष्यमें वाल्लभ वेदान्तमें भ्रान्तिज्ञानका अभिमत स्वरूप जिज्ञास्य हो तो उसे 'अन्यख्याति'के रूपमें प्रस्तावित किया गया है. भगवद्गीतोपदिष्ट ''**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:**''[६] सिद्धान्तके अनुसार वाल्लभ वेदान्तमें न्यायशास्त्राभिमत चतुर्विध अभावोंमेंसे किसी भी प्रकारके अभावको मान्य नहीं रखा गया है. अत: चारों ही प्रकारके अभावोंकी अनुभूतिओंकी व्याख्या यहां आविर्भाव एवं तिरोभाव के आधारपर ही खोजी जाती है. निष्कर्षतया भ्रान्तिज्ञानके विषयका तात्त्विक अभाव ही जब स्वीकार्य नहीं तब भ्रान्तिज्ञानके विषयका असत् होना भी स्वत: अमान्य हो जाता है. ऐसी स्थितिमें सदसदात्मकता सदसदनिर्वचनीयता या शून्यता तो अप्रसक्त ही ठहरते हैं. अत: रह जाती है रामानुज वेदान्तमें अभिमत सत्ख्यातिवादकी

धारणा. उसके बारेमें गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणके ये उद्गार कि

> (१)"तद् अस्माकम् अभीष्टं परं कश्चिद् विशेषो अस्ति"
> (२)"तस्माद् ये पूर्णज्ञानिनः पूर्णयोगिनो वा तेषां सर्वत्र सर्वप्रत्यक्षम् 'अनागतमतीतं च'(भाग.पुरा.१०।६१।२१) इत्यादिवाक्यात्. अतः तेषां ज्ञानस्य यथार्थत्वात् तत्र उक्ता *अख्यातिः* उचिता न सर्वत्र"[७].

इनके अवलोकन करनेपर यह स्पष्टतया समझा जा सकता है कि "तत्र उक्ता" पदोंका अर्थ होगा : पूर्णज्ञानी अथवा पूर्णयोगी को होते अनुभवोंके स्वरूपके सन्दर्भमें रामानुज वेदान्तमें कही गयी सदर्थकी अख्याति उचित हो सकती है. "न सर्वत्र" पदोंका आशय अभाव पदार्थके सैद्धान्तिक अस्वीकारके बावजूद यह तो स्वीकारना ही पड़ता है कि जिनका ज्ञान शास्त्रीय शब्दार्थबोधमात्ररूप हो, अर्थात् साक्षाद् ब्रह्मानुभवमें पर्यवसायी न हो, ऐसे ज्ञान या अनुभव के सन्दर्भमें; अथवा, लोकव्यवहारोपयोगी भ्रम-प्रमा विवेचकोंको होते अनुभवके सन्दर्भमें, अभावबोधकी व्यावहारिक अपेक्षा कुछ न कुछ तो रहती ही है. अतएव स्वयं उपनिषदादि शास्त्रोंमें भी इस व्यावहारिक अपेक्षाकी पूर्ति आविर्भाव-तिरोभावकी प्रक्रियाद्वारा उपदिष्ट हुयी है[८]. अतः व्यवहारमें जहां जिस वस्तुका अभाव प्रतीत होता है वहां उसे तिरोहित माना गया है. सर्वज्ञकी अनुभूति देशकालके क्षितिजके भीतर घिरी नहीं होती; अतः, उन्हें किसीभी वस्तुके कहीं/कभी तिरोहित या अगोचर होनेकी अनुभूति होती नहीं. यों दैशिक या कालिक संसर्गाभावके स्थानपर यह दैशिक या कालिक तिरोभावकी धारणा प्रस्तुत हुयी है. यह तिरोभावकी धारणा तत्तत् नाम-रूप-कर्मोंके वैविध्य अर्थात् तादात्म्याभावकी व्याख्या करनेमें भी सक्षम धारणा है. क्योंकि निखिल नाम-रूप-कर्म सदैकरस ब्रह्ममें प्रकट हुवे माने जाते हैं. स्वयं ब्रह्म सर्व नाम-रूप-कर्मोंका एकाकी निर्वाहक होता है. इस श्रौत धारणाके अनुरूप[९] सभी नाम-रूप-कर्मोंमें ब्राह्मिक सदंश सर्वदा अनुगत रहता है. अतः शुक्तिरूपावच्छिन्न ब्रह्मके

सदंशमें रजतरूप तिरोहित तो रह सकता है परन्तु कभी भी असत् नहीं हो सकता, "तदभिन्नस्य तदभिन्नाभिन्नत्व"न्यायके अनुसार. फिरभी व्यवहारमें शुक्तिशकलको 'रजत'नामसे जाना-पुकारा या स्वीकारा नहीं जा सकता, क्योंकि उस रूपमें वहां रजतरूप और तदनुकूला अर्थक्रिया भी तो ब्रह्मने सृष्टिमें प्रकट नहीं की है. अतः सृष्टिमें ब्रह्मके साक्षात्कार न होनेके कारण हमें शुक्तिरूपके बारेमें 'रजत'नामका प्रयोग प्रामाणिक नहीं लगता. उसका रजतके साथ रहा ब्राह्मिक तादात्म्य भी; अतएव, हमें अनुभूत नहीं हो पाता. न रजतोचित सारे कर्म ही वहां शुक्तिमें प्रकट हो पाते हैं. इस अर्थमें ब्रह्मस्वरूपकी या ब्रह्मतादात्म्यकी और तद्द्वारक वस्तुमात्रके इतरेतरतादात्म्यकी अख्याति स्वीकार्य बनती है. ब्रह्मके अंशिरूपेण इस तिरोभावकी तरह शुक्तीतर नाम-रूप-कर्मोंका भी शुक्तिशकलमें तिरोभाव अख्यातिका आलम्बन बनता है[१०]. शुक्तिमें इसी स्वेतर नाम-रूप-कर्मोंके तिरोधानवश, जो कुछ अवशिष्ट प्रकट या आविर्भूत गुणधर्म हैं, उनके अलावा अन्य किसी या किन्हीं गुणधर्मोंका भान, शुक्तिसे अन्य नाम-रूप-कर्मोंका भान होनेसे उसे 'अन्यख्याति' कहा जाता है. अतः विरुद्धधर्माश्रयरूप ब्रह्मके मौलिक स्वरूपके आयाममें सत्ख्याति स्वीकारी जा सकती होनेपर भी सृष्टिरूप ब्रह्मके सत्यसंकल्पोत्थ अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंके ऐच्छिक द्वैतवश ऐच्छिक अन्यता भी उतनी ही स्वीकार्य है. अतः वही ऐच्छिकी अन्यता अन्यख्यातिका आलम्बन बनती है, ब्रह्मके सर्वभवनसमर्थ तथा सत्यसंकल्प होनेके कारण. इस तरह ब्रह्मके मौलिक स्वरूपकी अनुपाती जो निखिल नाम-रूप-कर्मोंकी इतरेतरात्मकता, उसका अप्रतिभास/अख्याति भ्रान्तिकी कारणकोटिमें समाविष्ट होती है. स्वरूपकोटिमें तो सर्वभवनसमर्थ-सत्यसंकल्प ब्रह्ममें प्रकट ऐच्छिक द्वैत या अपरस्परात्मकता के विचारवश अन्यख्यातिको ही प्रतिष्ठापित किया गया है. इस अख्यातिको प्रभाकरमताभिप्रेत निखिल नाम-रूप-कर्मोंकी मौलिक अपरस्परात्मकताके विवेकके अप्रतिभास या अख्याति से जोड़ देना अतः आवश्यक नहीं रह जाता. अतः श्रीपुरुषोत्तमचरणकी "तत्र उक्ता अख्यातिः उचिता" वचनावलीके सम्यग् विवेचन करनेपर

रामानुजमतोक्त अख्यातिके औचित्यका जो भाव प्रकट होता है उसे भी भ्रान्तिज्ञानकी अपरिहार्य कारणकोटिके सन्दर्भमें ही समझना चाहिये नकि भ्रान्तिज्ञानकी स्वरूपकोटिके सन्दर्भमें.

[२]

वाल्लभ वेदान्ताभिमत भ्रान्तिज्ञानके वादरीत्या उपपादनका भार जैसे गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीने वहन किया, वैसे ही भ्रान्तिज्ञानके कारण एवं स्वरूप की प्रक्रियाओंको मूलभागवतादि प्रमाण तथा तन्मूलक मूलाचार्योके वचनोंके व्याख्यानसन्दर्भके साथ प्रतिपादनका भार लालूभट्टोपनामक श्रीबालकृष्ण भट्टजीने उठाया है. प्रमेयरत्नार्णवके उत्तरार्धमें समाविष्ट ख्यातिविवेकमें तथा निर्णयार्णव(४।६)में इस विषयकी उन्होंने विशद विवेचना की है. इनमेंसे प्रमेयरत्नार्णवमें ग्रन्थकारने शुक्तिरजतादि निरुपाधिक भ्रम और पीतशङ्खादि औपाधिक भ्रम दोनोंको ही अन्यख्यातिके रूपमें ही स्वीकारा है. निर्णयार्णवमें, किन्तु, निरूपाधिक भ्रमको ही अन्यख्यातितया तथा ''पीतः शङ्खः''-''घटो भ्राम्यति'' सदृश औपाधिक भ्रमोंको भ्रम न मान कर भ्रम और प्रमा दोनोंसे भिन्न अन्यथाज्ञानतया स्वीकारनेका प्रतिपादन किया है[११]. इस विचारभेदमें पौर्वापर्यका अर्थात् ''पीतः शङ्खः'' जैसे औपाधिक अवभासोंको पहले भ्रम माना था परन्तु बादमें अन्यथाज्ञान माना अथवा पहले उन्हें अन्यथाज्ञान माना था और बादमें भ्रम, ऐसी ऐतिहासिकी विवेचनाके लिये न तो यहां अवकाश है और न कोई प्रसंगौचित्य ही. फिरभी इतना तो अवश्य कथनीय लगता है कि भागवतकी ''ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत...'' (भाग.पुरा.२।९।३३) ''संशयोऽथ विपर्यासः...'' (भाग.पुरा.३।२६।३०) तथा ''ज्ञानम् एकं पराचीनैः इन्द्रियैः ब्रह्म निर्गुणम् अवभाति अर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा'' (भाग.पुरा.३।३२।२८) कारिकाओंकी सुबोधिनीमें—

१.''यद् वस्तु स्वरूपे अन्यथा प्रतिभासते तद् 'आत्मनां'=जीवानां व्यामोहिका या माया... तस्याः कार्यम्. साहि जीवं व्यामोहयित्वा तत्सम्बन्धिनम् अन्तःकरणबुद्ध्यादि-

कमपि व्यामोहयति. तया व्यामोहिता बुद्धिः पदार्थान् अन्यथा मन्यते नतु पदार्थाः अन्यथा भवन्ति... मायाच द्विधा भ्रमं जनयति : विद्यमानं न प्रकाशयति, अविद्यमानं च प्रकाशयति, देशकालव्यत्यासेन. तद् आह 'अर्थो न प्रतीयते - अर्थम् ऋते प्रतीयते' इति. तस्मात् पदार्थानां याथात्म्यज्ञापनार्थं प्रमाणम् इति उक्तं भवति. ननु वस्त्वेव कुतो न तथा अस्तु? कैश्चिद् वादिभिः जगतो मायिकत्वस्वीकाराद् इति चेद्, भवेद् एतद् एवं यदि विचारे पर्यवस्यति. प्रमाणभूतो वेदः 'सर्वं खलु इदं ब्रह्मे'व इति आह. ब्रह्मविदां प्रतीतिरपि तथा. भ्रान्तप्रतीतेस्तु न अर्थनियामकत्वम्. अन्यथा भ्रमद्दृष्ट्या गृहीतं जगद् भ्रमद्रूपमेव स्यात्. अतो विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या यया दृष्टिः सविषया भवति. अन्यथा पदार्थानां स्थिरत्वाद् भ्रमद्दृष्टिः निर्विषया स्यात्. अतो अन्यत्रैव सिद्धा भ्रमिः मायया पुरःस्थिते विषये समानीयते... साच विषयता द्विधा : आच्छादिका एका अन्यथाप्रतीतिहेतुः च अपरा. सा उभयविधापि माययैव जन्यते...'' (सुबो.२।९।३३).

२.'' 'विपर्यासः'=संस्कारप्राबल्यात्, तेजः तदनुगुणमेव धर्मं प्रकाशयति. 'अथ'=इति एकस्फुरणनियामकत्वाय. विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादकः, क्रियाज्ञानयोः च भिन्नविषयत्वम्. अनेन अन्यख्यातिरेव इति सिद्धान्तः...'' (सुबो.३।२६।३०).

३.'' 'ज्ञानम् एकम्'=इति वस्तुतः सर्वं जगद् बोधान्वयव्यतिरेकानुसरणाद् बोधमात्रम् इति अवसीयते. यः कश्चन लौकिको वैदिकः सर्वोऽपि व्यवहारो बोधएव पर्यवसितइति. यथा सर्वे तरङ्गाः समुद्रे पर्यवसिताः इति. अतः एकमेव ज्ञानं 'पराचीनैः'=प्राकृतैः इन्द्रियैः, व्यापकत्वाद् बृंहणत्वात् च निर्गुणमेव, गुणानां तदतिरिक्तानाम् अभावाद्, घटपटाद्यर्थरूपेण भ्रान्त्या अवभाति. अतः शुक्तिका रजतवत् प्रतिभासतइति आसक्तिः न उचिता. तेहि प्राकृताः

स्वबुद्ध्यनुसारेणैव तद् गृह्णन्ति. एकदेशग्रहणेन स्वस्वभावग्रहणेन च तद् अन्यथा गृहीतं भवति. अतः स्वेन्द्रियधर्माएव तत्र आरोप्य गृह्यन्तइति ख्यातिवादाः बहुविधाः उत्पन्नाः. धर्माणामेव वस्तुतः प्रतिभानमिति अन्यख्यातिः. आधारमपि पुरस्कृत्य तत्र कञ्चनार्थं परिकल्प्य ग्राहकधर्मसम्बन्धाद् अन्यथा इत्यपि आहुः. यथा प्रतीतिः भ्रान्ता तथा कल्पनापीति न अत्यन्तम् आग्रहः...'' (सुबो.३।३२।२८)..

१.उद्धरणमें महाप्रभुने यहां व्यामोहिका मायासे जन्य विषयतारूप दो कार्य गिनाये हैं : (१)विद्यमान वस्तुका अप्रकाशन=आच्छादन अर्थात् अज्ञानविषयता (२)तद्देशकालमें अविद्यमान(तिरोहित)वस्तुका स्वदेशकालव्यत्यासपूर्वक प्रकाशन, अन्यथाप्रतीतिविषयता=अन्यथाज्ञानविषयता. ये दोनों ही भ्रान्तिज्ञानकी उत्पत्तिके हेतु हैं. इस निरूपणमें लक्ष्यमें रखने लायक बात यह है कि 'भ्रान्तिज्ञान'घटक 'ज्ञान'पद प्रतिभास और/अथवा निश्चय के आशयसे प्रयुक्त हुवा पद है. अतएव कतिपय निरुपाधिक भ्रमोंके उदाहरणोंमें प्रतिभास और निश्चय दोनोंमें ही व्यत्यास, अर्थात् इस अर्थमें एकरूपता होती है, अन्य बहोत सारे औपाधिक भ्रमोंमें निश्चय और प्रतिभास के बीच एकरूपता नहीं भी होती है.

२.उद्धरणमें ऐसी स्थितिमें भ्रान्तिज्ञानके स्वरूपकी व्याख्या ''अख्यातिपूर्विका अन्यथाख्याति'' देनेके बजाय महाप्रभुने अन्यख्याति क्यों स्वीकारी? इस आशंकाके समाधानतया यही ज्ञातव्य है कि क्योंकि इन दोनोंके कारण अन्तमें अन्यख्याति ही प्रकट होनी स्वीकारी गयी है, भ्रमात्मिका स्फुरणाके स्वारसिक एकत्वके अनुरोधवश जैसाकि 'एकस्फुरणनियामकत्वाय' पदसे प्रकट हो रहा है; तथा, भ्रान्तिज्ञानजनक अज्ञान या अन्यथाज्ञान के आलम्बनीभूत विषयोंकी और भ्रान्तिज्ञानसे जनित प्रवृत्ति=क्रियाके विषयकी भिन्नताके अनुरोधवश. यह ''विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादकः, क्रियाज्ञानयोः च भिन्नविषयत्वम्'' वचनसे स्फुटतया प्रकट होता ही है.

३.तृतीय उद्धरणपर आपाततः दृष्टिपात करनेपर महाप्रभुका मत या तो मायावादी शांकर वेदान्त अथवा काश्मीर शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन के सदृश लगता है. ब्रह्मको, परन्तु, अखण्डसच्चिदानन्दैकरस माना गया होनेसे ब्राह्मिक चैतन्यके सन्दर्भमें अर्थ और ज्ञप्ति के बीच आत्यन्तिक द्वैत अर्थात् आत्यन्तिक भेदघटित विषय-विषयिभावको अमान्य करनेको महाप्रभुने ऐसी शब्दावलीका प्रयोग किया है. तदनुसार भ्रान्तिज्ञान निरुपाधिक निर्गुण निरवयव व्यापक इन्द्रियातीत बृहद् आत्मचैतन्यरूप स्वयंप्रकाशन (Pure sensitivity or pure consiousnes) नहीं होता है, क्योंकि इस अन्तर्निगूढ मौलिक ज्ञानके स्तरपर तो ज्ञान-ज्ञेयका ही पार्थक्य सिद्ध नहीं हो पाता तो अन्यख्याति कहांसे सिद्ध हो पायेगी? भ्रान्तिज्ञान पुरोवस्थित वस्तुका औपाधिक परन्तु निरवयव निर्विकल्पक प्रकाशन (The simplest atomic unit of experience) भी सिद्ध नहीं हो पाता, शब्द-संस्कारादिजन्य विशेषावगाही राजसतामस गुणवाला सविकल्पक ज्ञान होनेसे[२२]. जैसा कि देख ही चुके भ्रान्तिज्ञानको ज्ञानद्वयराशी (A compound unit of two different experiences) भी स्वीकारा नहीं जा सकता. भ्रान्तिज्ञान तो सविकल्पक प्रमानुभूतिकी तरह निर्विकल्पज्ञानोत्तर जायमाना सविकल्पानुभूति (A single Complex unit of two experiences) का एक प्रकारविशेष है. दोनोंके बीच यदि कोई अन्तर है तो केवल इतना ही रजतप्रमानुभूति, न्यायभाषाके तर्जमें कहना हो तो, ''निर्विकल्पकज्ञानविषयीभूते रजतत्ववति रजतत्वप्रकारको अनुभवः'' होता है; जबकि, रजतभ्रमानुभूति, ''रजततिरोभाववति निर्विकल्पकज्ञानविषयीभूते शुक्तिशकले बुद्ध्याविर्भूतरजतविषयको अनुभवः'' होता है.

किसीभी वस्तु(नाम-रूप-कर्म)का आविर्भाव या तिरोभाव और तन्मूलक प्रकाशन या अप्रकाशन भी या तो सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अभिन्ननिमित्तोपादानताहेतुक होता है अथवा केवल निमित्तताहेतुक. प्रथम कल्पमें वह प्रकाशन तद्देशकालमें आविर्भावरूप होता है और अप्रकाशन तद्देशकालमें तिरोभावरूप. द्वितीय कल्पमें प्रकाशन व्यामोहिका मायासे

बुद्धिके व्यामुग्ध न होनेपर बुद्ध्युपादानक वस्त्वाकारिका वृत्तिके प्रकाशनरूपेण होता है. यह, परन्तु, स्वयं वस्तुके यहां तिरोहित होनेके कारण परोक्ष प्रकाशनरूप ही रह जाता है. व्यामोहिका मायासे, परन्तु, बुद्धिके व्यामुग्ध होनेपर उसमें अतिरोहित वस्त्वधिष्ठानक तिरोहितवस्त्ववगाही मायाकरणक बुद्ध्युपादानक प्रकाशन होता है. इस तिरोहित वस्तुके अतिरोहितया प्रकाशनको अन्यख्यातिरूप माना गया है. इस प्रकाशनमें न केवल करणरूपा बुद्धिकी ब्रह्मात्मकता अपितु सहकारिकारणरूपा भगवच्छक्तिरूपा व्यामोहिका मायाकी भी ब्रह्मात्मकता श्रौत सिद्धान्ताभिमत है. यह एक उजागर तथ्य है कि इस प्रक्रियामें यदि कल्पनागौरवोपम व्यामोहिका मायाको बीचमें न भी लाया जाय तो भी भ्रान्तिज्ञानकी व्याख्या सुचारुतया शक्य है ही. ऐसा करनेपर, परन्तु, वाल्लभ वेदान्त **''यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्याद् इदं भगवान् साक्षात्''** [१३] वचनमें स्वप्रतिज्ञातार्थको भङ्ग करनेका दोषी ठहरेगा. अतः गीतोक्तोपदिष्ट[१४] ज्ञानाज्ञानस्मरणादि सभीमें भगवत्कारणताके सिद्धान्तके निर्वाहार्थ जिस शास्त्रसिद्ध भगवच्छक्तिको बीच लानेसे भगवत्कारणता सिद्ध हो पाये उसका नाम 'व्यामोहिका माया' है. अस्तु, व्यामुग्धबुद्ध्युपादानक कार्यरूप बुद्धिवृत्तिरूप प्रकाशनकी भी ब्रह्मात्मकता तो निःसन्दिग्ध ही है[१५]. फिरभी तद्देशकालमें तिरोहित नाम-रूप-कर्मका वहां अतिरोहिततया भान या ज्ञान अन्यख्यातिरूप माना गया है, यह भ्रमभात अन्य विषयकी ब्रह्मात्मकताके निरसनार्थ नहीं प्रत्युत निर्वाहार्थ सोची गयी उपपत्ति है. इसमें तद्देशकालमें विद्यमानका अप्रकाशन और तद्देशकालमें अविद्यमानका प्रकाशन भगवच्छक्तिरूपा व्यामोहिका मायाके कार्य हैं. संक्षेपमें भगवान्‌की अनेकानेक शक्तिओंमें आविर्भाव-तिरोभावशक्ति और व्यामोहकशक्ति भी अन्यतम शक्तियां हैं[१६]. इनमेंसे प्रथमशक्तिप्रकाशित नाम-रूप-कर्म सच्चिदानन्द अंशी ब्रह्मके सदंशोपादानक चिदंशोपादानक या आनन्दांशोपादानक होनेपर आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदैविक नाम-रूप-कर्मोंको ब्रह्मोपादानक भी ब्रह्मकर्तृक भी माना जाता है[१७]. ये सत्ख्यातिके विषय होते हैं. द्वितीय व्यामोहिका शक्तिद्वारा प्रकाशित नाम-रूप-कर्म, जो सदंशभूत

बुद्धि तदुपादानक होनेसे स्वरूपतः सद्रूप होनेपर भी, तद्देशकालस्थ तिरोभावशक्तिद्वारा अख्यातिगोचर बनाये गये होनेके कारण पर्यवसानमें अन्यख्यातिगोचर होते माने गये हैं.

यह श्रीलालूभट्टजीको निरुपाधिक और औपाधिक उभयविध भ्रमज्ञानमें समानरूपेण स्वीकार्य होना चाहिये था. निर्णयार्णवमें, किन्तु, ग्रन्थकारद्वारा औपाधिक प्रतीतिओंको अन्यथाज्ञान मान कर उसे भ्रमप्रमासे भिन्न माननेके विधानका अभिप्राय बुद्धिमें सहसा आरूढ़ नहीं हो पाता है. निष्कर्षतः वाल्लभ वेदान्तके अनुसार अज्ञान और अन्यथाज्ञान अन्यख्यातिरूप भ्रान्तिके व्यामुग्ध पुरुषगत हेतुद्वय हैं नकि भ्रान्तिके लक्षणोपम स्वरूप.

[३]

औपाधिक भ्रान्तिज्ञान या प्रमाज्ञान के सन्दर्भमें किसी पदार्थका उपाधि होना या ज्ञानकरणोंका सहकारी कारण या करण होना, ज्ञानोत्पत्त्यनुकूल औत्सर्गिकी अपेक्षा या आपवादिकी अपेक्षा के विचारवश सामान्यतया स्वीकार लिया जाता है. ऐसा परन्तु निरपेक्षतया निर्धारित कर पाना अतीव दुष्कर होता है. क्योंकि शुद्ध जीवात्मचैतन्यकी स्वयंप्रकाशताका विचार करनेपर तो स्वयं सविकल्पक प्रत्यक्षप्रमाको भी न केवल इन्द्रिय-मनो-बुद्ध्यहंकारसंनिपातौपाधिक अपितु शब्द-संस्कारालोकाद्युपाधिजन्य भी होनेके कारण औपाधिक ज्ञान ही मानना पड़ता है[१८], जैसाकि वहां वचन भी उद्धृत किया ही गया है **''चक्षुषा आलोच्य वस्तूनि विकल्प्य मनसा तथा 'अहं'मत्यापि अहङ्काराद् बुद्ध्यैव ह्यध्यवस्यति''** (लक्ष्मीतन्त्र : १३।३४).

भारतवर्षमें योगाचार-माध्यमिक बौद्धोंने एवं शांकर वेदान्तिओंने भी शब्द-संस्कारादिकी उपाधिसे जन्य होनेके कारण सभी सविकल्पक प्रमानुभूतिओंको शुद्ध प्रत्यक्षप्रमा माननेके बजाय भ्रमानुभूतिके निम्न स्तरपर

उनकी पदावनति की है. पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तनमें भी सर्वप्रथम लॉक (Locke) ने प्रत्यक्षगोचर पदार्थोंके प्राथमिक गुणधर्म और आनुषंगिक गुणधर्मों के पार्थक्यकी उद्भावना प्रस्तुत की थी. उसके बाद तो बर्कले और ह्यूम के भी उसी दिशामें अग्रसर होनेके कारण अनुभववादी (Empiricistic) और कल्पनावादी (Idealistic) लेखनपरम्पराका दौर चल पड़ा. अन्ततः ब्रेड्ले, बर्ट्रेन्ड रसेल, ए.जे.एयर आदि चिन्तकोंके भी आगे आनेपर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (Sensation) सविकल्पक प्रत्यक्ष (Perception) और सामान्यप्रत्यक्ष (Conception) की एकार्थावलम्बिता अस्वीकार्य ही मानी जाने लगी. अतः अनुभूतिके उल्लिखित तीन प्रकारोंमेंसे अन्तिम दो प्रकार शुद्ध प्रत्यक्षतया मान्य नहीं रह गये. यद्यपि इसी अवधिमें वहां यूरोपमें यथार्थवादी चिन्तक भी अवश्य हुवे परन्तु वह दूसरी कथा है.

प्रस्तुत विचारकी ही दिशामें आगे बढ़नेको यह अवधेय है कि लोकव्यवहारातीत शास्त्रैकगम्य निरुपाधिक शुद्ध आत्मचैतन्यके सन्दर्भको थोड़ीसे दैरके लिये भूल कर लोकव्यवहारानुगुण प्रामाण्यकी परिधिमें ही इस विमर्शको सीमित रखते हुवे कुछ सोचना हो तो आधुनिक कालमें खोजे गये अनेक वैज्ञानिक उपकरण कुछ अन्य ही तथ्योंपर हमारा ध्यान बरबस आकृष्ट करना चाहते हैं. उदाहरणतया प्राचीन कालमें प्रायः विवादरहित मानी जाती सांख्यकारिकाकी धारणा—

> "[१]अतिदूरात् [२]सामीप्याद् [३]इन्द्रियघाताद् [४]मनोऽनवस्थानाद्
> [५]सौक्ष्म्याद् [६]व्यवधानाद् [७]अभिभवाद् [८]समानाभिहारात् च...
> अनुपलब्धिः न अभावात्..."
>
> (सांख्यकारि.७)

इनमें कारिकोक्त देशदोषरूप [१]अतिदूरता और [२]समीपता, इन्द्रियदोषरूप [३]इन्द्रियघात और [४]मनोऽनवस्थान, विषयदोषरूप [५]सूक्ष्मता; और अन्तमें, अर्थान्तरदोषरूप [६]व्यवधान [७]अभिभव और [८]समानाभिहार, इन और ऐसे

अन्य भी प्रत्यक्षबाधकोंकी बाधकताको अकिञ्चित्कर बनानेवाले वैज्ञानिक उपकरणोंके अब निर्मित हो जानेसे इस दिशामें पुनश्चिन्तन सद्योऽपेक्षित लगता है.

उदाहरणतया देशदोषको अकिञ्चित्कर बनानेवाले टेलिस्कॉप दर्पण आदिके प्रयोगद्वारा अतिदूर और अतिसमीप को अब प्रत्यक्ष निहारा जा सकता है. इन्द्रियदोषोंको भी चश्मा कॉन्टेक्ट-लेंस आर्टिफिशियल कॉर्निया-रिप्लेसमेंट हिअरिंगएड्ज़ आदि उपायोंद्वारा तथा मनोऽनवस्थानरूप दोषको संमोहनविज्ञानपर हुवे संशोधनोंके आधारपर भी अकिञ्चित्कर बनाया जा सकता है. इन उपकरणोंद्वारा होते प्रत्यक्षको व्यवहारमें औपाधिक भ्रम मानना या औपाधिक प्रमा? विषयदोषरूप सूक्ष्मतापर भी माइक्रोस्कॉपके उपयोगद्वारा काबू पाया जा सकता हो तो ऐसे सूक्ष्मवस्तुओंके प्रत्यक्षको भ्रम मानना या प्रमा? अर्थान्तरदोषरूप [६]व्यवधान [७]अभिभव और [८]समानाभिहार की समस्याओंका निराकरण टेलिकास्टिंग एक्सरे सोनोग्राफी राडार आदि आधुनिक उपकरणोंद्वारा शक्य हो जानेके कारण इनसे होते प्रत्यक्षको औपाधिक प्रमा मानना या औपाधिक भ्रम यह अब निरतिशय विचारणीय विषय हो गया है.

प्राचीन कालमें विकल्पावगाही ज्ञानोंके सारे प्रकारोंको, भारतीय बाह्यार्थापलापवादिओंने, भ्रान्तिरूप मान कर जिसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष माना वह निर्विकल्पक प्रमा भी, अब चाक्षुष प्रत्यक्षकी आधुनिक विज्ञानके अनुसार जो व्याख्या प्रकट हुयी है, तदनुसार कितनी विकल्पावगाहनरहित है, यह विचारणीय हो गया है!

आधुनिक दृष्टिविज्ञानविदोंके अनुसार चाक्षुषप्रत्यक्षगोचर होनेवाली वस्तुके साथ उसके वर्ण (color), आकृति (shape), परिमाण (size), प्रकार (pattern), दैशिकी स्थिति (position) और वस्तुके गतिमान होनेपर गति (movement) भी प्रत्यक्षगोचर होती मानी जाती हैं. इनमें

सर्वप्रथम वर्णप्रत्यक्षके ही विवेचनामें यह कहा जाता है कि वर्ण न तो बौद्धिक कल्पना है और वस्तुनिष्ठ गुणधर्म. वर्ण, आधुनिक विज्ञानके अनुसार, प्रकाशतरङ्गोंकी विविध लंबाई और उनके प्रति संवेदनशील नेत्रपटलमें लगे हुवे शंकु, शलाका और शंकु+शलाका के पारस्परिक उत्तेजन और संवेदन के कारण प्रकट होता औपाधिक चाक्षुष प्रतिभास है. एतावता जे.पी.गिलफॉर्ड कहते हैं:

> "न तो प्रकाशतरङ्ग दिखलायी देती हैं, और न उनसे उत्तेजित होनेवाला नेत्रपटल, और न उसे मस्तिष्कके साथ जोड़नेवाला नाड़ीतन्त्र ही, और न उन नाड़ीतन्त्रोंसे मस्तिष्कको मिलनेवाले सन्देश ही हम देख पाते हैं. फिरभी इन प्रक्रियाओंके कारण विभिन्न वर्णोंको देख पाते हैं. ये प्रकाशतरङ्ग, नाड़ीतन्त्रिकोत्तेजन और वर्णतत्त्व प्राकृतिक ऊर्जाकी तीन सर्वथा विभिन्न घटनायें हैं, यह कभी भूलना नहीं चाहिये".[१९]

स्पष्ट है कि ऐसी स्थितिमें यथार्थवादी चिन्तकोंका वर्णके वस्तुगत गुणधर्म होनेका दावा और कल्पनावादी चिन्तकोंका वर्णके कल्पनामात्र होनेका दावा, दोनों ही एकहेलया निरस्त हो जाते हैं. इस सन्दर्भमें एक सहज स्पष्टीकरण, परन्तु, भगवद्गीता और भागवतपुराण के अनुसार हमें यह भी मिलता ही है : "**पृथक्त्वेनतु यद् ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्**", "**रजो वैकल्पिकं...स्मृतम्**" "**सन्निपातस्तु 'अहम्'इति 'मम'इति... या मतिः, व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः**"[२०]. यों आत्मचैतन्यके स्वरूपको दृष्टिगत रखनेपर विकल्पावगाही ज्ञान औपाधिक तो हो सकते हैं परन्तु एतावता उनका स्वप्नज्ञानोपम निरालम्बन होना या सदसदनिर्वचनीयविषयालम्बनक होना आवश्यक नहीं लगता. भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यने इस बारेमें जो प्रभावशाली वक्तव्य दिया है वह सर्वथा अविस्मरणीय लगता

है. वे कहते हैं—

> "यद् उक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवद् जागरितगोचराअपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्यार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषाद् इति, तत् प्रतिवक्तव्यम्. अत्र उच्यते न स्वप्नादिप्रत्ययवद् जाग्रत्प्रत्ययाः भवितुम् अर्हन्ति. कस्मात्? वैधर्म्यात्. वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः. किं पुनः वैधर्म्यम्? 'बाधाबाधौ' इति ब्रूमः. बाध्यतेहि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य... नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदपि अवस्थायां बाध्यते. अपिच स्मृतिः एषा यत् स्वप्नदर्शनम्—उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्... तत्र एवं सति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिः उपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवद् इति उभयोः अन्तरं स्वयम् अनुभवता. नच स्वानुभवापलापः प्राज्ञमानिभिः युक्तः कर्तुम्. अपिच अनुभवविरोधप्रसङ्गाद् जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरालम्बनतां वक्तुम् अशक्नुवता स्वप्नसाधर्म्याद् वक्तुम् इष्यते. नच यो यस्य स्वतो धर्मो न भवति सो अन्यस्य साधर्म्यात् तस्य सम्भविष्यति. नहि अग्निः उष्णो अनुभूयमानः उदकसाधर्म्यात् शीतो भविष्यति. दर्शितन्तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः".
>
> (ब्र.सू.शां.भा.२।२।२९)

अतएव आधुनिक दृष्टिविज्ञान भी लौकिक व्यावहारिक प्रत्यक्षोंकी औपाधिकता=सन्निपातरूपताका तो समर्थन करता है परन्तु बाह्यार्थके सर्वथा कल्पित होनेकी कथा तो आधुनिक विज्ञानान्वेषणोंको कल्पनावादी और/अथवा अनुभववादी पूर्वाग्रहसे ग्रस्त हो कर निहारनेकी मनोवृत्तिका ही परिणाम लगता है. चाक्षुषप्रतिभासके आयोजनकी मीमांसामें आधुनिक विज्ञानने कुछ बाह्य और कुछ आभ्यन्तर घटकोंका प्रयोगान्वेषण किया है. तदनुसार बाह्य दृश्यवस्तुमें [१]सामीप्य (Contiguity), [२]सादृश्य (Similarity), [३]सातत्य (Continuity), और [४]अन्तर्भाव एवं परिच्छिन्नता (Inclusiveness and Closure), ये चार चाक्षुषप्रत्ययके बाह्य घटक माने हैं. इसी

तरह [२]परिचितता (Familiarity), और [३]मानसवृत्ति (Mental set) ये आभ्यन्तर घटक माने हैं[२१]. इनमें सुस्पष्टतया देखा जा सकता है कि सामीप्य सादृश्य सातत्य और अन्तर्भाव-परिच्छिन्नता दृश्यमान वस्तुके दृष्टनिरपेक्ष दृष्टि-आयोजक बाह्य वास्तविक धर्म हैं नकि दृष्टपरिकल्पित आभ्यन्तर घटक.

जो बात वर्णके चाक्षुष प्रतिभासके बारेमें कही गयी है, वही थोड़े-बहोत हैरफेरके साथ आकृति, परिमाण, प्रकार, दैशिकी स्थिति, और गति के बारेमें भी कही जा सकती है. क्योंकि आधुनिक विज्ञान चक्षुको प्राप्यकारी तो मानता नहीं है. सर्वप्रथम पुरोवर्ती वस्तुसे परावृत्त प्रकाश नेत्रगोलकके पारदर्शी आवरण (Cornia)में प्रविष्ट होता है. उसके बाद तदन्तर्वर्ती संकोचविकासशील आवरण (Iris) के मध्यवर्ती नेत्रगोलकविवर (Pupil)में प्रविष्ट होता है. वहांसे तत्पार्श्ववर्ती पारदर्शी नेत्राण्डक (lens)में प्रविष्ट होता है. वहांसे नेत्रपटलान्तर्घटक प्रकाशके न्यूनता/आधिक्यके अनुसार कृष्ण/श्वेत वर्णानुभाविका शलाकाओं (Rods)को और लाल-केसरी-पीत-हरित-नील-बेंगनी वर्णोंके अनुभावक शंकुओ (Cones)को उत्तेजित करता है. तब उन्हें मस्तिष्कसे जोड़नेवाली नाड़ियों (Optic nerves)के द्वारा; और, उनके संगमस्थल (Optic Chiasma)की दृश्यसंयोजनात्मिका प्रक्रियाद्वारा स्वयं मस्तिष्कान्तर्गत नेत्रप्रकोष्ठ (Visual Cortex) पर्यन्त तदनुसारी सन्देश पहुंचता है. इस लंबी प्रक्रियाके अन्तमें परिणामतया चाक्षुष प्रतिभास सम्पन्न होता माना जाता है[२२].

प्रकाशावभासनकी इस प्रक्रियाकी खोजके वृतान्त प्रकट होते ही अनुभववादी और कल्पनावादी चिन्तकोंने दूनें उत्साहसे यह कहना शुरु कर दिया कि सारे वर्णादि गुणोंका प्रतिभास वास्तविक न हो कर या तो विभिन्न निर्विकल्पक अनुभूतिओंका केवल मानसिक संघातमात्र है अथवा ये गुण बौद्धिक कल्पनामात्र हैं. हम जानते हैं कि केमेराके भीतर न तो मन होता है और न बुद्धि फिरभी हमारे नेत्रोंकी

संरचनाके अनुकरणद्वारा निर्मित होनेमात्रसे उसमें भी वही चित्र प्रतिबिम्बित हो जाता है, कृष्ण-श्वेत (achromatic) भी और बहुवर्णी (chromatic) भी. अतः वर्णोंकी सत्ता वस्तुनिष्ठ हो या न हो परन्तु वर्णोंको मानसिक संघात (असत्ख्याति) या कल्पनामात्र (सदसदनिर्वचनीयख्याति) मान लेनेकी बात प्रामाणिक नहीं लगती है. इस तर्कको केवल वर्णानुभूतिमें ही पर्यवसित होता न मान कर आकृति परिमाण दैशिक स्थिति और गति के प्रतिभासोंपर भी प्रभावशाली मानना चाहिये. समानयोगक्षेमन्यायेन यही कथा ध्वनि गन्ध स्वाद और स्पर्श के प्रत्यक्षोंके बारेमें भी सोची जा सकती है. अर्थात् इन प्रत्यक्षोंको भी औपाधिक ख्याति मान लेनेपर भी आत्मख्याति असत्ख्याति अन्यथाख्याति अनिर्वचनीयख्याति या अख्याति इन्हें माना नहीं जा सकता. रही बात अन्यख्यातिकी तो उसकी चर्चा आगे करना चाहेंगे. अस्तु.

प्रकृतानुसरणार्थ इस क्रममें यदि कोई विषय ही प्रकाशका अन्तःशोषण कर ले, अथवा प्रकाशकी यात्रामें कृत्रिम या अकृत्रिम व्यवधान उपस्थित हो जाये, अथवा नेत्रगोलकके पारदर्शी आवरण या तदन्तर्वर्ती संकोचविकासशील आइरिसके भलीभांति कार्यकारी न होनेपर, या पारदर्शी नेत्राण्डक-लेंसमें किसी तरहकी गड़बड़ी हो जानेपर, अथवा इस लेंस और नेत्रपटलके बीच भरे पारदर्शी लचीले पदार्थ (Vitrous Humor)में, या नेत्रपटलान्तर्वर्ती शंकु-शलाकाओंके न्यूनाधिक्यमें अथवा इनसे जुड़ी नाड़िकाओंके प्रमादी हो जानेपर, अथवा मस्तिष्कान्तर्वर्ती नेत्रप्रकोष्ठके स्वयं आघातादि हेतुओंके कारण अस्वस्थ हो जानेपर [२३] न तो निर्विकल्पक चाक्षुष प्रतिभास और न सविकल्पक ही सम्भव रह जाता है. ऐसी स्थितिमें चाक्षुषकिरणोंका नेत्रद्वारसे पुरोवस्थित, या दोषवशात् अपुरोवस्थित, विषयदेश पर्यन्त गमन और वहां जा कर सद् असद् सदसद् अथवा सदसदनिर्वचनीय विषयाकारसे आकारित होनेकी कल्पनाको अब आधुनिक विज्ञान स्वीकारनेको उद्यत नहीं. ऐसी ही प्रक्रियान्तर श्रावण, रासन आदि प्रत्यक्षके भी प्रकारोंके बारेमें आधुनिक विज्ञानने ध्वनितरङ्ग आदिकी खोजके आधारपर प्रकट

की है.

लौकिक विषयोंके बारेमें भी शास्त्रवचनोंको ही परमप्रमाण माननेकी विचारशैलीमें तो लौकिक वस्तुके लौकिकप्रमाणोंसे अग्राह्य किसी शब्दैकगम्य पक्षकी धारणा या प्रत्युपपत्ति प्रस्तुत की जा सकती है. लौकिक विषयोंमें, परन्तु, शास्त्रवचनोंको सर्वथा अनुपयोगी मान कर प्रत्यक्षानुमिति और लाघव-गौरवके तर्कोंपर ही अवलम्बित होनेवाली चिन्तनशैलीके समक्ष असकृत् प्रयोग-परीक्षणसिद्ध वैज्ञानिक तथ्योंसे विरोधकी समस्या नूतन परिभाषा, नूतन प्रक्रियानिर्देश और नूतन हेतुनिर्देश रूपी प्रतीकारोंकी विकट मांग प्रस्तुत कर रही है.

१९ वीं शताब्दिके मध्यमें आंग्ल सैद्धान्तिक-भौतिकीविद् जेम्स क्लर्क मेक्सवेलकी इस खोजके बाद कि प्रकाश तो केवल उस व्यापक इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक क्षेत्रविस्तारमें घटित होते उत्किरणका एक क्षुद्र अंश है जो चक्षुर्भास्य होता है[२४], इससे वैचारिक जगत्का पूरा चित्र ही बदलना शुरु हो गया. क्योंकि अब प्रकाश दृश्य द्रव्य न रह कर ऊर्जाके रूपमें परिभाषित होने लगा. परवर्ती मेक्स प्लेंक, नील्स बोह्र, अल्बर्ट आईन्स्टीन, लूइस द ब्रॉग्ली, वेर्नर हैज़नबर्ग, एरविन श्रॉडिंगर आदि अनेक वैज्ञानिकोंके संशोधन-अन्वेषणोंके कारण, कहा जाता है कि, उक्त इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक उत्किरणोंमें तरङ्गरूपता और आणविकगुच्छरूपता यों उभयविध विरुद्धधर्माश्रयताका स्वभाव प्रकट होता पाया गया. इस कारण अल्बर्ट आईन्स्टीनने द्रव्य, दैशिक अवकाश, ऊर्जा, काल और गतिकर्म के परस्पर सापेक्ष होनेकी धारणा प्रस्तुत की. एतावता यद्यपि द्रव्यका ऊर्जामें रूपान्तरण तो प्रयोगसिद्ध भी हो गया है परन्तु तोभी अभी तक ऊर्जाके द्रव्यमें रूपान्तरणकी शक्यता विवादग्रस्त विषय है. हर सूरतमें इतना तो निश्चिततया कहा ही जा सकता है कि द्रव्यके चक्षुर्ग्राह्य भाव या अभाव अब द्रव्यकी सत्ता या असत्ता के निश्चित प्रमापक हेतु रह नहीं गये हैं! ऐसी स्थितिमें जड़ या चेतना के

एक-दूसरेसे बाह्य भावाभावोंकी कल्पनाके वश किसी एक या दूसरे की सत्ता या असत्ता की चर्चा अब अनवसरपराहत होने जा रही है. क्योंकि जड़ और चेतन दोनों ही इस इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक व्यापक ऊर्जाक्षेत्रविस्तारके सातत्यके अद्वैतमें आविर्भूत-तिरोभूत होते केवल नाम-रूप-कर्मोंके द्वैतमात्र रह गये हैं. यद्यपि उत्तरकालीन अन्वेषणोंमें इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक व्यापक ऊर्जाक्षेत्रविस्तारके अलावा भी इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक ऊर्जासे भी पूर्वसिद्ध गुरुत्वाकर्षण ऊर्जा जो द्रव्यसंघातोंके बीच पारस्परिक आकर्षणका हेतु होती है. इसी तरह अशक्त नाभीकीय ऊर्जा जो रेडियोएक्टीविटीके हेतुतया उत्प्रेक्षित हुयी है. और सशक्त नाभीकीय ऊर्जा जो परमाणुओंके मध्यवर्ती प्रॉटोन और न्यूट्रोन के भीतर घटक क्वार्क्स्को जोड़नेवाली सशक्त नाभीकीय ऊर्जाके रूपमें उत्प्रेक्षित हुयी है. यों तीन और ऊर्जाओंको जोड़ कर ऊर्जाचातुर्विध्यका स्वीकार एक आवश्यक उत्प्रेक्षा मान ली गयी[२५]. परन्तु पुनः कई वैज्ञानिक अन्वेषणोंमें अशक्त नाभीकीय ऊर्जा और इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक ऊर्जाके सफल एकीकरणके आधारपर इन दोनों ऊर्जाओंके भी सशक्त नाभीकीय ऊर्जाके साथ एकीकरणद्वारा एक महान् एकीकृत प्रक्रियाको खोजनेके प्रयास भी चल रहे हैं. अभी कैसे-क्या कहा जा सकता है कि कब इन चारोंके भीतर काम करती कोई एक ही ऊर्जा वैज्ञानिकोंको मिल ना जाये! यहां तुलनीय हो जाता है कि भागवतपुराण (२।५।१४) भी **"द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीवएव च वासुदेवात् परो... नच अन्यो अर्थो अस्ति तत्त्वतः"** निरूपणद्वारा कुछ इसी तरहके ब्रह्माण्डका मॉडल प्रदर्शित करना चाहता है. खुलासाके तौरपर कुछ मोटे समीकरण स्वीकार कर चलें कि "द्रव्य=Matter", "कर्म=Kinetic Energy", "काल=Time", "स्वभाव=Static Energy", और "जीव=Consciousness", यों भागवतीय तत्त्वोंके समकक्ष आधुनिक वैज्ञानिक तत्त्वोंको निहारें तो सैद्धान्तिक चोखटके भीतर जो चित्र प्रकट होता है वह यही कि "अन्यो अर्थो तत्त्वतो नास्ति" अर्थात् अनेकविध नाम-रूप-कर्मात्मक ही ये सारे भेद हैं.

उक्त इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक क्षेत्रका स्वरूप आधुनिक विज्ञानके अनुसार यों माना गया है :

इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक तरङ्गविस्तारका व्यापकक्षेत्र[२६]

लघुतरंग ⟵ तरंगदैर्घ्यसारणी ⟶ दीर्घतरंग

गामा एक्सरे परार्धेंगनी । चक्षुर्ग्राह्य । रक्तान्तरित । राडार रेडियो-टेलिविज़न ब्रॉडकास्टवेंड

इन विविध किरणोंके प्रभेद इनकी पृथक्-पृथक् तरंग-लंबाई मात्रके आधारपर निर्भर होते हैं. और हम देख सकते हैं कि दृश्य और श्रव्य का प्रभेद भी केवल तरंगोंकी पृथक्-पृथक् लंबाईओंका ही भेद है. न केवल इतना प्रत्युत श्रव्य तरंगोंके द्वारा दृश्यावभासन भी शक्य हो गया है. अतः पदार्थोंके बीच अथवा उनके गुणधर्मोंके बीच परस्पर आत्यन्तिक भेदकी धारणा आधुनिक चिन्तनका विषय होनेके बजाय भूतकालिक दर्शनेतिहासका विषय बनने जा रही है. अतः **"ब्रह्मैव इदं विश्वम्" "ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्" "सएव इदं सर्वम्" "तत् सर्वम् अभवत्" "पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्" "सवै सर्वम् इदं जगत्" "यच्च किञ्चिद् जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" "सर्वं सर्वमयम्"**[२७] आदि अनेकानेक उपनिषद्वचनोंका उद्घोष कि सर्वत्र भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्य ही है और वही शनैः-शनैः आधुनिक विज्ञानमें भी मान्य होता जा रहा है. अस्तु.

प्रकृतानुसरणार्थ इस इलेक्ट्रॉमेग्नेटिक तरंगविस्तारमें अवस्थित चक्षुसे अग्राह्य तरङ्गोंको न केवल प्रकट किया जा सकता है अपितु उन्हें देख-सुन पानेके उपकरण भी अब उपलब्ध होते ही हैं. अतः अब इन उपकरणोंसे ग्राह्य पदार्थोंको भ्रमविषय या प्रमाविषय मानना? यह सोचनेको अब बाधित होना ही पड़ता है. दस करोड़ प्रकाशवर्षकी

दूरीपर अवस्थित किसी पिण्डके दस हजार वर्षपूर्व विनष्ट हो जानेके बाद भी आज-अभी उसकी प्रात्यक्षिकी प्रमा, **"अनागतम् अतीतं च वर्तमानम् अतीन्द्रियं विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः"** (भाग.पुरा.१०।६१।२१)न्यायेन प्रकट हो सकती है. अवधेय है कि 'सम्यक्' अर्थात् "नतु असदनिर्वचनीयान्यथाख्यात्यादिरूपेण".

अतः चाक्षुष श्रावण स्पार्शन आदि प्रत्यक्षोंके निरुपाधिक एवं औपाधिक प्रमाओंके प्रभेद, निरुपाधिक और औपाधिक भ्रमोंके प्रभेद, स्वाप मूर्छा मस्तिष्काघात औषधादिजन्य भ्रम सम्मोहन आदि रूपोंमें घटित होती अनुभूतिओंके विविध प्रकारोंका पुनर्मूल्यांकन आवश्यक लगता है.

[४]

आधुनिक मनोविज्ञानमें, अतएव. ख्यातिकी चर्चाके अन्तर्गत —

(१)साधारणभ्रान्ति (Normal illusions)
(२)असाधारणभ्रान्ति (Abnormal illusions)
(३)निरधिष्ठानकभ्रान्ति (Hallucination)

यों मूलमें तीन प्रभेद दिखलाये जाते हैं. इनमें साधारणभ्रान्तिके भी कई उपभेद उपलक्षणविधिसे यों दिखलाये हैं : (१/क)समकालिक वैसादृश्यमूलक भ्रान्ति, उदाहरणतया, समान परिमाणके दो वर्तुलोंमेसे एकको लघुपरिमाणवाले वर्तुलोंसे चारों घेर लेनेपर और दूसरेको दीर्घपरिमाणवाले वर्तुलोंसे घेर लेनेपर एक बड़ा और दूसरा छोटा दिखलायी देता है. (१/ख)पूर्वोत्तरकालिक वैसादृश्यमूलक भ्रान्ति उदाहरणतया ३० सेन्टीमीटरकी एक मुड़ी हुई रेखाको एकाग्रदृष्टिसे कुछ देर तक निहारनेके बाद तुरत सीधी रेखापर दृष्टिपात करनेपर वहभी मुड़ी हुई दिखलायी देने लगती है. (१/ग)भौमितिक भ्रान्तियां, इनके अन्तर्गत भी समान होनेपरभी उन्नताकृति तिर्यगाकृतिकी तुलनामें ज्यादा लंबी लगती है.

अधिकावकाशव्यवहित आकृति समान होनेपर भी अल्पावकाशव्यवहित आकृतिकी तुलनामें दीर्घ परिमाणवाली लगती है. दो समान परिमाणवाले अंशोंमेंसे एकको अपेक्षाकृत महत्परिमाणवाले अंशीमें योजित किया जाये और दूसरेको अल्पपरिमाणवाले अंशीमें योजित किया जाये तो महदंशीका अंश महत्परिमाणवाला लगता है. कभी-कभी अंशीके प्रतिभासकी प्रधानताके वश अंशका अप्रतिभास भी हो जाता है तो कभी-कभी अंशके प्रतिभासकी प्रधानताके वश अंशीका भी अप्रतिभास हो जाता है. दो समानान्तर रेखाओंपर बाह्यकोण या आन्तरकोण वाली रेखाओंका न्यास करनेपर बाहर या भीतर की ओर चौड़ी होती या सिकुड़ती वे लगने लगती हैं. हल्के रंगकी आकृति गहरे रंगकी आकृतिकी तुलनामें महत्परिमाणवाली लगती है. ये ऐसी भ्रान्तियां है जो सभीको साधारणरूपेण होती ही हैं, नभोनैल्य या इन्द्रधनुष के प्रतिभासकी तरह. इन औपाधिक प्रतिभासोंको 'भ्रान्ति' इसलिये कहा जाता है क्योंकि अन्य परीक्षणोंके आधारपर इनमें भासित होते विषय बाधित हो जाते हैं[२८]. इस तरहके प्रतिभासोंमें बाह्य उपाधिवश प्रतीत होते तथ्यसे अवगत होनेपर भी ऐसा अवभास निवृत्त नहीं हो पाता, जबकि अन्य प्रमाणोंके आधारपर वैसा न होना भी सिद्ध होता है. अतः इन्हें 'साधारणभ्रान्ति' कहा जाता है.

प्रस्तुत लेखकको इस विषयमें आग्रहके साथ इतना ही कथनीय लगता है कि 'साधारणभ्रान्ति' नामसे पुकारे जाते इन प्रतिभासोंको मानसिक संघात या बौद्धिक कल्पना अर्थात् असत्ख्याति या आत्मख्याति या अनिर्वचनीयख्याति के अर्थोमें भ्रान्तितया स्वीकार लेनेकी धांधल नहीं करनी चाहिये. क्योंकि मनोबुद्ध्यहंकारचित्तरहित केमेरा भी इन तथाकथित भ्रान्तिप्रतिपन्न वस्तुओंका चित्र वैसा ही प्रकट करता है, जैसा कि सभी साधारणजनोंको प्रतिभास होता है. निर्वस्त्र दिगम्बर शुकादिसदृश अवधूत मुनियोंके साक्षात्कारकी तुलनामें वल्कलादि वस्त्ररूप विशेषणादिविशिष्ट उनके पूर्वज वशिष्ठ पराशर व्यास आदि मुनियोंके

साक्षात्कारको, केवल विकल्पावगाही होनेके दोषवश, क्या अनिर्वचनीयख्याति या असत्ख्याति रूपा भ्रान्ति माना जा सकता है! क्या शुकादिसदृश दिगम्बर अवधूतोंके ही साक्षात्कारको, केवल निर्विकल्पावगाही ज्ञान होनेके गुणवश, प्रामाणिक माननेका सिद्धान्त स्वीकारा जा सकता है? अतः 'साधारणभ्रान्ति'के रूपमें कहे जाते इन प्रतिभासोंको क्यों न 'औपाधिकप्रमा' नामसे पुकारना चाहिये? न्यायमतके अनुसार इतना तो स्पष्ट ही है कि वस्त्र और वशिष्ठादि मुनियों के बीच समवाय सम्बन्ध न होनेसे किसी साक्षात्कारमें वस्त्रवैशिष्ट्यकी तो अन्यथा वस्त्राभाववैशिष्ट्यकी प्रमा भी सम्भव तो है ही! अतः इन्हें अनुभूयमान वस्तुओंके स्वाभाविक गुणधर्म माननेके बजाय आगन्तुक गुणधर्म माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है? यह धैर्यपूर्वक विमर्श करना चाहिये.

भारतीय ख्यातिविचारके सन्दर्भमें "अधिष्ठानके यथार्थ ज्ञानसे निवर्त्य शुक्तिरजतसदृश भ्रम"को निरुपाधिक भ्रम माना गया है; जबकि, "अधिष्ठानके यथार्थ ज्ञानसे अनिवर्त्य किन्तु उपाधिनाशसे निवर्त्य अलातचक्र या शंखपीतिमा जैसे भ्रमों"को औपाधिक भ्रम माना गया है. ऐसा विभाजन आधुनिक मनोविज्ञानमें इतने स्पष्ट शब्दोंमें नही पाया जाता. वैसे ही केशोण्ड्रक (Flying Gnats) कर्णकुहरान्तर्गुञ्जन (Humming sound in eardrum) जैसे निरधिष्ठानक भ्रमोंके बारेमें अपने यहां भी सांगोपांग विवेचना हो नहीं पायी, स्वाप्निक प्रतिभासके अपवादको छोड़ कर. आधुनिक मनोविज्ञानने, परन्तु, निरधिष्ठानक भ्रम (Hallucination) और साधिष्ठानक भ्रम (Illusion) के पार्थक्यके बारेमें स्वरूप, कारण और निवृत्त्युपाय के दृष्टिकोणसे पर्याप्त विवेचना की है. जे.पी.गिल्फॉर्डने पूर्वोदाहृत अपने सामान्यमनोविज्ञानमें इनके पार्थक्यको इन शब्दोंमें समझाया है *"इल्युजन कुछ न कुछ तो ऐन्द्रियक उद्दीपक आलम्बनके वश होता है जबकि हेल्युसिनेशन तो शतप्रतिशत कल्पनावश ही. वैसे यह सम्भव है कि यह भी किसी इन्द्रियको अपना आधार बना कर प्रकट हो"*[२९]. सी.टी.मॉर्गन इस प्रभेदको इन शब्दोंमें समझाते हैं

''भ्रान्तियां(साधिष्ठानक) इन्द्रियोंद्वारा अन्तर्निविष्ट सूचनाओंकी प्रात्यक्षिक आयोज-नरूपा होती हैं. भ्रान्ति(साधिष्ठानक) स्मृति आदि अन्यतम मानसिक क्रियाकलापोंके अलावा अन्य किसी भी बाह्य कारणसे अजन्य कभी नहीं होती, यों वह केवल अन्तर्निर्मित प्रत्यक्षानुभूतिरूपा भ्रान्ति(निरधिष्ठानक) नहीं होती''[३०]. एतद्विषयक भारतीय सन्दर्भोंमे कुछ कहना-सोचना हो तो भागवतपुराण (१०।७७।२५-२९)मे श्रीकृष्ण और शाल्व-सौभके युद्धमें बन्दीके रूपमें उपस्थापित वसुदेवके प्रतिभासका वर्णन या इस तरहकी अन्यभी इन्द्रजालविद्या (Rope-trick) निरधिष्ठानकभ्रान्तियां हो सकती हैं.

ख्यातिके विशिष्टज्ञान होनेकी अर्थात् बुद्धिकी विविध वृत्तियोंकी चर्चाके अन्तर्गत स्वप्नको विपर्याससे पृथक् एक ज्ञानके प्रकारतया प्रतिपादित करनेकी उपपत्ति महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने भी, अतएव, इन शब्दोंमें दी है '' 'स्वापः'=स्वप्नरूपो, भिन्नसृष्टिविषयत्वात् न पूर्वोक्तेषु अन्तर्भावः''[३१].

अतएव स्वप्न और विपर्यास अथवा निरधिष्ठानक और साधिष्ठानक, यों मूलमें भ्रमके दो प्रभेद मानने चाहिये. यह निरधिष्ठानकता आरोप्यमाणसादृश्योद्बोधक अधिष्ठानके अभिप्रायवश ही है. क्योंकि ब्रह्म भी अधिष्ठान न बन पाये तो ऐसी तो कोई अनुभूति ही शक्य नहीं. अतएव महाप्रभुने भगवत्क्रीड़ाके तीन प्रकार स्वीकारे हैं ''१.यः क्रीडति २.यो जगद् भूत्वा क्रीडति और ३.यतो जगत् क्रीडति''[३२]. इनमें तृतीय कोटिकी क्रीड़ाके बारेमें महाप्रभुका कहना है कि भगवान् इस प्रकारकी क्रीड़ामें निर्लिप्त रहते हैं. अर्थात् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म अपने सदंशसे इस प्रकारमें लिप्त नहीं होता. अतः वह अद्भुतकर्मा अपनी विशेषशक्तिद्वारा इस तरहकी क्रीड़ामें नाम-रूप-कर्मोंका केवल प्रतिभास ही उत्पन्न करता है. अर्थात् इस तरहके भ्रान्तिज्ञानमें ज्ञानका उपादान होनेके बावजूद ज्ञायमान विषयका वह उपादान नहीं बनता. अस्तु.

इसी तरह विपर्यासके पुनः निरुपाधिक तथा औपाधिक यों दो उपभेद और होते हैं. इनमें निरुपाधिक भ्रान्तिकी भारतीय विवेचनाके अनुसार यह कहा जा सकता है कि [१]अधिष्ठानवस्तुविषयक सामान्यज्ञान, [२]विशेषावभासमें प्रतिबन्ध, [३]अधिष्ठान-आरोप्यका सादृश्य, [४]आरोप्यमाण वस्तुविषयक पूर्वानुभव, [५]आरोप्यमाण वस्तुविषयक हानोपादानोपेक्षात्मिका वासना, [६]तज्जन्य हेयोपादेयोपेक्षात्मक संस्कारोद्दीपन आदि भ्रान्तिज्ञानकी कारणसामग्रीको उपाधि नहीं माना जाता. क्योंकि अधिष्ठानके तत्त्वज्ञान होते ही निरुपाधिक भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है. इसके अलावा बहुधा इस तरहकी कारणतासामग्री सर्वजनसाधारण न हो कर व्यक्तिविशेषके साथ ही रहती होती है. अतः भ्रान्तिके इस प्रकारको साधारण प्रकार नहीं माना जाता.

जैसे साधारण और असाधारण भ्रान्तिओंका पृथक्करण भारतीय चिन्तनमें सुविशद नहीं हो पाया, ऐसे ही साधिष्ठानक और निरधिष्ठानक भ्रान्तिओंके प्रभेदका भी सुविशद निरूपण हो नहीं पाया है. मुझे लगता है कि हेतु इसमें हमारी रुचि भ्रान्तिज्ञानके विषय और स्वरूप की विवेचना करनेकी अधिक बलवती रही बजाय कि भ्रान्तिज्ञानके कारणोंकी विवेचनाके.

वैसे यह तो सत्य है कि न्यायबिन्दुमें[३३] आचार्य धर्मकीर्तिप्रदत्त भ्रान्तिज्ञानके उदाहरणोंकी विवेचना करते हुवे आचार्य धर्मोत्तरने अपनी टीकामें भ्रान्तिज्ञानके हेतुओंके चार वर्ग दिखलाये हैं :

१.इन्द्रियगत
२.विषयगत
३.बाह्याश्रयगत
४.अध्यात्मगत.

यह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण पृथक्करण है परन्तु साथ ही साथ अतीव अपर्याप्त भी है. क्योंकि सर्वप्रथम तो इन्हें निरुपाधिक और औपाधिक होनेके प्रभेदमात्रसे द्विगुणित करनेपर चारके बजाय आठ संख्या मिल सकती थी, वैसे अवान्तर प्रभेद और भी अधिक इनके सोचे जा सकते हैं :

१.इन्द्रियगत हेतुके अन्तर्गत : क.स्वयं करणगत (उदाहरणतया चन्द्रद्वयकी भ्रान्ति) ख.व्यापारगत (उदाहरणतया केशोण्ड्रककी भ्रान्ति) और ग.सहकारिकारणगत (उदाहरणतया पर्याप्त और अल्प प्रकाशभेदवश वस्तुके वर्णोंमें भिन्नताकी भ्रान्ति). ये हेतु सहज ही सोचे जा सकते हैं.

२.इसी तरह विषयगत हेतुके अन्तर्गत : क.धर्मिनिष्ठ भ्रान्तिहेतुता (उदाहरणतया दूरस्थ नभःपिण्डोंके अल्पपरिमाण होनेकी भ्रान्ति) ख.स्वाभाविकधर्मनिष्ठ भ्रान्तिहेतुता (उदाहरणतया अतिसादृश्यवश होती अभेदकी भ्रान्ति) ग.आगन्तुकधर्मनिष्ठ भ्रान्तिहेतुता (उदाहरणतया आचार्य धर्मकीर्तिप्रदत्त अलातचक्रकी या उपरागवश सूर्य-चन्द्रमें कृष्णवर्ण होनेकी भ्रान्ति अथवा मालतीके शुष्क पुष्पको सूंघनेपर अन्धजनको अमालती होनेकी भ्रान्ति).

३.इसी तरह बाह्याश्रयके बारेमें भी यह कहा जा सकता है : क.भ्रान्तिज्ञानके विषयका बाह्याश्रय (उदाहरणतया एयरपॉर्टपर कन्वेअर बेल्टके चलनेपर सामानके चलनेकी अथवा बेक्प्रॉजेक्शनवश स्थिर कारके चलनेकी भ्रान्ति) ख.भ्रान्तिज्ञानके करणका बाह्याश्रय (उदाहरणतया त्र्यायामिक चलचित्रोंको देखनेमें प्रयुक्त सव्येतर रक्त और नील-हरित वर्णोंके उपनेत्रसे जन्य भ्रान्ति) ग.भ्रान्तिज्ञानके कर्ताका बाह्याश्रय (उदाहरणतया स्वयं धर्मकीर्तिद्वारा प्रदत्त नौकाके तेज चलनेपर तटस्थ स्थिर वृक्षोंके चलायमान होनेकी भ्रान्ति).

४.अध्यात्मगत कारणके बारेमें भी : क.सहज (उदाहरणतया साहजिक अज्ञानके दोषवश ब्रह्मानुभूति न होनेके कारण ब्रह्मके अत्यन्ताभावकी भ्रान्ति अथवा हमारे सौर परिवारकी अंशितया आकाशगंगाके दृष्टिगोचर न हो पानेकी भ्रान्ति) ख.आगन्तुक दोषवश (उदाहरणतया आचार्य धर्मकीर्तिप्रदत्त ज्वरादिसंनिपातवश होते ज्वलितस्तम्भादि विषयोंकी भ्रान्ति) ऐसे आध्यात्मिक दोषोंके प्रभेद भी सोचे जा सकते हैं.

इस तरह भ्रान्तिज्ञानकी कारणताके विचारके बाद अब थोड़ा-बहोत स्वरूप एवं वर्गों के विचारके साथ इस चर्चाका उपसंहार करना है.

[५]

भ्रान्तिज्ञानके बारेमें विविध मतोंका जैसा परिपूर्ण संकलन मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिककार श्रीलक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्यजीने किया है, वह वस्तुतः अन्यत्र दुर्लभ संकलन है. इसमें आत्मख्याति, असत्ख्याति, अन्यथाख्याति, अख्याति, सदसदनिर्वचनीयख्याति, सत्ख्याति, शून्यख्याति, निरधिष्ठानख्याति, अर्थसंसर्गजाकारख्याति और बाह्याकारार्पिताकारख्याति. इन दशविध ख्यातिवादोंमें अन्तर्भूत होती कुछ और भी प्रक्रियाओंका इस ग्रन्थरत्नमें निरूपण-संकलन उपलब्ध होता ही है. यह किसी भी जिज्ञासुके लिये वहींसे अध्येतव्य है. इस प्रबन्धमें उसका पुनरावर्तन आवश्यक नहीं लगता. यहां तो मुझे वाल्लभ वेदान्तमें ख्यातिके बारेमें जो निरूपण उपलब्ध होता है उसके व्याख्यानतया कुछ निरूपण अभिप्रेत है.

भागवतपुराणके तृतीयस्कन्धका छब्बीसवां अध्याय वाल्लभ वेदान्तकी ज्ञानमीमांसाका प्रमुख आकर स्थल है. यहां चित्त-अहंकार-मनो-बुद्धिके प्रादुर्भाव, स्वरूप, लक्षण एवं क्रियाकलापों की चर्चा मूलकारिकाओंके

अनुसार अपनी सुबोधिनी व्याख्यामें महाप्रभुने की है. अतः वहांके उन्तीस और तीसवें श्लोकमें महाप्रभुने संशय, निश्चय, स्मरण, स्वप्नरूपी ज्ञानके प्रभेदोंके साथ विपर्यासको भी बुद्धिवृत्तितया प्रतिपादित किया है. बुद्धिका स्वरूपलक्षण 'द्रव्यस्फुरणविज्ञान' कह कर दिया है. इसी तरह बुद्धिका कार्यलक्षण उसके 'इन्द्रियानुग्राहिका' होनेके रूपमें दिया है. तदनुसार बुद्धि अपनेद्वारा या स्वयं अपने भीतर बोध्य वस्तुको उत्पन्न नहीं करती परन्तु उत्पन्नानुत्पन्न(=आविर्भूत-अनाविर्भूत) सद्वस्तुके स्फुरण(=निर्विकल्पकानुभूति)को सविकल्पकानुभूतितया अर्थात् सामान्यतया ज्ञात वस्तुको विकल्पविशिष्टतया विज्ञापित करनेके रूपमें प्रकट होती है. यह बुद्धिका स्वरूपलक्षण है. कार्यलक्षण, परन्तु, इन्द्रियोंपर अनुग्रह करना है. अर्थात् जिन आंख या कान आदि इन्द्रियोंसे, जो दिखलायी या सुनायी दे रहा है, उन दिखलायी या सुनायी देती वस्तुओंको भलीभांति देख या सुन पाने आदिमें सहायता करना बुद्धिका इन्द्रियोंपर अनुग्रह है, इन्द्रियोंके ज्ञानेन्द्रिय होनेपर. बुद्धि इसी तरह किसी कर्मार्थ चेष्टा करती कर्मेन्द्रियोंको भी कर्म सम्पन्न करवा देनेमें भी सहायिका बनती है. यह जटिल उत्तरदायित्व बुद्धि अपनी संशय विपर्यास निश्चय स्मरण और स्वप्न रूपिणी पंचविध वृत्तिओंद्वारा सम्पन्न करती है.

अतएव किसी भी सजीव प्राणीके लिये इन पांचों वृत्तिओंमेंसे किसीभी एक वृत्तिकी उपयोगिता अन्य वृत्तिसे न्यून नहीं होती. प्रत्येक निश्चयके घटित होनेमें संशयकी कोई उपयोगिता अगर न होती तो वेदान्तविचारके अधिकरणके पांच अंगोंमेंसे प्रथमांग निर्विकल्पज्ञानस्थानीय विषयवाक्यके निर्देशके बाद द्वितीयांग संशयका कोई स्थान ही होना नहीं चाहिये था. इसी तरह द्वितीयांग संशय यदि पर्याप्त होता तो विपर्यासस्थानीय पूर्वपक्षको कभी तृतीयांगतया मान्य नहीं रखना चाहिये था. पूर्वपक्षका निरसन जिस चतुर्थांग उत्तरपक्षद्वारा होता है, वह यदि निश्चयाकारक न हो तो बात ही नहीं बन पाती है. अन्तिम अंग संगति भी विचार्यविषयके पूर्वोत्तरभावके विविध प्रकारोंके स्मरणके बिना

शक्य ही नहीं.

रही बात स्वप्नके निरालम्बन ज्ञान होनेकी और उसके ऐसे प्रचारकी जो योगाचारवादी बौद्धोंने जम कर किया. परन्तु स्वयं भगवान् बुद्धकी जननी मायादेवीको वह मान्य होगा कि नहीं यह विचारणीय लगता है! क्योंकि भदन्त अश्वघोष कहते हैं **"प्राग्गर्भधानाद् मनुजेन्द्रपत्नी सितं ददर्श द्विपराजम् एकं, स्वप्ने विशन्तं वपुः आत्मनः सा न तन्निमित्तं समवाप तापं, सा तस्य देवप्रतिमस्य देवी गर्भेण वंशश्रियम् उद्वहन्ती"** [३४]. अतः भगवान् बुद्धके गर्भप्रवेशके स्वप्नको निरालम्बन होनेसे सर्वथा अविश्वसनीय तो मायादेवी मानती नहीं होंगी और न अधिकांश बौद्धोंने ऐसा कभी माना! स्वयं उपनिषद्को भी आत्माके स्वयञ्ज्योतिष्ट्वका प्रतिपादन स्वाप्निक ज्ञानके बिना निरूपण करना सुहाता नहीं है **"अत्र अयं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिः भवति"** [३५]. इसी तरह स्वयं ब्रह्मसूत्रकार भी स्वाप्निक ज्ञानको श्रुतिके बलपर यथार्थका सूचक तो मानते ही है[३६]. अतः वेदान्त जैसे महनीय गम्भीर विचारक्षेत्रमें भी जब स्वाप्निक ज्ञानका इतना महत्त्व मान्य रखा गया हो तब साधारण जनोंके दैनन्दिन व्यवहारमें इनकी अपरिहार्य उपयोगिताका अस्वीकार कैसे सम्भव है?

एक और बात जो इस मोड़पर सावधानीके साथ समझ लेनी चाहिये वह यह है कि इन बुद्धिवृत्तियोंके असंकीर्ण स्वरूपके प्रतिपादनके आधारपर, अतएव, ऐसा सिद्ध नहीं हो पाता कि इन पंचविध वृत्तियोंके स्वरूपके अन्योन्यसंमिश्रणके वश अन्योन्यसंकीर्ण स्वरूप हो ही नहीं सकते.

यह तो सच है कि सम्प्रदायमें मान्य वाल्लभ वेदान्तके किसी भी पूर्वग्रन्थमें इसका निरूपण उपलब्ध नहीं होता परन्तु महाप्रभुकी मान्यताके विपरीत यदि यहां कुछ कहा जा रहा हो तो महाप्रभुसे इस अपराधकी क्षमायाचनाके साथ अन्यथा पूर्वाचार्यवचनसे अविरुद्ध

प्रतिपादन मान लेनेके दुःसाहसके साथ कुछ निरूपण मैं करना चाहूंगा.

उल्लिखित तृतीयस्कन्धसुबोधिनीमें उपलब्ध होती ज्ञानमीमांसाके आधारपर मुझे ऐसा लगता है कि सर्वप्रथम चैतन्यके दो प्रभेद स्वीकारने चाहिये : १.काल-कर्म-स्वभावरूपी शक्तियों और नाम-रूपोंके अनन्त वैविध्य की सम्भावनाओंको अपने भीतर समाहित रखनेवाला देश-काल-वस्तु-परिच्छेदरहित ब्राह्मिक समष्टिचैतन्य २.व्यष्टिचैतन्य कि जिसमें समष्टिकी अपरिच्छिन्न सामर्थ्यकी अंशरूपा सर्वविध या न्यूनाधिक सभी सामर्थ्य परिच्छिन्न परिमाणमें तिरोहित या आविर्भूत रहती हों.

इस धर्मिगत तथा धर्मगत अंशरूपा परिच्छिन्नताके कारण, इसमें बाह्याभ्यन्तरका प्रभेद खड़ा हो जाता है, जो समष्टिचेतनाके सन्दर्भमें सोचा नहीं जा सकता था. अतएव इस व्यष्टिचेतनामें ज्ञेय (भवति) और ज्ञान (अनुभवामि) का प्रभेद अपनेसे बाह्य और आन्तरिक घटनाओं या तथ्यों के रूपमें प्रतिभासित होता है. जहां बाह्याभ्यन्तर दोनोंमें संवाद लगता है, वहां प्रमात्मक ज्ञान होता है. जहां विसंवाद लगता है वहां अप्रमात्मक ज्ञानका अनुव्यवसाय होता है. व्यष्टिचेतनाकी आत्मानुभूति (अनुभवामि) भी निरुपाधिक प्रतीति न हो कर औपाधिक अर्थात् चित्त अहंकार मन और बुद्धि के उपकरणोंद्वारा ही सम्पन्न होनेवाली अनुभूति मानी गयी है. इसके अलावा इस व्यष्टिचेतनामें ज्ञेयानुभूति (भवति)के लिये केवल अन्तःकरण भी पर्याप्त नहीं होते अपितु बाह्य ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय भी बाह्य उपकरणतया अपेक्षित होते हैं. अतएव यहां **'द्रव्यस्फुरणविज्ञान'** और **'इन्द्रियानुग्रह'** स्वरूपलक्षण और कार्यलक्षण वाली बुद्धिका उपयोग अपेक्षित होता है. ये द्रव्यस्फुरणविज्ञान और इन्द्रियानुग्रह के रूपमें स्वरूपनिर्वाह और कार्यनिर्वाह बुद्धि अपनी संशय विपर्यय निश्चय स्मरण और स्वप्न रूपा पंचविध वृत्तिओंद्वारा सम्पन्न करती है.

अतः व्यष्टिचेतनाके बौद्धिक ज्ञानके सन्दर्भमें सर्वप्रथम : १.यथार्थानुभव २.याथार्थ्याननुभव ३.अयथार्थानुभव यों तीन प्रकार स्वीकारने चाहिये.

यथार्थानुभवके सुबोधिनीकारने तीन प्रकार दिखलाये हैं : १/क.प्रत्यक्ष १/ख.अनुमिति १/ग.शाब्द.

याथार्थ्याननुभवके चार प्रकार यों सोचे जा सकते हैं : २/क.निर्विकल्पक २/ख.अज्ञानके विविध प्रकार निद्रा-मौढ्यादि २/ग.संशय २/घ.स्मरण.

अयथार्थानुभव अर्थात् विपर्यासके मूलमें दो प्रकार : ३/क.साधिष्ठानक और ३/ख.निरधिष्ठानक. इनमें साधिष्ठानक विपर्यासके पुनः दो : ३/क/१.निरुपाधिक और ३/क/२.औपाधिक. इसी तरह निरधिष्ठानकके पुनः दो प्रकार : ३/ख/१.संमोहन ऐन्द्रजालिक रोग आघात आदिसे जन्य भ्रान्ति ३/ख/२.स्वाप्निकी भ्रान्ति.

इन त्रिविध ज्ञानोंके प्रकारोंके परस्परमिश्रणसे अन्य अनेकविध उपभेद प्रकट हो सकते हैं ऐसा मुझे प्रतीत होता है. तदनुसार निश्चयान्तर्गत प्रत्यक्ष अनुमिति शाब्द और अनिश्चयान्तर्गत स्मृति और स्वप्न इन पांचोंमें संशयाकारक विपर्यासाकारक निश्चयाकारक स्मरणाकारक और स्वप्नाकारक संकीर्ण ज्ञान सहज सम्भव लगते हैं.

१.संकीर्ण संशय :

(विपर्यासात्मक संशय)कुछ संशय विपर्यासाकारक हो सकते हैं, यथा, देवदत्तको देख कर ऐसा संशय होना कि "यह देवदत्त हो भी सकता और कदाचित् न भी हो!". (निश्चयात्मक संशय)इसी तरह कुछ संशय निश्चयान्तर्गत प्रत्यक्षाकारक होते हैं, उदाहरणतया, "अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा!" कुछ संशय अनुमित्याकारक हो सकते हैं, उदाहरणतया, "शब्दो नित्यो वा अनित्यो वा!" कुछ संशय शाब्दबोधाकारक भी हो सकते हैं, यथा, देवदत्तोक्त "नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति" और यज्ञदत्तोक्त

''नद्यास्तीरे पञ्च फलानि न सन्ति'' ऐसे दो वचनोंको सुननेपर शाब्दबोधात्मक संशय होता है कि नदीके तटपर पांच फल हैं कि नहीं! (स्मरणात्मक संशय)इसी तरह कुछ संशय स्मरणाकारक भी हो सकते हैं '''नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति' वचनं देवदत्तोक्तं यज्ञदत्तोक्तं वा!''.

२.संकीर्ण विपर्यास :

(संशयात्मक विपर्यास)इसी तरह शुक्तिके बारेमें ''इदं रजतं न वा!'' ज्ञान संशयात्मक विपर्यास है. (निश्चयात्मक विपर्यास)निश्चयात्मक विपर्यासके अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रत्यक्षात्मक विपर्यास ''इदं रजतम्''के रूपमें विख्यात ही है. हेत्वाभासोंके वश होती अनुमितिओंको अनुमित्यात्मक विपर्यास क्यों नहीं मानना? इसी तरह ''**तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**'' श्रुतिमें[३७] निरुपाधिक ब्रह्म विवक्षित है या मायोपाधिक ब्रह्म ऐसे प्रश्नके उठनेपर केवलाद्वैतवादी वेदान्तीको निरुपाधिक ब्रह्मका बोध शाब्दबोधात्मक विपर्यास लगेगा और शुद्धाद्वैतवादी वेदान्तीको सोपाधिक ब्रह्मका बोध शाब्दबोधात्मक विपर्यास लगेगा. अतः उसे शाब्दबोधात्मक विपर्यास क्यों नहीं मानना? (स्मरणात्मक विपर्यास)मेरे एक परिचित सज्जनको बहोत अरसेके बाद अकस्मात् मिलन होनेपर मैंने पूछा कि ''आपने मुझे पहचाना?'' तो वे बोले ''अरे आपको कैसे भूल सकता हूं आप दीक्षितजीके पुत्र उत्तमश्लोक हो!'' मैंने उन्हें याद दिलाया कि वह तो मेरा अनुज है. मेरा नाम तो 'श्याममनोहर' है तो बोले नाम चाहे जो कुछ हो, हो तो दीक्षितजीके पुत्र ही न! ठीक यही तो स्मरणात्मक विपर्यास हो गया!

३.संकीर्ण निश्चय :

(संशयात्मक निश्चय)संशयसंकीर्ण निश्चय बहुधा रज्जुके बारेमें यों होता है : ''**रज्जु अथवा सर्प दोमेंसे एक तो कुछ है ही**'' . (विपर्यासात्मक निश्चय)भ्रमसंकीर्ण निश्चयको बहुधा ''**गुरुमतं नतु गुरोः मतम्:**'' जैसे निन्दावचनोंद्वारा प्रकट किया जाता है. (स्मरणात्मक निश्चय)स्मृतिसंकीर्ण निश्चय

''**स्मर्यमाणन्तु इत्थमेव**'' जैसे वचनोंद्वारा प्रकट किया जाता है. (स्वप्नात्मक निश्चय)स्वप्नसंकीर्ण प्रत्यक्ष, यदि विद्वानोंको आपत्तिजनक न लगता हो तो, मैं आसक्तिभ्रमजन्य ''**सा सा सा सा जगति सकले कोऽयम् अद्वैतवादः!**'' जैसे दिवास्वप्नोंके उद्गारोंमें खोजना चाहूंगा.

४.संकीर्ण स्मरण :

(संशयात्मक स्मरण)संशयात्मक स्मरण ''**तत्र तदा देवदत्तः आसीद् यज्ञदत्तो वा?**'' किसे नहीं होता? (विपर्यासात्मक स्मरण)इसे ही देवदत्त होनेके याथार्थ्यके सन्दर्भमें ''**यज्ञदत्तएव आसीद्**'' वचनावलीमें प्रकट करनेपर स्पष्टतया पहचाना जा सकता है. (निश्चयात्मक स्मरण)उल्लिखित देवदत्तकी भूतकालीन विद्यमानताके सन्दर्भमें ''**देवदत्तएव आसीद्**'' वचनावलीद्वारा प्रकट होती बुद्धिवृत्तिको निश्चयाकारक स्मरणतया कैसे नहीं स्वीकारना?

५.संकीर्ण स्वाप :

(संशयात्मक स्वाप)संशयसंकीर्ण स्वाप्निक ज्ञान स्वप्नके अन्तर्गत होती संशयाकारिका बुद्धिवृत्तिके रूपमें अनेक लोगोंको होती ही है ऐसा पूछ कर देखा जा सकता है. (विपर्यासात्मक स्वाप)विपर्याससंकीर्ण स्वप्नका प्रमाण भी स्वप्नमें भी ''इदं रजतं-नेदं रजतम्'' रूप आरोप और अपवादात्मक ज्ञानके द्वारा बहुजनानुभूत तथ्य है. (निश्चयात्मक स्वाप)अर्थात् निश्चयसंकीर्ण स्वाप्निक ज्ञानके तो एक नहीं अनेकानेक उदाहरण विद्वानों वैज्ञानिकों कविओं चित्रकारों मूर्तिकारों एवं संगीतकारों के इतने सारे स्वानुभव उल्लिखित हैं कि उनकी तार्किक शाब्दिक वर्णाकृतिसम्बन्धित राग-तालादिकी जिन समस्याओंका समाधान जागते समय बुद्धि खोज न पायी उन्हें सोनेके बाद स्वप्नप्रदर्शनद्वारा बुद्धिने जता दिये. (स्मरणात्मक स्वाप)वैसे तो स्मृति और स्वप्न का परस्पर सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि ''**दृष्टः श्रुतोऽनुभूतश्च प्रार्थितः कल्पितस्तथा भाविको दोषजश्चैव स्वप्नः सप्तविधः स्मृतः**''[३८] प्रसिद्ध उक्तिके अनुसार सातमेंसे पांच प्रकारके स्वप्न तो स्मृतिकी तरह ही पूर्वानुभूत वस्तुविषयक संस्कारके उद्बुद्ध

होनेके कारण ही प्रकट होते हैं. स्मृतिके प्राकट्यमें परन्तु **"सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः"**[३९] उक्तिके अनुसार जाग्रत्कालीन सदृशदर्शन आदि हेतु बनते हैं जबकि स्वप्नमें तो पूर्वानुभूतवस्तुविषयिणी काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्यात्मिका असन्तुष्ट वासनायें ही बहुधा स्वप्नदर्शनार्थ जीवको उकसाती हैं. इस ऐसे स्वरूपके कारण नहीं प्रत्युत स्वयं स्वप्नमें स्वप्नान्तिक संशय निश्चय भ्रान्ति की ही तरह स्वप्नान्तिक स्मरण भी प्रकट होता ही है. इस अर्थमें स्मरणसंकीर्ण स्वप्नके वास्तविक स्वरूपको समझना चाहिये.

६.क्रियासंकीर्ण पंचविध बुद्धिवृत्तियां :

अन्तमें बुद्धिको, क्योंकि 'इन्द्रियानुग्राहिका' कहा गया है और इन्द्रिय केवल ज्ञानेन्द्रिय ही नहीं होती अपितु कर्मेन्द्रियां भी होती ही हैं. अतः बुद्धि अपनी इन पंचविध वृत्तिओंके द्वारा कर्मेन्द्रियोंपर भी अनुग्रह अननुग्रह या उपेक्षा भी करती होनेके कारण पद-वाक्योच्चारणादि वाक्कर्म, ग्रहण-त्यागादि करकर्म, गमनोपवेशनादि चरणकर्म आदि क्रियाओंके अनुष्ठानमें संशय विपर्यास निश्चय तथा स्मरण रूपा वृत्तियां प्रकट करती ही है. क्रियासंशय क्रियाविपर्यास क्रियानिश्चय तथा क्रियास्मरण भी कर्मेन्द्रियोंमें यथायथ प्रकट होते ही हैं.

[६]

उपसंहारमें पुनः यही कहना अभिप्रेत है कि ज्ञानानुषंगिक क्रिया ज्ञानतया ही ली जानी चाहिये और कर्मानुषंगिक ज्ञान कर्मतया. जैसे निश्चयानुषंगिक अज्ञान संशय विपर्यास और स्मरण वेदान्तकी अधिकरणात्मिका विचाररीतिमें निश्चयांग होनेसे निश्चयरूप होते हैं. एवमेव, उदाहरणतया, पर्वतपर धूलिपटलदर्शनमूलिका "पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसादिवत्" अनुमिति निश्चयात्मिका होनेपर भी भ्रान्त्यंगतया भ्रमात्मिका बन जाती है. जैसे अनुमित्यंगतया व्याप्तिस्मरण स्मृतिरूप न हो कर अनुभूतिरूप ही हो जाता है. अथवा जैसे लिखिताक्षर ध्वनि या शब्द रूप

न होनेपर भी ध्वन्यंगभूत या शब्दांगभूत प्रत्यक्षगोचर संकेत-चिन्ह होनेसे शाब्दबोधजनक हो जाते हैं. वही कथा बुद्धिकी भी अन्योन्यसंकीर्ण वृत्तियोंमें स्वीकार लेनी चाहिये. अतएव महाप्रभुका इस बारेमें यह एक अतीव मननीय उद्गार है : **"वस्तुतस्तु ब्रह्मज्ञाने तदितरज्ञानाभावोऽपि ज्ञानस्वरूपमेव!"**[४०].

निष्कर्षतया जो अनुभूति सर्वदृष्टसाधारण होनेपर भी तर्कतः उपपन्न न होती हो, साथ ही साथ ऐसी प्रतीतिका बाधज्ञान भी कभी होता न हो; और, मनोबुद्ध्यहंकारचित्तरहित उपकरणोंसे वैसे प्रतीयमान अर्थकी वैसे स्वरूपका प्रतिभासन भी होता हो, तो उसे औपाधिक भ्रम माननेके बजाय औपाधिक प्रत्यक्षतया मान्य करना चाहिये. इसके उदाहरणतया, नभोनैल्यके प्रतिभासको गिनाया जा सकता है. अन्यथा आणविक संरचना, न्यायस्थापित मानदण्डको अनुसरना हो तो, त्रसरेणुसे सूक्ष्मतर द्व्यणुक या परमाणु के अथवा आधुनिक विज्ञानकी परिभाषामें मॉलेक्यूल या एटमिक अथवा सबएटमिक स्ट्रक्चर के, इनमें कुछका प्रतिभासन तो तत्तद् विशेष उपकरणोंद्वारा सर्वथा शक्य हो ही गया है. उन उपकरणोंके साहाय्यके बिना किन्तु दर्शन-स्पर्शन आदि शक्य न होनेसे क्या उपकरणोपाधिक प्रतिभासनोंको भी भ्रम मान लेना? क्या ऐसे प्रतिभासोंको औपाधिक भ्रान्ति माननेवाला अपने एक्सरे या सोनोग्राफी आदि उपकरणोंसे शरीरके भीतर किसी विकट किन्तु शल्यचिकित्साद्वारा निराकरणीय विकृतिको भ्रान्ति मान लेनेका दुःसाहस अब कर सकता है? स्पष्ट है कि ऐसी स्थितिमें प्रतीयमान विषयके औपाधिक रूप, गुण, धर्म, आकृति, कर्म या सम्बन्ध आदिको, जब कोई मनोबुद्ध्यहंकारचित्तवान् प्राणी निरुपाधिक प्रतिभास मान ले, तब तो उसे 'औपाधिक भ्रान्ति' माननी चाहिये. इसके प्राचीन उदाहरणतया तेज बहती नौकामें बैठे व्यक्तिको नदीतटगत वृक्षोंके गतिशील होनेकी प्रतीति, शंखपीतिमाकी प्रतीति या केशोण्ड्रककी प्रतीति को यदि कोई दृष्टिविकारोपाधिक माननेके बजाय विलक्षण दृश्य वस्तु मान ले तो वह औपाधिक भ्रान्ति हो सकती

है. अन्यथा औपाधिक प्रत्यक्षकी विधाके रूपमें ही इन्हें मान्य करना चाहिये. और नहीं तो क्यों? यह गम्भीर विचार अब मांगता है.

१.ख्यातिवादके बारेमें काश्मीरप्रत्यभिज्ञादर्शनके अनुसार भ्रान्तिज्ञानके हेतु और स्वरूप यों निरूपित हुवे हैं : (हेतु)''द्विविधञ्च अज्ञानं बुद्धिगतं पौरुषं च. तत्र बुद्धिगतम् अनिश्चयस्वभावं विपरीतनिश्चयात्मकं च. पौरुषन्तु विकल्पस्वभावं सङ्कुचितप्रथात्मकम्. तदेवच मूलकारणं संसारस्य इति वक्ष्यामो मलनिर्णये''(श्रीमन्महेश्वराचार्य अभिनवगुप्तकृते तन्त्रसारे आह्नि.१-४). (स्वरूप)''ततो यावता पूर्णेन रूपेण प्रख्यातव्यम् विमर्शपर्यन्तं तावत् न प्रख्यातीति अपूर्णख्यातिरूपा अख्यातिरेव भ्रान्तितत्त्वम्. तद्वशेन हि असद्विपरीतानिर्वचनीवचनीयख्यातयोऽपि उच्यन्ताम्(विम.). 'यावता पूर्णेन रूपेण'=विमर्शपर्यन्तेन 'इदं रजतम्' इति, सत्यविमर्शपर्यन्तं विश्रान्तिपर्यन्तं 'प्रख्यातव्यं'=प्रकटीकरणीयम् आसीत् 'तावद् न प्रख्याति'=प्रकटीकरोति भ्रान्तिः...इति अपूर्णज्ञानरूपा नतु ख्यात्यभावरूपा 'अख्यातिः'=अज्ञानं... भ्रान्तिस्वरूपं भवति... अपूर्णख्यातिवशेन तैस्तैः वादिभिः 'असद्विपरीतानिर्वाच्यादिख्यातयोऽपि उच्यन्तां' का हानिः! अपूर्णज्ञानन्तु अत्र तावद् अस्ति शुक्तेः रजततया ग्रहणाद् इति भावः. 'आदि'शब्देन आत्मख्यातिग्रहणम्'.'(भास्क.)(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी तथा भास्करी.अधि.२।आह्नि.३।कारि.१३). यह हेतु और स्वरूप का निरूपण हुवा परन्तु भ्रान्तिभात विषयके स्वरूपकी जिज्ञासा हो तो श्रीअभिनवगुप्तका प्रस्तुत वचन अवधेय है ''किञ्च भ्रान्तौ असद् वा आत्माकारो वा प्रख्याति'.'(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी अधि.१।आह्नि.३।कारि.४) अतः विषयदृष्ट्या आत्मख्याति भी सम्भव लगती ही है.

२.न्यायकुमुदचन्द्रोदय (लघीयस्त्रयकारिका : १।३). यहां यद्यपि स्वयं मूलकार श्रीअकलंक या व्याख्याकार श्रीप्रभाचन्द्र ने 'चार्वाक'नामोल्लेखपूर्वक अख्यातिका विमर्श नहीं किया तथापि विद्वान् सम्पादकने अन्यान्य ग्रन्थोंकी एकवाक्यताके आधारपर इसे चार्वाकमतता सूचित किया है.

३.''तस्माद् विभक्तः आकारः सकलो वासनाबलाद् बहिः अर्थत्वरहितः ततो अनालम्बना मतिः. अतएव सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवद्...'' प्रज्ञाकरगुप्तकृत वार्तिकालंकार (३।३३० पृ.२२ राहुल सांकृत्यायनसंस्करण).

४.''आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा तथानिर्वचनख्यातिः इत्येतख्यातिपञ्चकं, योगाचारा माध्यामिकास्तथा मीमांसकाअपि नैयायिकाः मायिनश्च पञ्च ख्यातीः क्रमाद् जगुः''(भीमाचार्य झलकीकरविरचित न्यायकोश : 'ख्याति'/१).

५.शांकर वेदान्ताभिमत सर्वानर्थहेतुभूत अविद्याकी आवरण तथा विक्षेप शक्तिओंके विचारसे, अथवा वाल्लभ वेदान्ताभिमत व्यामोहिका मायाकी आच्छादिका और अन्यथाप्रतीतिहेतुभूता शक्तिओंके विचारसे भी प्रत्येक भ्रान्तिज्ञानसे नियतपूर्ववर्तिताके वश अधिष्ठानका अभान/अज्ञान और आरोप्यमाण विषयके अन्यथाभान/अन्यथाज्ञानरूप होनेके कारण अख्याति और अन्यथाख्याति सभी विचारकोंके भ्रान्तिकारणतया अथवा भ्रान्तिस्वरूपतया गलेपतित ही प्रतीत होती होनेसे! द्रष्टव्य : ''अख्यातौ वा अन्यथाख्यातौ विश्रमः सर्ववादिनाम्''(मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक=६०-

६१।२९५-३०६).

६.भगवद्गीता : २।१६.

७.गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणविरचित ख्यातिवाद(पृष्ठ : १२).

८.''तद्धेदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत असौनामायम् इदंरूपम्''(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।७)-''तस्य ह वा एवं पश्यतः एवं मन्वानस्य एवं विजानतः... आत्मतः आविर्भावतिरोभावौ'' (छान्दोग्योपनिषद् : ७।२६।१).

९.''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म. ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति...ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति...ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम्-अयम् आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्''(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।६।३).

१०.''हन्त तिरोऽसानीति सा गौः अभवत् ऋषभः इतरः... वडवा इतरा अश्ववृषः इतरः... तत् सर्वम् अभवत्. सो वेद अहं वाव सृष्टिः अस्मि अहं हि इदं सर्वम् असृक्षि इति ततः सृष्टिः अभवत्. सृष्ट्यां ह एतस्यां भवति य एवं वेद''(बृहदारण्यकोपनिषद् : १।४।४).

११.''एवञ्च निरुपाधिके रज्जुभुजङ्गादिभ्रमे चक्षुषा सद्रूपैव रज्जुः गृह्यते भुजङ्गस्तु बुद्धिकल्पितो बुद्ध्या विषयीक्रियते... औपाधिकभ्रमेतु चक्षुषा सद्रूपो घटो मिथ्याभूतो विषयतारूपो भ्रमणधर्मः च इति उभयं विषयीक्रियते. तदनन्तरं सदोषबुद्ध्या 'घटो भ्रमणवान्' इति स्थाप्यते'' (प्रमेयरत्नार्णव-ख्यातिविवेक), ''ततः चक्षुर्ग्राह्यत्वात् शुक्त्यादेः अन्यस्य रजतादेः ख्यातिः बुद्धिवृत्तिरूपा अन्यख्यातिः 'भ्रम'शब्दवाच्या. अन्यथाज्ञानन्तु संशयविपर्यासादिभ्यो भिन्नं मायिकं ज्ञानान्तरमेव नतु भ्रमः... अस्मिन् अन्यथाज्ञाने मायाजन्यधर्मयुक्तो विषयो भासते. 'घटो भ्राम्यति' 'सिता कट्वी' 'शङ्खः पीतः' इत्यादौ...''(निर्णयार्णव.४।६).

१२.द्रष्टव्य : प्रस्थानरत्नाकर (प्रमाणपरिच्छेद प्रथमकल्लोल चतुर्थतरङ्ग).

१३.महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यविरचित तत्त्वार्थदीपनिबन्ध(१।६९).

१४.''सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभएव च प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च''(भगवद्गीता : १४।१७), ''सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च''(भगवद्गीता : १५।१५).

१५.''भूमिरापो... मनो बुद्धिरेव च अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा'' (भगवद्गीता : ७।४),''सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति... इदं सर्वम् असृजत यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा... सत् च त्यत् च अभवत्... विज्ञानं च अविज्ञानं च'' (तैत्तिरीयोपनिषद् : २।६). ''माया च अविद्या च स्वयमेव भवति''(नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् : ९). ''ज्ञानमेकं पराचीनैः इन्द्रियैः ब्रह्म निर्गुणम् अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा''(भागवतपुराण : ३।३२।२८)की सुबोधिनी भी.

१६.''श्रिया... विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्'' (भागवतपुराण : १०।३९।५५). ''मन्मायामोहितधियः पुरुषाः...''(भागवतपुराण : ११।१४।९).

१७.''तद् आत्मानम् स्वयम् अकुरुत'' (तैत्तिरीयोपनिषद् : २।७), ''आत्मकृतेः परिणामाद्''(ब्रह्मसूत्र : १।४।२६) इनपर महाप्रभुकृत अणुभाष्य भी.

१८.द्रष्टव्य : श्रीलालूभट्टकृत ख्यातिविवेक (पृष्ठ : ८३) तथा प्रस्थानरत्नाकर (प्रमाणपरिच्छेद प्रथमकल्लोल द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ तरङ्ग).

१९.General Psychology(Chpt.9/Seeing Colors) by J.P.Guilford.

२०.भगवद्गीता(१८।२१), भागवतपुराण(११।२५।२४-११।२५।६).

२१.द्रष्टव्य : Introduction to Psychology by Clifford T. Morgan (Chpt.Perception/OrganiZation in Perception) and General Psychology by J.P.Guilford (Chpt.10 Seeing:Forms Space and Movement).

२२.द्रष्टव्य : Light And Vision by C.G.Mueller and Mae Rudolph (Chpt.3).

२३.तत्रैव(Chpt.2 p.38).

२४.तत्रैव(Chpt.2 p.39).

२५.A Brief History of Time(Chpt.5 p.74-79) by Stephen Hawking.

२६.द्रष्टव्य : Introduction To Psychology by C.T.Morgan (Chpt.10 p.293)

२७.मुण्डकोपनिषद्(२।२।११), छान्दोग्योपनिषद्(६।८।७—७।२५।१), बृहदारण्यकोपनिषद्(- १।४।१०), श्वेताश्वतरोपनिषद्(३।१५), महानारायणोपनिषद्(२३।१),

२८.General Psychology by J.P.Guilford(Chpt.10 p.253-256).

२९.ibid.(Chpt.13 p.320).

३०.Introduction To Psychology (Chpt.11.p.338).

३१.भागवतसुबोधिनी (३।२६।३०).

३२.तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (१।१).

३३.भदन्त धर्मकीर्तिकृत न्यायबिन्दुपर धर्मोत्तरी टीका (१।६).

३४.भदन्त अश्वघोषकृत बुद्धचरित (१।४-५).

३५.बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।१४).

३६.ब्रह्मसूत्र (३।२।४).

३७.छान्दोग्योपनिषद् (६।२।३).

३८.आयुर्वेदशास्त्रीय उक्ति आकरस्थल अनिर्ज्ञात.

३९.आकरस्थल अनिर्ज्ञात.

४०.भागवतसुबोधिनी (१०।२५।१३).

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य...सत्यं च परमार्थतः... २०८
(बोधिचर्यायां : ३६१)

